भारत में प्रादेशिकवाद
एक राजनीतिक भौगोलिक अध्ययन

(REGIONALISM IN INDIA : A STUDY IN POLITICAL GEOGRAPHY)
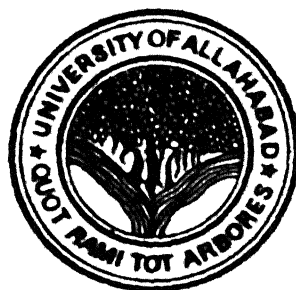
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
की
डी० फिल्० (भूगोल) उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक
डॉ० आर० सी० तिवारी
एम० ए०, डी० फिल्०
प्रोफेसर, भूगोल विभाग

प्रस्तुतकर्ता
आलोक मिश्र
भूगोल विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
2002

आभार

मै सर्वप्रथम श्रद्धेय गुरू प्रवर डॉ० रामचन्द्र तिवारी, प्रोफेसर, भूगोल विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद के प्रति श्रद्धावनत हूँ जिनके सफल एवं कुशल निर्देशन, पांडित्य, कर्मठ व्यक्तित्व एवं सक्रिय सहयोग के कारण ही यह शोध कार्य वर्तमान पूर्णता की स्थिति को प्राप्त कर सका। डॉ० तिवारी की कृपा-कोर-दृष्टि ने अपने अत्यन्त व्यस्त क्षणों मे भी इस शोध प्रबन्ध को नित्य नवीन उपागमो और विविध आयामों के माध्यम से नयी दिशा एवं प्रकाश देने का सतत प्रयास किया है। विभागाध्यक्ष प्रो० सविन्द्र सिंह का अन्तर्मन से आभारी हूँ जिन्होंने रचनात्मक प्रेरणा एवं शोध-कार्य हेतु विभागीय सुविधाये प्रदान की है।

विद्वत-वरेण्य प्रो० कुमकुम राय, भूगोल विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद ने वर्तमान शोध कार्य में अहेतुकी सहायता, स्पर्धात्मक एवं प्रतियोगितात्मक अनुसंधान हेतु सुझाव एवं स्फूर्ति दायक प्रेरणा प्रदान की है जिसके लिए मैं उनका ह्दय से आभारी हूँ। मैं डॉ० रुद्र प्रकाश श्रीवास्तव, पूर्व विभागाध्यक्ष, भूगोल विभाग, चौधरी महादेव प्रसाद महा-विद्यालय, इलाहाबाद का ह्दय से आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने शोध प्रबन्ध से संबधित विभिन्न समस्याओं के समाधान मे अपना योगदान किया है एवं इसमें संबधित काफी साहित्य उपलब्ध कराया है। प्रो० एच० एन० मिश्र, डॉ० भोलानाथ मिश्र, डा० मनोरमा सिन्हा, डॉ० आलोक दुबे, डॉ० ब्रह्मानंद सिंह, डॉ० शिव सागर ओझा, डॉ० सुधाकर त्रिपाठी, डॉ० वन्दना शुक्ला एव डॉ० महेन्द्र शंकर सिंह, डॉ० सन्तोष कुमार मिश्र भूगोल विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहावाद का भी आभारी हूँ जिन्होने शोधकाल में मेरा उत्साह संवर्धन किया तथा श्री प्रमोद कुमार उपाध्याय, श्री प्रदीप कुमार एवं श्री अनिल कुमार तिवारी, शोध छात्र भूगोल विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद का शुद्ध ह्दय से आभारी हूँ जिन्होंने अपने सक्रिय सहयोग से इसे पूर्ण कराने में अथक योगदान दिया है।

अपने परम पूज्यनीय अग्रज श्री मुकेश कुमार गौतम, पुलिस इन्सपेक्टर के लगन, कौशल निष्पादन की सतत प्रेरणा ने इस कार्य को पूर्ण कराने में अविस्मरणीय शक्ति प्रदान की। मैं अपने गुरुजनों श्री करोडी लाल एवं श्री रामबाबू मिश्र, मुख्य अध्यापक, प्राथमिक

विद्यालय महोई एवं श्री ओम प्रकाश कटियार, श्री सुभाष चन्द्र सक्सेना एवं श्री सतीश चन्द्र त्रिपाठी, श्री रमेश सिंह गहरवार, श्री रमेश चन्द्र मिश्र, भारतीय शिक्षा सदन इण्टर कॉलेज सिकन्दरपुर, कन्नौज, श्री सतीश चन्द्र त्रिपाठी, श्री अनिल कुमार दुबे, श्री वीर सिंह यादव, श्री हरिश्चन्द्र यादव, श्री सोबरन लाल यादव, श्री सुरेशचन्द्र दुबे एवं चाचा श्री वीरेन्द्र कुमार दुबे, सस्कृत प्रवक्ता, बाबा हरीपुरी इण्टर कालेज कसावा, कन्नौज को धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जिन्होने कठिन परिस्थितियों में मेरा उत्साह सम्बर्द्धन किया जिससे शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने मे प्रेरणा मिली।

श्री राहुल सिंह एवं श्री शशिकान्त, पुस्तकालयाध्यक्ष संसद भवन दिल्ली को विशेष रूप से धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने व्यक्तिगत रूप से शोध प्रबन्ध पूर्ण कराने के लिए सहयोग किया। पुस्तकालय इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद उत्तर प्रदेश, केन्द्रीय राज्य पुस्तकालय इलाहाबाद, पुस्तकालय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी के कर्मचारियों को उनके सहयोग एवं सहायता हेतु धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। अपने मित्रों मनोज कुमार यादव, राजेश कुमार यादव, ऋषि पाल सिंह, कृष्ण पाल सिंह, जयदीप शुक्ला, शेखर शुक्ला, पंकज कुमार सिंह, अतुल कुमार निरंजन 'पिन्टू', कमलेश कुमार यादव, नरेन्द्र कुमार, सौरभ कुमार मिश्रा 'नीरज' जितेन्द्र कुमार तिवारी, सतरुद्ध सिंह यादव, कु० पूनम कुशवाह, कु० मंजू सिंह, अखिलेश कुमार पाण्डेय, शैलेन्द्र तिवारी, दिनेश चन्द्र द्विवेदी, विजय कुमार मिश्रा, जितेन्द्र कुमार यादव, रवि, प्रबल प्रताप सिंह तोमर, राजकुमार जायसवाल 'काका' को धन्यवाद देते हुए अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ जिनके सहयोग एवं अनथक प्रयास से ही ऑकड़ो का एकत्रीकरण तथा लेखन आदि कार्य इतने अल्प समय में पूरा हो सका। मैं उन सभी विद्वानों एवं लेखकों के प्रति भी अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिनके शोध प्रबन्ध, निबन्धों, प्रपत्रों एवं पुस्तकों आदि का अनुशीलन करने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ तथा उन सभी के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिनसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मैं लाभान्वित हुआ हूँ।

मैं अपने स्वर्गीय पितामह प० रामकृष्ण मिश्र पुत्र स्वर्गीय पं० बलदेव प्रसाद मिश्र की स्वर्गीय आत्मा के प्रति नतमस्तक हूँ जिन्होने शैशवावास्था में ही मुझमें लगन एवं कर्म निष्ठ संस्कार का बीजारोपण किया।

मै अपने ताऊ श्री हरिश्चन्द्र मिश्र, बडे पिता श्री दामोदर प्रसाद मिश्र, पिता श्री आदित्य कुमार मिश्र एव माता श्रीमती मुन्नी देवी मिश्रा तथा चाचा श्री अशोक कुमार मिश्र, भाई डा० प्रभात कुमार मिश्र एवं भाभी श्रीमती प्रतिभा मिश्रा, बहन सुषमा का विशेष रूप से स्नेहसिक्त हूँ, जिन्होंने शोध कार्य के समय मुझे पारिवारिक उत्तरदायित्वों से मुक्त रखा एव शोध कार्य हेतु सदैव उत्साहवर्द्धन एवं सहयोग प्रदान किया। प्रस्तुत शोध कार्य उन्हीं के आशीर्वाद और प्रेरणा, स्नेह का प्रतिफल है। मैं अपनी भाभियो श्रीमती मीना, अनुपमा, ममता एवं नीतू के प्रति श्रद्धावनत हूँ जिनके पवित्र आशीर्वाद से शोध कार्य में सफलता मिली।

मैं अपने भाइयों श्री उत्तम चन्द्र मिश्र, ध्रुव चन्द्र, ध्यान चन्द्र, शरद चन्द्र, गौरव, प्रदीप एवं दिलीप एवं भतीजे अनुज, अमरदीप 'टिक्कू', श्याम बाबू मिश्र, स्वदेश एवं श्रीमती नीलू मिश्रा के प्रति भी स्नेहिल भावना व्यक्त करता हूँ जिन्होने वर्तमान शोध कार्य की सफलता मे अपना परोक्ष योगदान दिया है।

परम आदरणीय पं० लक्ष्मीकान्त बाजपेयी, श्रीमती मनोरमा, श्री गिरिजेश कुमार, श्रीमती रेनू , नीरज बाजपेयी, श्रीमती सीमा मिश्रा, श्री रामचन्द्र मिश्र, श्री रमेश चन्द्र मिश्र, डॉ० ओउम् प्रकाश शुक्ला, श्री राकेश शुक्ला (जगम्मनपुर, कानपुर देहात), श्री मदन मोहन त्रिवेदी (इटावा), श्री व्यास कुमार, श्री आनन्द कुमार, श्री अश्वनी कुमार 'चुन्नू', श्री यज्ञ कुमार 'खलीफा' के स्नेहिल आशीर्वाद ने सदैव प्रगति-पथ पर बढ़ने के लिए प्रेरित किया।

मैं श्रीमती रत्न प्रभा 'मुन्नी बुआ', श्री रामबाबू द्विवेदी के प्रति हार्दिक आभार ज्ञापित करता हूँ, जिन्होने शोध कार्य के दौरान समय-समय पर अपने उदात्त विचारों द्वारा मेरा उत्साहवर्द्धन एवं निराशा के समय में ढांढस बँधाया है।

मैं अन्त में टंकणकर्त्ता श्री चन्द्र शेखर सिंह को शीघ्रतिशीघ्र एवं त्रुटिरहित टंकण हेतु सधन्यवाद देता हूँ। जिनके अनथक प्रयास से यह कार्य समय से पूरा हो सका।

आलोक मिश्र

दिनांक : **16-12-2002** **आलोक मिश्र**

अनुक्रमणिका

	पृष्ठ संख्या
प्रस्तावना	1–20
ऐतिहासिक पुनरावलोकन	
भारतीय संघ का अभ्युदय	
सम्बन्धित साहित्य की समीक्षा	
वर्तमान अध्ययन की वस्तुनिष्ठता	
उपागम	
संकल्पनाएँ	
अध्ययन विधि	
साक्ष्य संग्रह	
आँकड़ों का विश्लेषण एवं निर्वचन	
अध्याय (1) प्रादेशिकवाद की अवधारणा	21–37
1.1 प्रादेशिकवाद की विशेषतायें	
1.2 प्रादेशिकवाद में उतार-चढ़ाव	
1.3 प्रादेशिकवाद की अभिव्यक्ति	
1.3.1 उपरि.राज्य स्तरीय प्रादेशिकवाद	
1.3.2 अन्तर्राज्यीय प्रादेशिकवाद	
1.3.3 अन्तरा.राज्यीय प्रादेशिकवाद	
1.4 प्रादेशिकवाद के तत्व	
1.4.1 भू सांस्कृतिक	
1.4.1.1 भौगोलिक सीमायें	
1.4.1.1.1 प्राचीन भौगोलिक सीमायें	
1.4.1.1.2 नयी सीमायें	
1.4.1.1.3 भावी सीमायें	
1.4.1.2 जाति	
1.4.1.3 धर्म	
1.4.1.4 भाषा	

1.4.1.5 इतिहास

1.4.1.6 प्रवासी वनाम भूमिपुत्र

1.4.2 राजनीतिक कारक

1.4.3 आर्थिक व तकनीकी कारक

1.4.4 मनोवैज्ञानिक कारक

1.5 प्रादेशिकवाद का राजनीतिक स्वरूप

1.6 राजनीति में प्रादेशिकवाद का प्रयोग

अध्याय (2) प्रादेशिकवाद की उत्पत्ति के कारक 38–56

2.1 राजनीतिक कारक

2.2 आर्थिक कारक

2.3 सामाजिक कारक

2.4 भाषायी कारक

2.5 धार्मिक एवं साम्प्रदायिक कारक

2.6 भौगोलिक कारक

2.7 सांस्कृतिक कारक

अध्याय (3) भारत में प्रादेशिकवाद की ऐतिहासिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि 57–87

3.1 प्राचीन काल

3.1.1 वैदिक काल

3.1.2 बौद्ध काल

3.1.3 गुप्त काल

3.1.4 राजपूत काल

3.2 मध्य काल

3.2.1 मुगल काल

3.3 आधुनिक काल

3.3.1 मराठा काल

3.3.2 ब्रिटिश काल

3.3.3 स्वतन्त्रता काल

3.3.4 राज्यों का पुनर्गठन

अध्याय (4) प्रादेशिकवाद के प्रकार 88–108

4.1 क्षेत्रीय आकार

4.1.1 स्तरीय प्रादेशिकवाद

4.1.2 प्रान्त स्तरीय प्रादेशिकवाद

4.1.3 स्थानीय प्रादेशिकवाद

4.2 विशिष्ट विशेषताओं के आधार पर प्रादेशिकवाद

4.2.1 भाषाई प्रादेशिकवाद

4.2.2 आर्थिक प्रादेशिकवाद

4.2.3 सामाजिक प्रादेशिकवाद

4.2.4 राजनीतिक प्रादेशिकवाद

अध्याय (5) प्रादेशिकवाद का स्थानिक प्रतिरूप 109–158

5.1 भारतीय संघ से अलग होने की माँग

5.1.1 जम्मू.कश्मीर

5.1.2 खालिस्तान

5.1.3 द्रविड़नाड की माँग

5.1.4 मिजोरम की माँग

5.1.5 नागालैण्ड की माँग

5.1.6 त्रिपुरा की माँग

5.1.7 असम

5.2 पृथक राज्य का दर्जा दिये जाने की माँग

5.2.1 गुजरात और महाराष्ट्र का गठन

5.2.2 पंजाब राज्य का गठन

5.2.3 मेघालय का गठन

5.2.4 छत्तीसगढ़ का गठन

5.2.5 उत्तरांचल का गठन

5.2.6 झारखण्ड का गठन

5.2.7 विदर्भ राज्य की माँग

5.2.8 तेलंगाना राज्य की माँग

5.2.9 गोरखालैण्ड की माँग

5.2.10 बोडोलैण्ड की माँग

5.2.11 बुन्देलखण्ड की माँग

5.2.12 अन्य विभिन्न राज्यों के लिए माँगें

5.3 अन्तर्राज्यीय विवाद

5.3.1 चण्डीगढ़ का प्रश्न

5.3.2 मैसूर–महाराष्ट्र सीमा विवाद

5.3.3 नदी–जल बँटवारा सम्बन्धी विवाद

अध्याय (6) प्रादेशिकवाद वनाम राष्ट्रवाद 159–195

6.1 राष्ट्रीय एकीकरण का अर्थ

6.2 राष्ट्रीय एकीकरण की समस्यायें

6.2.1 अल्पसंख्यक समूहों के बीच एकता

6.2.2 धार्मिक एकता की समस्या

6.2.3 उत्तर तथा दक्षिण भारत की एकता

6.3 राष्ट्रीयता के तत्व

6.3.1 धार्मिक एकता

6.3.2 भाषाई एकता

6.3.3 सामाजिक एकता

6.3.4 सांस्कृतिक एकता

6.3.5 प्रजातीय एकता

6.3.6 राजनीतिक एकता

6.4 भारत की राष्ट्रीय एकता में बाधक तत्व

6.4.1 साम्प्रदायिकता

6.4.2 भाषा विवाद

6.4.3 जातिवाद

6.4.4 प्रादेशिकवाद

6.4.5 आर्थिक विषमतायें

6.4.6 दूषित राजनीति

6.4.7 दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली

6.4.8 विदेशी कूटनीति

6.4.9 युवा पीढ़ी में निराशा

6.5 राष्ट्रीय एकीकरण के उपाय

6.5.1 विद्वेषपूर्ण प्रचार पर नियंत्रण

6.5.2 शिक्षा में सुधार

6.5.3 राष्ट्रीय भाषा

6.5.4 अल्पसंख्यकों का संरक्षण

6.5.5 साम्प्रदायिक संगठनों पर नियन्त्रण

6.5.6 आर्थिक न्याय की स्थापना

6.5.7 नैतिक शिक्षा को प्रोत्साहन

6.6 राष्ट्रीय एकीकरण के लिए किये गये प्रयास

6.6.1 राष्ट्रीय एकीकरण महासम्मेलन

6.6.2 राष्ट्रीय एकता समिति का गठन

6.6.3 राष्ट्रीय एकीकरण सम्मलेन 1968

6.6.4 राष्ट्रीय एकीकरण के लिए गठित और आयोजित अन्य संगठन एवं आयोजन

अध्याय (7) प्रादेशिकवाद से संबद्ध अन्य समस्यायें 196–220

7.1 आतंकवाद

7.2 नक्सलवाद

7.3 पृथकतावादी आन्दोलन

7.4 शरणार्थी एवं गैर कानूनी घुसपैठ

7.5 छद्‌म राजनीति

7.6 कृषक आन्दोलन

7.7 मजदूर आन्दोलन

अध्याय (8) परामर्श एवं समाधान 221–238

8.1 प्रादेशिकवाद पर नियन्त्रण हेतु सुझाव

8.2 प्रादेशिकवाद की समस्या हेतु समाधान

8.3 छोटे राज्यों का औचित्य

8.4 क्षेत्रीय दलों का प्रादुर्भाव

सारांश एवं निष्कर्ष 239–250

मानचित्रों की सूची

चित्र संख्या	शीर्षक	पृष्ठ संख्या
1.1	भारत : संभावित राजनीतिक प्रारूप	30 A
2.1	भारत : भाषायी प्रारूप	50 A
3.1	भारत : महाकाव्य काल	59 A
3.2	भारत : सोलह महाजनपद 600 ई. पू.	62 A
3.3	भारत : चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य 298 ई. पू.	63 A
3.4	भारत : कुषाण साम्राज्य	66 A
3.5	भारत : गुप्त साम्राज्य 400 ई.	68 A
3.6	भारत : राजनीतिक स्थिति 1525 ई.	74 A
3.7	भारत : अकबर का साम्राज्य 1605 ई.	75 A
3.8	भारत : मुगल साम्राज्य 1739 ई.	76 A
3.9	भारत : ब्रिटिश साम्राज्य 1856 ई.	78 A
	A सिकन्दर की योजना	
	B ईट्स की योजना	
	C मुखर्जी की योजना	
	D भथेजा की योजना	
3.11	भारत : पुनर्गठित 1 नवम्बर, 1956 ई.	80 A

3.12	भारत : प्रशासकीय इकाइयाँ 15 नवम्बर, 2002 ई.	84 A
4.1	भारत : भाषायी प्रारूप 1991 ई.	93 A
4.2	भारत : हिन्दी भाषा विरोधी आन्दोलन	99 A
5.1	जम्मू और कश्मीर : प्रशासकीय इकाइयाँ	118 A
5.2	भारत : द्रविड़नाड	125 A
5.3	छत्तीसगढ़ : प्रशासकीय इकाइयाँ	138 A
5.4	उत्तरांचल : प्रशासकीय इकाइयाँ	140 A
5.5	झारखण्ड : प्रशासकीय इकाइयाँ	145 A
5.6	बुन्देलखण्ड : प्रशासकीय इकाइयाँ	151 A
6.1	भारत : धार्मिक प्रारूप 1991	166 A
7.1	भारत : आतंकवाद प्रभावित राज्य	200 A
7.2	भारत : नक्सलवादी आन्दोलन	203 A
7.3	भारत : पृथकतावादी आन्दोलन	204 A
7.4	भारत : बांग्लादेशी घुसपैठियों से प्रभावित क्षेत्र	206 A

सारणियों की सूची

3.I	भारत के राज्य (1 नवम्बर, 1956 ई.)	81
3.II	भारत : राज्यों के संघ शासित प्रदेशों का क्षेत्रफल (15 नवम्बर, 2000 ई.)	84–85

प्रस्तावना

ऐतिहासिक पुनरावलोकन

यदि हम प्राचीन भारतीय इतिहास का अध्ययन करें तो पाते हैं कि बुद्ध के समय (ईसा पूर्व छठी सदी) भारत में 16 बड़े–बड़े राज्य थे जो महाजनपद कहलाते थे। इनमें अधिकतर राज्य विन्ध्य के उत्तर में थे और पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त से बिहार तक फैले हुए थे। इनमें मगध, कोसल, वत्स और अवन्ति ये चार अधिक शक्तिशाली थे। पूरब से शुरू करने पर पहले अंग जनपद था जिसे अन्ततोगत्वा पड़ोस के शक्तिशाली मगध राज्य ने अपने में मिला लिया (शर्मा, 1995, पृष्ठ 106)।

धीरे–धीरे मगध साम्राज्य और अधिक शक्तिशाली होता गया। मगध के सम्राट बिम्बसार ने अंग देश पर अधिकार कर लिया। कालान्तर में मगध साम्राज्य ने काशी, कोसल, वत्स और अवन्ति को भी अपने में मिला लिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि छोटे और कमजोर राज्य बड़े राज्यों की तुलना में अपेक्षाकृत कम स्थायी रहे हैं। यही कारण था कि सिकन्दर (326 ईसा पूर्व) जब विश्व विजय के लिये यूनान से निकला तो पश्चिमोत्तर भारत की राजनीतिक स्थिति उसकी विश्व विजय की योजना के लिए अधिक उपयुक्त मिली। यह क्षेत्र अनेक राजतन्त्रों तथा कबायली गणराज्यों में बंटा हुआ था, जो अपनी–अपनी भूमि से चिपके हुए थे और जिन रजवाड़ों पर उनका शासन था उनसे उन्हें बड़ा गहरा प्रेम था। सिकन्दर ने पाया कि इन रजवाड़ों को एक–एक कर जीत लेना आसान है। इन इलाकों के शासकों में दो प्रमुख थे : पहला तक्षशिला का राजा आम्भि, दूसरा पोरस, जिसका राज्य झेलम और चिनाब नदियों के बीच के क्षेत्र में फैला हुआ था। दोनों एक साथ मिलकर सिकन्दर को आगे बढ़ने से रोक सकते थे। परन्तु अपनी आपसी शत्रुता के कारण वे दोनों एक संयुक्त मोर्चा नहीं बना सके और अन्ततः दोनों ने एक–एक करके सिकन्दर के सामने घुटने टेक दिये। सिकन्दर पूर्व की ओर और भी बढ़ना चाहता था किन्तु उसकी सेना ने उसका साथ देने से इनकार कर दिया जिसका प्रमुख कारण शक्तिशाली मगध साम्राज्य का होना था। इस प्रकार

स्पष्ट है कि भौगोलिक दृष्टि से बड़े तथा शक्तिशाली साम्राज्य पर कोई भी शासक व उसकी सेना जल्दी आक्रमण नहीं कर पाते थे (शर्मा, 1995, पृष्ठ 114–115)।

323 ई० पू० में चन्द्रगुप्त मौर्य मगध का शासक बना। उसके विशाल साम्राज्य में बिहार, उड़ीसा और बंगाल के बड़े भागों के अतिरिक्त पश्चिमी और उत्तर–पश्चिमी भारत और दकन भी सम्मिलित थे। फलतः मौर्यों का शासन, केवल तमिलनाडु तथा पूर्वोत्तर भारत के कुछ भागों को छोड़कर समूचे भारतीय उपमहाद्वीप पर फैला था। चन्द्रगुप्त मौर्य ने पश्चिमोत्तर भारत को सेल्यूकस की गुलामी से मुक्त कराया जो सिन्धु नदी के पश्चिम में राज करता था। उसने सेल्यूकस को पूर्वी अफगानिस्तान, बलूचिस्तान और सिन्धु नदी के पश्चिम के क्षेत्रों को मौर्य साम्राज्य को देने के लिए बाध्य कर दिया। अशोक (273–232 ईसा पूर्व) के साम्राज्य पर कोई भी विदेशी या देशी आक्रान्ता आक्रमण करने का साहस नहीं कर सका जिसका प्रमुख एकमात्र कारण यही था कि उसका साम्राज्य एक सुदृढ़ तथा बड़ा साम्राज्य था। मौर्य साम्राज्य के विघटन के बाद, दो बड़ी राजनीतिक शक्तियाँ उभरीं : सातवाहन और कुषाण। सातवाहनों ने दकन और दक्षिणी भारत में स्थायित्व लाने का काम किया। यही काम कुषाणों ने उत्तरी भारत में किया। इन दोनों साम्राज्यों का ईसा की तीसरी सदी के मध्य में अन्त हो गया। कुषाण साम्राज्य के खण्डहर पर गुप्त साम्राज्य का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने अपना आधिपत्य कुषाण और सातवाहन दोनों के राज्य क्षेत्रों के एक बहुत बड़े भाग पर स्थापित किया। गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग माना जाता है। ईसा की तीसरी सदी के अन्त में गुप्त वंश का आरम्भिक राज्य उत्तर प्रदेश और बिहार के क्षेत्र में सीमित था। परन्तु धीरे–धीरे यह एक भारतव्यापी बड़ा एवं शक्तिशाली साम्राज्य बन गया। युद्ध के कारण छठी सदी के आरम्भ में गुप्त साम्राज्य पुनः एक छोटा राज्य हो गया और सामन्तों के विद्रोह ने इस साम्राज्य को और भी दुर्बल बना दिया। गुप्त सम्राटों की ओर से उत्तरी बंगाल में नियुक्त शासनाध्यक्ष (गवर्नर) और दक्षिण–पूर्व बंगाल के सामन्तों ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। मगध के परवर्ती गुप्त शासकों ने अपनी शक्ति बिहार में जमाई। इस प्रकार धीरे–धीरे गुप्त साम्राज्य पराभव को प्राप्त हो गया। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद उत्तर भारत फिर अनेक छोटे–छोटे राज्यों में बँट गया। इस दौरान हूणों ने लगभग 500 ई० में कश्मीर, पंजाब और पश्चिमी भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उत्तरी

और पश्चिमी भारत लगभग आधे दर्जन सामन्तों के हाथ में चला गया, जिन्होंने गुप्त साम्राज्य को आपस में बॉट लिया था। इनमें से एक सामन्त ने, जो हरियाणा स्थित थानेसर का शासक था, धीरे–धीरे अपनी प्रभुता अन्य सभी सामन्तों पर कायम कर ली। यह शासक था हर्षवर्धन (606–647 ई०)। धीरे–धीरे वह देश के एक काफी बड़े भाग को राजनीतिक एकता के सूत्र में बॉधने में सफल हुआ। इस दौरान व्यापार में गिरावट के कारण मुद्रा दुर्लभ होती गयी, जिसके कारण राज्य को समर्पित विशेष सेवाओं के लिए पुरोहितों, मन्त्रियों, अधिकारियों तथा सेना को मुद्रा की जगह जागीरें दी जाने लगीं। इससे सामन्ती व्यवस्था की शुरूआत हुई और अन्ततः साम्राज्य छोटे–छोटे टुकड़ों में विभक्त होकर नष्ट हो गया (शर्मा, 1995, पृष्ठ 127–195)। राजा द्वारा दिया गया राजस्व का भार (जिसे भोग या जागीर कहा जाता था), जो एक शासक अपने अधिकारियों या समर्थकों को प्रदान करता था, सिद्धान्त रूप से अस्थायी होता था और राजा उन्हें जब चाहे वापस ले सकता था। सामयिक धारणा के अनुसार एक पराजित राजा को भी उसकी भूमि से वंचित करना पाप समझा जाता था। परिणामस्वरूप इस काल के राज्यों के विशाल क्षेत्रों पर पराजित और अधीनस्थ राजाओं का प्रभुत्व था जो निरन्तर अपनी स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त करने की ताक में लगे रहते थे। भारतीय राज्यों की आन्तरिक निर्बलता बाद में चलकर तुर्कों के साथ संघर्ष के समय कष्टदायक हो गयी।

भारत की सद्भावपूर्ण संघीय राज्य व्यवस्था उसके प्रदेशों की समरूप सामाजिक–सांस्कृतिक विरासत की मजबूत नींव पर निर्मित की जा सकती है। वस्तुतः भारत के प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास से स्पष्ट होता है कि इसका संघीय अस्तित्व सदियों से विद्यमान रहा है और अनेक दूरदर्शी राजाओं द्वारा भी सामाजिक–सांस्कृतिक भूभागीय इकाइयाँ मान्य रही हैं। ब्रिटिश उपनिवेशी शासन हमारी संघीय राज्य व्यवस्था की पूर्ण परम्परा के लिये सर्वाधिक विनाशकारी साबित हुआ। उसने हमारी राज्य व्यवस्था के सामाजिक–सांस्कृतिक इकाइयों का कुछ मामले में तो पूरा विनाश ही कर दिया और अधिकांश महत्वपूर्ण इकाइयों को तोड़–मरोड़कर विकृत बना दिया। अतः ब्रिटिश शासन ने भारत के स्वाभाविक विकास से एक प्रामाणिक संघीय राज्य व्यवस्था की निर्माण प्रक्रिया को विघटित कर दिया।

हम भारत के पूर्व भूभागीय इकाइयों के निर्धारण के सम्बन्ध में प्राचीन कालीन और मध्यकालीन दो महत्वपूर्ण सूचनार्थ दस्तावेजों से संघीय राज्य व्यवस्था में भारतीय प्रादेशिकता की विचारधारा को समझ सकते हैं। इनमें से एक दस्तावेज पुराण मुख्यतः *वायुपुराण* प्राचीनकालीन भारत से सम्बन्धित है तथा दूसरा दस्तावेज अबुल फजल द्वारा रचित *'आइने–अकबरी'* है। पुराण भारतवर्ष के जनपदों के बारे में विवरण देते हैं। पुराणों में जिन जनपदों या प्रादेशिकता के अनुसार निर्धारित जन समुदायों का विवरण मिलता है, वे जनपद, जातीय, बोली, सामाजिक रीतिरिवाज, भौगोलिक स्थान और राजनीतिक स्थिति पर आधारित थे। *वायुपुराण* में भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति का विस्तृत विवरण मिलता है। इसके अनुसार भारत के 'सात' प्रमुख क्षेत्रों में 165 जनपद थे। अबुल फजल के *आइने –अकबरी* (सम्राट जहाँगीर के संस्मरण) से यह स्पष्ट होता है कि किस आधार पर मुगल सूबों (प्रान्तों) का गठन किया गया था। *आइने–अकबरी* में स्पष्ट विवरण मिलता है कि मुगलकालीन प्रान्तों का सीमा निर्धारण भाषायी और सामाजिक–सांस्कृतिक सजातीयता के आधार पर किया गया था। अपने संस्मरण में जहाँगीर ने कहा है कि उसके पिता सम्राट अकबर उन तथ्यों के प्रति सचेत रहते थे जिससे प्रान्त देश के भाषायी और सांस्कृतिक क्षेत्र के अनुरूप गठित किया जा सके। मुगल साम्राज्य के पतन के साथ ही केन्द्रीय प्राधिकरण के विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया, जो कि मुगल साम्राज्य में ही निर्धारित की गयी थी, प्रतिकूल हो गयी। इसमें सामाजिक–सांस्कृतिक तत्व कमोवेश गौण होते गये। जो कुछ बचा था वह भी ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आधिपत्य के साथ पूर्णतः समाप्त हो गया। भारत का मानचित्र पूरी तरह बदल गया। ब्रिटिश उपनिवेशी शक्ति ने स्थानीय सामन्तों और छोटे–छोटे राजाओं को बढ़ावा देकर देश में 566 देशी रियासतों का निर्माण किया। जैसा कि हम जानते हैं, ब्रिटिश प्रान्तों का निर्माण राजनीतिक रणनीति और समझ के आधार पर साम्राज्यवादी विस्तार के उद्देश्य से देश पर कब्जा बनाये रखने की एक प्रक्रिया के तहत किया गया था, न कि किसी तर्क संगत सामाजिक–सांस्कृतिक या आर्थिक आधार पर। यह स्मरण रखना जरूरी है कि सन् 1947 में जिस भारतीय राज व्यवस्था की अधिरचना हमें विरासत में मिली थी वह एक विदेशी साम्राज्यवादी शक्ति द्वारा अस्त–व्यस्त पच्चीकारी के रूप में थी। उसमें प्रादेशिक संगठन का संरचनात्मक आधार अप्रमाणिक और असंगत था।

भारतीय संघ का अभ्युदय

राष्ट्रीय एकता की एक प्रमुख समस्या संघीय राज्य व्यवस्था को व्यावहारिक रूप से क्रियान्वित करने मे स्पष्ट रूप से विभाजित क्षेत्रों के एकीकरण ,से सम्बन्धित है (आज इनमें से अधिकांश क्षेत्रो का राज्य के रूप में गठन किया गया है)। भारत के क्षेत्र और उप–क्षेत्र स्पष्टतया सामाजिक और सांस्कृतिक पक्षों पर आधारित हैं अतः हमें उनके स्वरूप और उनकी समस्याओं को समझना चाहिए। यदि किसी भी प्रणाली की कल्पना की जाये तो भारत जैसे विस्तृत क्षेत्र वाले देश में प्रादेशिकवाद और उपप्रदेशवाद से बढ़कर अधिक बुनियादी कोई अन्य विचार नहीं हो सकता है किन्तु एक बार जब संघीय राष्ट्र/राज्य अस्तित्व में आता है तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता एक यथार्थ रूप ग्रहण कर लेती है तब क्षेत्रीय भावनायें और माँगें व्यक्त होती हैं और इसके दावेदार खड़े होते हैं। इसका प्रमाण मानव इतिहास है। राष्ट्र की एकता और सामंजस्य के कारणों का जो समर्थन कर रहे हैं, वे प्रकारान्तर से उसके उपक्षेत्रीय हितों की रक्षा या समर्थन का प्रत्येक प्रयास विभाजक, विखंडक और असामंजस्यपूर्ण मानते हैं। यह राष्ट्रीय समझ के प्रति सही उपागम नहीं है। हमें याद रखना चाहिए कि भारत जैसे विभिन्नता और अनेकता वाले देश में एकता से अभिप्राय एकरूपता से नहीं है और न ही सामंजस्य का अर्थ केन्द्रीयकरण है। राष्ट्रीय पहचान बनाने की प्रक्रिया को पूर्व शर्त के रूप में राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत इन प्रदेशों का राष्ट्र में एकीकरण आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए, एक भारतीय होने का मतलब यह नहीं है कि वह तमिलियन, तेलगु, बंगाली, गुजराती, कश्मीरी, असमी, पंजाबी, नागा इत्यादि नहीं हो सकता। प्रादेशिकता और राष्ट्रीयता के बीच दृढ़ सामंजस्य ही राष्ट्रीय एकता को वास्तविक रूप में समृद्ध कर सकते हैं। फिर भी यह प्रमाणित है कि राष्ट्रीय अन्धभक्ति की तरह ही प्रतिक्रियावादी, प्रादेशिक या उप–प्रादेशिक हानिकारक देश भक्ति भी राष्ट्रीय एकता के लिए अत्यन्त घातक और विनाशकारी है। राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं और भारतीय गणराज्य के निर्माताओं के दिमाग में ऐसे प्रबल विचार सर्वोपरि थे। इसलिए हम पाते हैं कि सन् 1947 ई० में राष्ट्रीय संप्रभुता हासिल करने और सन् 1950 ई० में लोकतान्त्रिक संविधान अंगीकार करने के साथ ही हमने भारत के लोकतान्त्रिक पुनर्गठन की प्रक्रिया आरम्भ कर दी। इस तथ्य से प्रमाणित होता है कि संविधान की घोषणा से ही संघीय इकाइयों के संगठन का कार्य लगातार चलता रहा।

वस्तुतः सन् 1953 ई० में राज्य पुनर्गठन आयोग की स्थापना के साथ इसका पूर्णतः प्रयोग होने लगा। राज्य पुनर्गठन आयोग की अधिकांश सिफारिशें राज्य पुनर्गठन अधिनियम – 1956 द्वारा क्रियान्वित की गयीं। राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशों को निर्धारित करने के लिए मूलभूत सिद्धान्त थे–

1. भारत की एकता और सुरक्षा को संरक्षण और मजबूती,
2. भाषायी और सांस्कृतिक सजातीयता,
3. वित्तीय, आर्थिक और प्रशासनिक महत्व के मुद्‌दे,
4. पंचवर्षीय राष्ट्रीय आर्थिक योजना का सफलतापूर्वक क्रियान्वयन।

आयोग ने राज्य पुनर्गठन में सभी पक्षों के सन्तुलन पर ध्यान रखते हुए राज्यों की सीमा निर्धारण में भाषापक्ष की प्राथमिकता पर विशेष बल दिया। आयोग ने भाषायी सजातीयता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। भाषायी सजातीयता ही राज्यों के पुनर्गठन में तर्कसंगत आधार प्रदान करती है। यह देश के सुपरिभाषित प्रदेशों में अन्तर्निहित जीवन के सामाजिक–सांस्कृतिक मानदण्ड को प्रतिबिम्बित करती है। आयोग ने इसके प्रतिपादन की प्रेरणा केवल स्पष्टतया आमतौर पर जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों की बढती मॉगों से ही नहीं प्राप्त की थी। इसका मूलभूत दृष्टिकोण तो कांग्रेस ने सन् 1905 ई० से ही अपनाया था, जो कि आयोग के लिए सबसे बड़ी प्रेरणा साबित हुई। सन् 1920 ई० के नागपुर अधिवेशन से ही कांग्रेस ने एक स्पष्ट राजनीतिक लक्ष्य के रूप में प्रान्तों के भाषायी पुनर्गठन के लिए दृढ़ता के साथ अपनी प्रतिबद्धता स्वीकार कर ली थी। इस सिद्धान्त की दृढ़ और अटल पुनरावृत्ति सन् 1928 ई० के सर्वदलीय सम्मेलन की नेहरू समिति की सुप्रसिद्ध रिपोर्ट में की गयी थी। इस रिपोर्ट में साथ–साथ कहा गया कि *"भाषायी आधार पर प्रान्तों का पुनर्गठन करने के लिए यह बहुत ही ऐच्छिक सिद्धान्त होता है। नियम के अनुसार भाषा एक विशिष्ट प्रकार की संस्कृति, परम्परा और साहित्य के अनुकूल होती है। एक भाषायी क्षेत्र में ये सभी पक्ष प्रान्तों की सामान्य प्रगति में मदद करेगें।"*

एक अलग तेलुगु राज्य की स्थापना के लिए आन्दोलन के जोर के पीछे यही तर्क था। पहली भाषायी सजातीयता के आधार पर सन् 1953 ई० में भारत में पहले भाषायी राज्य के रूप में आन्ध्र राज्य का निर्माण किया गया। सन् 1956 ई० में विशाल आन्ध्र की माँग पर पहले के हैदराबाद प्रान्त और मद्रास प्रान्त के तेलुगु भाषी जिलों को मिलाकर आन्ध्र प्रदेश का निर्माण किया गया। इसके साथ ही भाषायी सजातीयता के सिद्धान्त पर राज्यों के पुनर्गठन की प्रक्रिया ने गति पकड़ी। सन् 1956 ई० में प्रमुख आठ भाषा समूहों (असमी, बंगाली, कन्नड़, कश्मीरी, मलयालम, उड़िया, तमिल और तेलुगु) के लिए अलग–अलग राज्यों का गठन किया गया। इसी प्रकार सन् 1960 ई० में गुजराती और मराठी दो भाषा–भाषियों के लिए अलग–अलग राज्य बने। सन् 1966 ई० में ही एक साथ पाँच हिन्दी भाषी राज्यों (बिहार, हरियाणा, मध्य प्रदेश, राजस्थान और उत्तर प्रदेश) का पुनर्गठन किया गया। संविधान की आठवीं अनुसूची में रखी गयी 18 भाषाओं में से सिर्फ उर्दू, संस्कृत, कोंकड़ी एवं नेपाली 4 भाषाओं को छोड़कर 14 भाषा समूहों के अलग–अलग राज्य हैं (उर्दू एवं कोंकणी भाषा की पर्याप्त संख्या में कमी और निर्धारण भौगोलिक क्षेत्र के अभाव तथा भारत के सभी क्षेत्रों में संस्कृत भाषियों के बिखराव के कारण तथा नेपाली भाषा कई राज्यों में होने के कारण अलग–अलग राज्य नहीं बनाये जा सकते थे)। अतः सन् 1966 ई० से कुछ सामाजिक–सांस्कृतिक ढाँचे और राजनीतिक अप्रत्याशित कार्यवाही के कारण स्पष्टतया भाषायी सूत्र को भारत में राज्य पुनर्गठन के मूलभूत मानदण्ड के रूप में वैधानिक मान्यता मिल गयी।

किन्तु हमें याद रखना चाहिए कि पूर्णतः प्रचलित भ्रांतियों के बावजूद भाषायी सजातीयता के आधार पर ही राज्यों का गठन नहीं किया जा सकता है। अतः एक सूक्ष्म और गहरी छानबीन से पता चलता है कि राज्यों का पुनर्गठन भाषा के साथ–साथ आर्थिक और मानवीय विचार तथा बोध जैसे अनेक नाजुक पक्षों (नागालैण्ड, मेघालय, मणिपुर और त्रिपुरा), धर्म, लिपि और मनोभाव (हरियाणा और पंजाब), सांस्कृतिक परम्परा (महाराष्ट्र और गुजरात), ऐतिहासिक और राजनीतिक पक्ष (उत्तर प्रदेश और बिहार), देशी राज्यों का समन्वय और एकता तथा महत्वपूर्ण समूहन के लिए उसकी जरूरत (मध्य प्रदेश और राजस्थान) और निःसन्देह भाषा सहित सामाजिक विशिष्टता (तमिलनाडु, केरल, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, असम,

बंगाल और उड़ीसा) के तत्वों की भारतीय संघ के निर्माण में निर्णायक भूमिका रही है। भाषा की अपेक्षा दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष प्रादेशिकता है। प्रदेश को एक भूभागीय इकाई के रूप में परिभाषित किया जाता है जिसमें मुख्यतः भाषा से सम्बद्ध पक्ष जैसे भाषा या भाषायें, जाति, जातीय समूह या जनजाति और सामाजिक ढाँचे एवं सांस्कृतिक मानदण्ड से सम्बन्धित पक्ष जैसे लोकनृत्य, संगीत लोककला इत्यादि सम्मिलित हैं। भारतीय राज्य व्यवस्था का एक सबसे महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि यह प्रदेशों और उप–प्रदेशों का एक सबसे समुच्चयन है। भारत के सात प्राकृतिक क्षेत्रों के ढाँचे के अन्तर्गत ये प्रदेश और उप–प्रदेश अपनी विशिष्ट अलग सामाजिक–सांस्कृतिक पहचान रखते हैं।

जब भारत में राज्यों का पुनर्गठन भाषायी आधार पर किया गया, इसमें भारी फेरबदल करनी पड़ी। वस्तुतः भारत के सामाजिक–सांस्कृतिक प्रादेशीकरण के रूप में जिस भाषा क्षेत्र का निर्माण होता है उसे हम वृहत् सामाजिक–सांस्कृतिक क्षेत्र कह सकते हैं। प्रमुख हिन्दी क्षेत्र सहित अपनी विभिन्न जनसंख्या के साथ भारत के 13 भाषायी क्षेत्र हैं। इनमें क्षेत्र विस्तार और जनसंख्या के अनुसार हिन्दी क्षेत्र सबसे बडा भाषा क्षेत्र है। उल्लेखनीय है कि अन्तिम जनगणना के आंकड़ों में जिस हिन्दी शब्द को वर्गीकृत किया गया है और सार्वजनिक बातचीत तथा विचार–विमर्श के दौरान जिसका प्रायः प्रयोग किया जाता है, वह एक स्तर पर कई विकसित बोलियों के समुच्चयन का पर्याय है। हिन्दी क्षेत्र की अनेक विकसित बोलियों को भाषाविदों ने भाषा के रूप में स्वीकार भी किया है। हिन्दी में मैथिली, राजस्थानी, भोजपुरी, ब्रजभाषा, अवधी, हरियाणवी और खड़ी बोली इत्यादि मुख्य बोलियाँ शामिल हैं। इसके अलावा अधिकांश छोटी–छोटी बोलियाँ भी हैं जो हिन्दी क्षेत्र में बोली जाती हैं। पिछले 30 वर्षों में एक संयुक्त रूप से समान भाषा के लिए हिन्दी की बोलियों में महत्वपूर्ण समानता लायी गयी है। फिर भी इस लम्बे–चौड़े विस्तार वाले हिन्दी क्षेत्र में विशेष प्रकार के क्षेत्रीय मुहावरे, बिम्ब विधान और सामाजिक आधार देखे जाते हैं। इन बोलियों को बोलने वाले व्यक्तियों की संख्या पर विचार करते समय यह आवश्यक है कि उनकी भिन्न उप–संस्कृति और उप–साहित्यिक परम्परा को मान्यता दी जाय। दूसरा बड़ा भाषायी समूह तेलुगु है। कुछ सामाजिक–भाषाविदों ने तेलुगु क्षेत्र में भी कई क्षेत्रीय बोलियों का उल्लेख किया है।

भारत में एक सामाजिक–सांस्कृतिक उप–क्षेत्र के निर्धारण के लिए निम्नांकित मानदण्ड प्रतिपादित किये गये हैं –

1 भाषा/बोली,

2. सामाजिक सघटन (जैसे समुदाय/जातियॉ),

3. मानव–जातीय पक्ष,

4. जनसांख्यिकीय विशेषता,

5. विस्तार क्षेत्र (भौगोलिक) निरन्तरता,

6. सांस्कृतिक प्रतिमान,

7. अर्थव्यवस्था और आर्थिक जीवन,

8. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि,

9. राजनीतिक पृष्ठभूमि,

10. मनोवैज्ञानिक संघटन और समूह पहचान की अनुभूत संचेतना

(खान, 1996, पृष्ठ 180–183)।

जब भारत स्वतन्त्र हुआ, उस समय देश में राष्ट्रवाद ज्यादा प्रबल था और प्रदेशवाद की प्रवृत्तियां बहुत दबी–दबी थीं। इसका महत्वपूर्ण कारण था कि राष्ट्रीय आन्दोलन के फलस्वरूप देश का सम्पूर्ण ध्यान स्वतन्त्रता संग्राम की ओर लगा हुआ था और स्वतन्त्र होने का लक्ष्य वह लक्ष्य था, जिससे वे क्षेत्रीय स्वार्थ से ऊपर उठकर राष्ट्रीय संघर्ष में लग पाते थे। इसका यह मतलब नहीं हैं कि उस समय प्रदेशीय भावनाऍ विद्यमान नहीं थीं। फिर भी इनका व्यापक रूप नहीं था। यह चुनौती के रूप में हमारे सामने नहीं आया था।

देश के स्वतन्त्र होने के बाद प्रदेशवाद को बल मिला। इस सन्दर्भ में जो महत्वपूर्ण चरण रहे हैं, वे हैं – देश में राजनीतिक एकीकरण विशेषकर देशी रियासतों का मिलना और

कई देशी रियासतों को मिलाकर संघीय इकाइयों का निर्माण किया जाना जैसे मध्य प्रदेश, राजस्थान आदि। द्वितीय, सन् 1956 ई० में भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन किया जाना। एक ओर ये महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे, तो दूसरी ओर लोकतन्त्र का प्रयोग हो रहा था और राष्ट्र आर्थिक चुनौतियों का सामना कर रहा था। यह था, सन्दर्भ जिसमें प्रादेशिकवाद उभरकर हमारे देश की राज्यों की राजनीति में प्रवेश करता है (जैन, 1997, पृष्ठ 277)। पिछली शताब्दी के छठे और सातवें दशक में इसने राजनीति को बड़े पैमाने पर प्रभावित करना शुरू कर दिया। प्रदेशवाद की इस प्रवृत्ति पर अंकुश लगाए रखने के लिए और सभी को राष्ट्र के प्रति निष्ठावान बनाने की दृष्टि से हमारे संविधान में इकहरी नागरिकता की व्यवस्था की गई है। फिर भी अनेक लोगों के मस्तिष्क में भारतीय नागरिक होने की तुलना में बंगाली, बिहारी, गुजराती, पंजाबी आदि होने की चेतना अधिक है। यह प्रादेशिक संकीर्णता भारतीय राष्ट्रीयता को पूरी तरह विषाक्त कर रही है, जो एक विचारणीय प्रश्न है। दक्षिणी, दक्षिण–पूर्व, उत्तर–पूर्व, उत्तरी एवं उत्तर–पश्चिमी क्षेत्र का प्रत्येक राज्य किसी न किसी अन्तर्राष्ट्रीय सीमा विवाद अथवा जल बँटवारे या पृथक राज्य की माँग में उलझा हुआ है। प्रत्येक क्षेत्रीय दल अपने राज्यों की सीमाओं तक ही सीमित है, जो स्थानीय, जातीय अथवा वर्ग हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

मानव सभ्यता का जगद्गुरू भारत एक विशाल देश है – केवल भौगोलिक दृष्टि से ही नहीं, अपितु धर्म, संस्कृति, भाषा, परम्परा और वैचारिक दृष्टि से भी। विदेशी शक्तियों ने चाहे वे शक, यवन, हूण हों या तुर्क, मुगल या अंग्रेज, सभी ने भारत की इस सामाजिक एवं सांस्कृतिक विविधता का शोषण किया। उनकी कूटनीति का ही विषपूर्ण परिणाम था कि स्वतन्त्रता की पावन बेला पर भारत ने अपने को दो भागों में विभाजित पाया – ब्रिटिश भारत के प्रान्त एवं रियासतें। यह सत्य है कि ब्रिटिश भारत में शताब्दियों से सुषुप्त राजनीतिक चेतना जागृत हुई, लेकिन ब्रिटिश भारत के प्रान्तों का विभाजन अंग्रेजों ने तार्किक आधार पर करने के बजाय अपने हितों को ध्यान में रखकर किया। यही कारण है कि स्वाधीनता के बाद राष्ट्रीय नेतृत्व के सामने सबसे बड़ी चुनौती राजनीतिक एकीकरण की थी। इस सन्दर्भ में प्रारम्भिक रूप में दो समस्यायें उभरकर सामने आयीं – रियासतों का भारतीय संघ में विलीनीकरण तथा भारतीय संघ के अन्तर्गत केन्द्र राज्य सम्बन्धों का निर्धारण। इन दोनों

समस्याओं के सन्दर्भ में विभिन्न क्षेत्रों का भारतीय मानचित्र में पुनर्सीमांकन की नई चुनौती थी। इस तरह प्रदेशवाद का भारत में उदय ब्रिटिश शासन की विरासत है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से, प्रदेशवाद को राष्ट्र विरोधी अथवा अलाभप्रद नहीं माना जाना चाहिए क्योंकि प्रदेशवाद राष्ट्र विरोधी तभी बनता है जब उसमें उग्र एवं विघटनकारी प्रवृतियों का प्रवेश होने लगता है। यदि प्रदेशवाद रूग्णता का प्रतीक है तो फिर 'विकेन्द्रीकरण' का भी विरोध होना चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं होता। अतः मौलिकता के धरातल पर प्रादेशिकवाद एवं राष्ट्रीयतावाद मे कोई अन्तर नहीं है। यदि हम प्रदेशवाद का उन्मूलन करते हैं, तो हम निश्चित ही राष्ट्र की एकता और अखण्डता की जड़ों को खोखला करेगें। बाह्य समानता, भारत जैसे विशाल देश के लिए कदापि फलदायक नहीं हो सकती, ऐसा करना एक मूर्खता ही होगी। क्षेत्रीय दल भी भारत की एकता व अखण्डता के मार्ग का पत्थर तभी बनते हैं जब वे छुद्र स्वार्थों की पूर्ति हेतु अपने कार्य क्षेत्र को विस्तृत करने में तत्पर हो जाते हैं। यदि प्रादेशिकवाद राष्ट्र–विरोधी नहीं है और न ही वह एकता व अखण्डता के मार्ग को अवरूद्ध करता है, तो फिर वर्तमान परिवेश में वह निन्दनीय क्यों? क्यों उसे राष्ट्रीय एकता का शत्रु माना जाने लगा है और क्यों वह अलगाववादी भावना का एक रूप बन गया है? इन प्रश्नों को जन्म देने का उत्तरदायित्व राष्ट्र के बजाय प्रदेश विशेष के प्रति "अन्धास्था" को जाता है। इसके अतिरिक्त अनेक कारण हैं जिन्होनें अग्नि में घी का कार्य किया है। सर्वप्रथम भौगोलिक दृष्टि से भारत वर्तमान में 28 राज्यों तथा 7 केन्द्र शासित क्षेत्रों में बँटा हुआ है। हमारे मन–मस्तिष्क में यह भावना घर कर गयी है कि उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश और राजस्थान में छोटे–छोटे प्रदेश भौगोलिक दृष्टि से महत्वपूर्ण इकाई बन सकते हैं। राजस्थान में मारवाड़ व मेवाड़ का क्षेत्र तथा दक्षिण गुजरात के आदिवासी लोगों ने भी पृथक राज्य की माँग की है। सन् 2000 ई० में उत्तरप्रदेश से उत्तरांचल, मध्य प्रदेश से छत्तीसगढ़ तथा बिहार से झारखण्ड को पृथक कर नये राज्य बनाये गये।

यह सत्य है कि 22 अगस्त 1988 ई० को एक समझौते के द्वारा पृथक गोरखालैण्ड की मॉग *"दार्जिलिंग गोरखा स्वायत्तशासी पर्वतीय परिषद"* में परिवर्तित हो गयी, लेकिन पंजाब में खालिस्तान की मॉग अभी भी जीवित है। यह बात तो सर्वविदित है कि भारत एक बहुभाषा–भाषी एवं धर्मों का देश है तथा यहाँ पर विभिन्न संस्कृतियों के लोग निवास करते हैं,

लेकिन स्थिति भयानक तब होती है जब व्यक्ति अपनी संस्कृति को उत्कृष्ट तथा दूसरों की संस्कृति को निकृष्ट मानने लगते हैं और सभी सीमाओं को लांघकर द्रविड़ मुनेत्र कड़गम् जैसे दल भारतीय संघ से पृथक होने का राग अलापने लगते हैं। सन् 1956 ई० में राज्य पुनर्गठन के बाद कई पुरानी रियासतों को राज्यों में मिला दिया गया। आज भी इन रियासतों के लोग यह अनुभव करते हैं कि यदि उनकी रियासत का ही पृथक राज्य होता तो वे अधिक लाभ की स्थिति में होते, यही भावना है जो अलगाववाद का कारण बनती है। आर्थिक पिछड़ेपन ने भी प्रदेशवाद को हवा दी है। भारत के कुछ राज्यों में विकास खरगोश की गति से हुआ तथा कुछ राज्यों में कछुए की गति से। यही कारण है कि आन्ध्र प्रदेश में तेलंगाना, राजस्थान में दक्षिण–पूर्वी राजस्थान, महाराष्ट्र में विदर्भ आदि क्षेत्रों में आर्थिक पिछड़ेपन ने असन्तोष की अग्नि को तीव्र किया।

भारत एक विशाल राष्ट्र है, जिसमें विभिन्न प्रजातियों के लोग निवास करते हैं, जो अलग–अलग भाषायें बोलते हैं एवं अलग–अलग धर्मों का अनुसरण करते हैं। यही नहीं ये विभिन्न जातियों, उप–जातियों, पन्थों और उप–पन्थों में विभाजित हैं। भौगोलिक दृष्टि से भी भारत महाद्वीपीय आकार का राष्ट्र है। दूसरी बात यह है कि भारत के कतिपय जातीय, धार्मिक और भाषाई समूह कुछ क्षेत्र विशेष में सकेन्द्रित हैं और वे उन क्षेत्रों को भी मानते हैं। एक ओर तो ये समूह अपने क्षेत्र विशेष के आर्थिक विकास में अधिक रूचि रखते हैं और दूसरी ओर ये अपनी सांस्कृतिक पहचान को भी कायम रखना चाहते हैं, अतएव वे क्षेत्र से बाहर के निवासियों को क्षेत्र में नहीं रहने देना चाहते हैं। इसी मानसिकता के चलते भारत में प्रदेशवाद की राजनीति का अविर्भाव हुआ है। भारत जैसे वैभिन्नीकृत और विकासशील समाज में, समरूप राजनीतिक संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले राष्ट्रीय राज्य का उदय एक स्वचालित और प्राकृतिक विकास द्वारा नहीं हो सकता है। प्रदेशवाद एक सामाजिक वास्तविकता है। अतएव भारत में राष्ट्रवाद के उदय को एक प्राकृतिक विकास के रूप में देखा जाना चाहिए। यह आधुनिकीकरण तथा जन–सहभागिता की प्रवृत्तियों के मध्य अन्तःक्रिया का परिणाम है। प्रदेशवाद एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है, परन्तु भारत के सन्दर्भ में विशिष्ट बात यह है कि यहाँ एक क्षेत्र की राजनीतिक सीमा उस क्षेत्र की सांस्कृतिक और भाषायी सीमा के समान्तर है। परिणामतः सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक आकांक्षाओं का

तथा स्थिति विशेष से असन्तुष्टि राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रकटीकृत होती है। ये आकांक्षायें मुख्य रूप से बेहतर आर्थिक परिस्थिति, राजनीतिक शक्ति, अधिक सहभागिता, अधिक प्रादेशिक स्वायत्तता तथा कभी–कभी पृथक राज्य की माँग के रूप में मुखरित होती रही है। असन्तुलित आर्थिक और राजनीतिक विकास, जो विकास प्रक्रिया के प्रारम्भिक चरण में स्वाभाविक ही है, ने प्रादेशिक असन्तुलन को जन्म दिया, जिसके परिणामस्वरूप उप–राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को बल मिला है। निस्सन्देह यदि इन प्रादेशिक प्रवृत्तियों को राष्ट्र की मुख्य धारा में समायोजित नहीं किया जाता तो ये राष्ट्रीय एकता के समक्ष गम्भीर चुनौती बन जातीं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सन् 1956 ई० में राज्य पुनर्गठन आयोग ने भाषा को आधार बनाकर राज्यों के पुनर्गठन की जो व्यवस्था दी, उससे भविष्य में भाषावार प्रान्त बनाने की मॉग को लेकर हिंसात्मक आन्दोलन की भूमिका तैयार हो गयी। गोरखालैण्ड, बोडोलैण्ड, झारखण्ड व उत्तराखण्ड आन्दोलन खूनी संघर्ष के जिस दौर से गुजरे हैं, उसके पीछे राजनेताओं द्वारा इन क्षेत्रों के निवासियों की निरन्तर उपेक्षा ही प्रमुख कारण रहा है। इन आन्दोलनों को बिना किसी आधार के पृथकतावादी या अलगाववादी कह देना सर्वथा अनुचित होगा। उचित तो यह है कि इन आन्दोलनों के आलोक में केन्द्र व सम्बन्धित राज्य सरकारों के बुनियादी चरित्रों को पूरे राष्ट्र के परिप्रेक्ष्य में देखा जाये, क्योंकि किसी भी देश को अन्दर से तोड़ने का कार्य उसके निवासियों के मनोबल को तोड़कर ही किया जाता है। आज उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, असम, नागालैण्ड, मणिपुर, मिजोरम, आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र इत्यादि विभिन्न राज्यों के लोग किसी न किसी रूप में अपने को आहत महसूस करते हुए अस्तित्व की लडाई लड़ रहे हैं। पूर्वोत्तर राज्यों के कुछ आन्दोलनों पर उग्रवादियों की पकड़ मजबूत हो गयी है। नेशनलिस्ट सोशलिस्ट काउन्सिल ऑफ नागालैण्ड के प्रशिक्षण केन्द्र म्यामांर व बांग्लादेश में है। मिजो नेशनल फ्रन्ट, त्रिपुरा वालेण्टियर फोर्स, उल्फा यूनाइटेड लिबरेशन फ्रन्ट ऑफ असम व बोडो सिक्योरिटी फोर्स काफी संगठित उग्रवादी संगठन हैं। बांग्लादेश में बढ़ रही गरीबी और भुखमरी के कारण बड़ी संख्या में लोग प्रवासित होकर पूर्वांचल के क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं। स्थानीय जनता में इन विदेशी लोगों के खिलाफ भारी आक्रोश है क्योंकि इनकी बढ़ती संख्या से यहाँ के समूची जनसंख्या संरचना एवं सांस्कृतिक पहचान के लुप्त हो जाने की आशंका है। विदेशी के सवाल को लेकर आसू ने लम्बे समय तक आन्दोलन चलाया

था। अब इस आन्दोलन की डोर उल्फा व बोडो सिक्योरिटी फोर्स के हाथों में है। बेरोजगार युवकों को इन उग्रवादी संगठनों में प्रमुखता से आश्रय मिलता है। सरकार का ढुलमुल रवैया व लचर नीति किसी भी मामले को सर से पानी गुजर जाने की हद तक पहुँचा देने की रही है। कई क्षेत्रों में तो इन्हें राजनीतिक पार्टियों तक का समर्थन प्राप्त है। इस समय जिस दार्जिलिग स्वायत्त परिषद की स्थापना के बाद क्षेत्र में शान्ति की आशा की जा रही थी, वहीं अब पुनः पृथक गोरखालैण्ड राज्य की माँग उठने लगी है। इसी प्रकार, बोडो स्वायत्त संगठन का निर्माण जल्दबाजी में कर दिया गया लेकिन उसका सीमांकन नहीं हुआ। कई क्षेत्रों में आत्मसमर्पण करने वाले उग्रवादी पुनः हथियार उठाने लगे हैं। इन लोगों को आसानी से विदेशी मदद व फिरौती द्वारा देशी पैसा आसानी से प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार पूर्वोत्तर राज्यों में उग्रवाद की जड़ें बहुत गहराई तक पहुंच गई हैं और पृथक राज्य के आन्दोलन उग्रवादी शक्तियों के हाथ में पहुँच गये हैं। वास्तव में एक ओर जहाँ, पूर्वोत्तर राज्यों में उग्रवाद की समस्या से निपटने के लिए आर्थिक विकास के दीर्घकालीन कार्यक्रमों की नितान्त आवश्यकता है, वहीं दूसरी ओर यह भी उतना ही विचारणीय है कि देश के अन्य राज्यों में पृथक राज्य की मॉग कर रहे आन्दोलन कहीं उग्रवादियों के हाथों में पहुँचकर अलगाववादी रुख की ओर न मुड़ जाएँ। अपने राजनीतिक लाभ के लिए समस्या को विवशता की स्थिति तक पहुँचा देने की भारतीय राजनीतिज्ञों की प्रवृत्ति देश को विघटन के कगार पर पहुँचा सकती है। स्वायत्तशासी परिषद का झुनझुना थमाकर कुछ समय के लिए तो लोगों को शान्त किया जा सकता है, लेकिन वे कुछ समय बाद पुनः पृथक राज्य की माँग नहीं करेगें, इसकी कोई गारन्टी नहीं है। बेहतर तो यही होगा कि भूतकाल की भूलों से सबक लेकर दूसरे 'राज्य पुनर्गठन आयोग' का शीघ्र ही गठन किया जाये जिसमें न केवल केन्द्र–राज्य संबंधों को नये सिरे से पुनः मूल्यांकन करने की आवश्यकता है वरन् देश के विभिन्न भागों में आर्थिक असमानता, पिछड़ेपन, बेरोजगारी एवं गरीबी से उत्पन्न विघटनकारी समस्याओं के कारणों के सूक्ष्म विश्लेषण की आवश्यकता है।

सम्बन्धित साहित्य की समीक्षा

प्रादेशिकवाद राजनीतिज्ञों एवं भूगोल-विदों के अध्ययन का अपेक्षतया एक नवीन विषय है। वैसे तो जब से मानव सभ्यता का उदय हुआ, तभी से प्रादेशिकवाद किसी न किसी

रूप में हमारे सामने मौजूद है। भारत में स्वतन्त्रता के पश्चात नये-नये राज्यों की बढ़ती मॉग के कारण हाल के वर्षों में विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है। इस सन्दर्भ में राज्य पुनर्गठन आयोग 1956 तथा 1963 ई० में मोहन कौल ने **'प्राब्लम ऑफ नेशनल इंटीग्रेशन'** नामक ग्रन्थ में प्रादेशिकवाद के बारे में विस्तार से चर्चा की है। सन् 1963 ई० में ही के० सथानम ने भारत में केन्द्र-राज्य सम्बन्ध के बारे में अध्ययन किया। इसी प्रकार सन् 1969 ई० में एल० एम० सिंघवी ने भारत में केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के विश्लेषण का प्रयास किया। सन् 1971 ई० में तमिलनाडु सरकार ने केन्द्र-राज्य सम्बन्धों पर एक कमेटी गठित की। सन् 1972 ई० में एस० एन० जैन ने संघ और राज्य के संबंधों का अध्ययन किया। सन् 1981 ई० में बोरीस आई क्लूयेव ने भारत में राष्ट्रीयता और भाषा समस्या का विवेचन किया। इसी प्रकार सन् 1995 ई० में राजनीतिक अर्थव्यवस्था और आधुनिक संघ के अध्ययन पर बल दिया गया। केन्द्र—राज्य सम्बन्ध पर सरकारिया आयोग ने अध्ययन किया।

चूँकि भारत लम्बे समय से विलगाववादी आन्दोलन की समस्या से ग्रसित रहा है अतः देश में आतंकवाद की समस्या पर हाल के वर्षों में काफी साहित्य उपलब्ध है। सन् 1966 ई० में बलदेव राज नायर ने **'सिख सेपरेटिज्म इन पंजाब इन साउथ एशियन पालिटिक्स एण्ड रिलिजन'** में आतकवाद की समस्या की विधिवत जानकारी प्रस्तुत की। सन् 1976 ई० में योनास एलेक्जेण्डर ने **'अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवादी : राष्ट्रीय प्रादेशिक एवं वैश्विक स्वरूप'** में आतंकवाद की समस्या का एक तर्क पूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किया। सन् 1985 ई० में एन० एस० सक्सेना ने भारत एवं विश्व में आतंकवाद के इतिहास का विवेचन किया। सन् 1996 ई० में जाने-माने रक्षा विशेषज्ञ वेद मारवाह ने भारत में आतंकवाद के उपचार हेतु सुझाव प्रस्तुत किया। सन् 1989 ई० में नौनिहाल सिंह ने विश्व में आतंकवाद का विश्लेषण प्रस्तुत किया।

वर्तमान अध्ययन की वस्तुनिष्ठता

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि प्रादेशिकवाद का देश के विकास के साथ-साथ समाज पर बहुआयामी प्रभाव पड़ता है। वर्तमान शोध प्रबन्ध में प्रादेशिकवाद के इन्हीं पक्षों को उजागर करने का प्रयास किया गया है जो भारत के प्रादेशिकवाद के उत्पत्ति

के कारकों एवं स्थानीय प्रतिरूप आदि को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। इस उद्देश्य से शोध प्रबन्ध के निम्न चार बिन्दु निर्धारित किए गये हैं–

1. भारत की ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति का विश्लेषण करना।

2. प्रादेशिकवाद के विभिन्न पक्षों, विशेषकर प्रादेशिकवाद की उत्पत्ति के कारकों एवं उसके देश के स्थानिक प्रतिरूप पर प्रभाव का परीक्षण करना।

3. भारत में प्रादेशिकवाद को रोकने हेतु उपयुक्त परामर्श प्रस्तुत करना।

4. भारत में प्रादेशिकवाद के साथ-साथ राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक विकास हेतु समुचित सुझाव प्रस्तुत करना।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध 8 अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रस्तावना में शोध प्रबन्ध का परिचय दिया गया है जिसमें शोध के उद्देश्य, उपागम, अध्ययन विधि आदि का विधिवत परिचय दिया गया है। अध्याय एक में प्रादेशिकवाद की अवधारणा की विवेचना की गई है जबकि अध्याय दो में प्रादेशिकवाद के उत्पत्ति के कारकों का विश्लेषण किया गया है। अध्याय तीन में प्रादेशिकवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विवरण दिया गया है। अध्याय चार में प्रादेशिकवाद के प्रकारों का क्षेत्र विस्तार एवं विशेषताओं के आधर पर वर्णन किया गया है। अध्याय पांच में भारत में प्रादेशिकवाद के स्थानिक प्रतिरूप का आकलन किया गया है। अध्याय छः में प्रादेशिकवाद बनाम राष्ट्रवाद का तुलनात्मक विवरण देते हुए दोनों के मध्य अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। अध्याय सात में प्रादेशिकवाद से सम्बद्ध अन्य समस्याओं का निरूपण किया गया है जिसके अन्तर्गत आतंकवाद, विलगाववादी आन्दोलन, शरणार्थी समस्या, नक्सली समस्या, मजदूर आन्दोलन, किसान आन्दोलन एवं छद्म राजनीति का विस्तार से वर्णन किया गया है। अध्याय आठ में भारत में प्रादेशिकवाद पर नियंत्रण हेतु भावी रणनीति सम्बन्धी प्रस्तावों के विभिन्न भागों में प्रादेशिकवाद से जुड़ी समस्याओं के समाधान हेतु समुचित सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं।

उपागम

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में आगमनिक एवं निगमनिक दोनों ही उपागमों के प्रयोग द्वारा शोध कार्य को सर्वांगपूर्ण बनाने का प्रयास किया गया है। समस्याओं के अध्ययन हेतु सर्वप्रथम कुछ संकल्पनाओं का निर्माण किया गया है तदुपरान्त राष्ट्रीय स्तर पर आँकड़ों के एकत्रीकरण, वर्गीकरण, विश्लेषण एवं मानचित्रीय प्रदर्शन द्वारा इन संकल्पनाओं की पुष्टि का परीक्षण किया गया है। इस दौरान (आँकडों के एकत्रीकरण, वर्गीकरण एवं विश्लेषण के समय) निर्मित संकल्पनाओं के अतिरिक्त कुछ नये निष्कर्ष भी प्राप्त हुए हैं, जिन्हें शोध प्रबन्ध के विवरण में समुचित महत्व दिया गया है और उनसे निष्कर्ष निकाले गये हैं। इस प्रकार दो उपागमों का एक साथ उपयोग कर शोध प्रबन्ध को अधिकाधिक विश्वसनीय बनाने का प्रयास किया गया है।

संकल्पनाएँ

भारत एक प्राचीन देश है जहाँ सदियों से राजनीतिक व्यवस्था कायम है। विश्व के अन्य पुराने बसे देशों की भाँति भारत में भी प्रादेशिकवाद की जड़ें काफी गहरी एवं पुरानी हैं किन्तु स्वतन्त्रता के बाद यहाँ प्रादेशिकवाद के बढ़ाव एवं उग्रता में वृद्धि हुयी है। स्वतन्त्रता के पश्चात यहाँ भाषा, सम्प्रदाय, जाति, आर्थिक, राजनीतिक तथा भौगोलिक कारकों से प्रादेशिकवाद को बढ़ाने में और भी प्रेरणा प्राप्त हुई। विविधताओं भरे देश के कारण शोधकर्ता के मस्तिष्क में सदैव यह प्रश्न उमड़ता रहा कि भारत में प्रादेशिकवाद के विकास में राजनीतिक-भौगोलिक कारकों का क्या योगदान रहा है? यदि योगदान है तो इसका परिणाम क्या एवं कितना है? इन्ही प्रश्नों के उत्तर वर्तमान शोध प्रबन्ध की अधोलिखित संकल्पनाओं के परीक्षण द्वारा प्राप्त करने का प्रयास किया गया है।

1- भारत में प्रादेशिकवाद राजनीतिक विकास का मूलाधार है।

2- प्रादेशिकवाद के विकास में प्राकृतिक संसाधनों के विषम वितरण एवं उपयोग की प्रमुख भूमिका रही है।

3- आर्थिक विषमताओं विशेषकर आर्थिक पिछड़ेपन का प्रादेशिकवाद के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

4- सामाजिक तत्व प्रादेशिकता एव राष्ट्रीयता के विकास को प्रभावित करते हैं।

5- आर्थिक विपन्नता, बेरोजगारी आदि का प्रादेशिकवाद की तीव्रता को बढ़ाने में प्रमुख योगदान होता है।

6- भाषायी, धार्मिक एव जातीय उन्माद से प्रादेशिकवाद को बढ़ावा मिलता है।

7- प्रादेशिकवाद के पोषण एवं विकास में छद्म राजनीति का हाथ होता है।

8- प्रादेशिकवाद के अनेक प्रकार हैं जो सूक्ष्म स्तर से राष्ट्रीय स्तर तक के क्षेत्रों को प्रभावित करते हैं।

9- अतिरंजित प्रादेशिकवाद की परिणति आतंकवाद एवं राष्ट्रीय विघटन में हो सकती है।

10- राष्ट्रीयता के विकास द्वारा देश में विद्यमान आर्थिक असमानताओं को दूर करने में मदद मिल सकती है।

11- भारत में सुनियोजित तरीके से राष्ट्रीयता के विकास की आवश्यकता है। इससे अनेक राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं के समाधान में मदद मिलेगी।

अध्ययन विधि

साक्ष्य संग्रह

अध्ययन हेतु आँकड़े दो मुख्य स्रोतों (i) लिखित साहित्य एवं (ii) मानचित्रों द्वारा प्राप्त किये गये हैं। एतदर्थ, राज्य पुनर्गठन आयोग 1956, केन्द्र–राज्य सम्बन्ध सरकारिया आयोग के प्रतिवेदनों, राजनीतिक लेखों तथा राजनीति विज्ञान की पुस्तकों का उपयोग किया गया है।

आँकड़ों का विश्लेषण एवं निर्वचन

ऑकड़ों के विश्लेषण एवं निर्वचन हेतु विभिन्न सारणियों एवं मानचित्रों का प्रयोग किया गया है। मानचित्रीय तकनीक में साधारण वितरण मानचित्रों के अलावा बार डायग्राम, पाई डायग्राम आदि प्रदर्शन की विधियों का प्रयोग किया गया है। प्रत्येक अध्याय के मुख्य शीर्षकों, मानचित्रों एवं सारणियों में उस अध्याय के क्रमांकन का उपयोग किया गया है जबकि सन्दर्भ ग्रन्थों को प्रत्येक अध्याय के अन्त में वर्णमाला क्रम में व्यवस्थित किया गया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

जैन, एस० एन०, 1997 : **भारतीय संविधान शासन और राजनीति**, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

खान, रशीद्उद्दीन, 1996 : **भारत में लोकतन्त्र**, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली।

शर्मा, रामशरण, 1995 : **प्राचीन इतिहास**, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली।

* * * * *

अध्याय – 1

प्रादेशिकवाद की अवधारणा

प्रादेशिकवाद की व्याख्या करना बहुत ही कठिन है क्योंकि इसकी रूपरेखा सुस्पष्ट एवं सुपरिभाषित नही है। इसका सम्बन्ध देश की राजनीति, समाज, अर्थव्यवस्था, तकनीकी विकास आदि सबसे है। अत: प्रादेशिकवाद अपने आवरण में पूर्ण संकल्पना (Total Concept) है। साथ ही प्रादेशिकवाद की अभिव्यक्ति केवल मानव जीवन के भौतिक पक्ष में ही नहीं होती अपितु इसके मनोवैज्ञानिक पक्ष मे भी होती है। इसलिये इसकी व्याख्या और भी कठिन हो जाती है। फिर भी व्याख्या को प्रारम्भ करने के लिए हम कह सकते हैं कि प्रादेशिकवाद एक बहुमुखी भावना है जिसके विभिन्न पक्ष मनोवैज्ञानिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों से सम्बद्ध हैं और इन सभी तत्वों से मिलकर जो मानसिक स्थिति उत्पन्न होती है, उसे हम प्रादेशिकवाद कह कर सम्बोधित करते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि प्रादेशिकवाद की प्रत्येक अभिव्यक्ति में इन सभी तत्वों का समान मात्रा में योगदान हो, कहीं कोई और कहीं कोई तत्व प्रबल हो सकता है। यदि हम प्रादेशिकवाद की सही व्याख्या करना चाहते हैं तो हमें प्रादेशिकवाद के दोनों पहलुओं–सकारात्मक व नकारात्मक– पर समान रूप से विचार करना चाहिए। सेलिग हेरिसन ने भारतीय प्रादेशिकवाद के केवल नकारात्मक पक्ष को देखा है, अतः इसी कारण से निष्कर्ष गलत सिद्ध हुए हैं। सकारात्मक दृष्टि से प्रादेशिकवाद व्यक्तित्व की खोज है और आत्मसिद्धि के प्रयास का प्रतीक है। यदि हम यह स्वीकार करें कि जब देश का प्रत्येक राज्य व्यक्तित्व सम्पन्न होगा, आत्मसिद्धि को प्राप्त होगा, तभी सामूहिक रूप से सारा देश उन्नत होगा। तब प्रादेशिकवाद के इस पक्ष में एवं राष्ट्र–निर्माण के उद्देश्य में स्वाभाविक एवं अनिवार्य विरोध दिखायी नहीं देता, यद्यपि सौदे की भावना अवश्य विद्यमान रहती है। जहाँ तक नकारात्मक पक्ष है, प्रादेशिकवाद "A psyche of relative depreciation" को प्रतिबिम्बित करता है। इस दृष्टि से यह एक ऐसी प्रवृत्ति का प्रतीक है कि कोई क्षेत्र यह सोच रहा हो कि उसे जानबूझ कर विकास की सुविधाओं एवं लाभों से वंचित रखा गया हो और इसलिए वह अपने आपको अन्य राज्यों से पिछ़डा हुआ

मानता है, इसलिए नहीं कि उसे पिछड़ा हुआ होना चाहिए अपितु इसलिए कि उसे अन्यायपूर्ण पिछडी अवस्था में रखा गया है, दुर्भाग्य से भारत में अभी तक प्रादेशिकवाद का नकारात्मक पक्ष ही उभरकर सामने आया है एवं सकारात्मक पक्ष दबा रहा है, चाहे फिर वह आन्ध्र में तेलंगाना हो, महाराष्ट्र में विदर्भ हो, गुजरात में सौराष्ट्र हो, उत्तर प्रदेश में पूर्वी उत्तर प्रदेश हो अथवा राजस्थान में पूर्वी राजस्थान का प्रश्न हो। यदि प्रादेशिकवाद अपने नकारात्मक पक्ष में बढ़ता रहता है और अगर इसकी पिछड़ी स्थिति को सुधारा नहीं जाता तो यह अवश्य ही राष्ट्र एवं लोकतन्त्र के लिए खतरा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रादेशिकवाद सकारात्मक पक्ष में सराहनीय है परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए जो प्रादेशिकवाद अब तक भारत में उभरा है एक महत्वपूर्ण चुनौती है, जिसकी अभिव्यक्ति कभी शिवसेना द्वारा महाराष्ट्र में एवं कभी लक्षित सेना द्वारा असम आदि में हिंसात्मक वारदातों के रूप में हुई है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस चुनौती का सामना नहीं किया जा सकता है। वास्तव में नकारात्मक पक्ष को सकारात्मक पक्ष में परिवर्तन करना भारतीय राजनीति के सम्मुख एक चुनौती है। अतएव यह मान लेना कि प्रादेशिकवाद देश एवं लोकतन्त्र को समाप्त कर देगा, पूर्णतः सत्य नहीं है। वास्तविकता यह है कि भारत जैसे विशाल देश में एक ओर तो हमें प्रादेशिकवाद के साथ जीना सीखना होगा तथा साथ ही दूसरी ओर हमें प्रयत्न करना होगा कि प्रादेशिकवाद का नकारात्मक पक्ष लुप्त हो जाये तथा सकारात्मक पक्ष उभरे और यही हमारी एकता के दर्शन का प्रतीक है (जैन, 1997, पृ० 277–278)।

देश में स्थित विभिन्न क्षेत्रों के निवासियों में अपने क्षेत्र अथवा प्रदेश के प्रति विशेष लगाव होता है। समूचे देश के सन्दर्भ में अपने प्रदेश को ही महत्वपूर्ण समझना प्रादेशिकवाद का मूल रूप है। भारत के सन्दर्भ में विभिन्न राज्यों अथवा प्रदेशों के निवासियों द्वारा राष्ट्रीय एकता से अपने को अलग समझते हुए अपने प्रदेश के प्रति विशेष निष्ठा और लगाव रखना प्रादेशिकवाद कहा जा सकता है। एकता में विभिन्नता की स्थिति प्रादेशिकवाद का ही लक्षण है। प्रादेशिकवाद को उन तत्वों के द्वारा भी पहचाना जा सकता है जो राष्ट्रीय राजनीति में अपने को अभिव्यक्त नहीं मानते और राष्ट्रीय हितों में अपने हितों की सर्वोपरिता के लिए उत्सुक रहते हैं। यह भौगोलिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा मनोवैज्ञानिक तत्वों का

जटिल मिश्रण है। जटिल इसलिए कि इसके विषय में यह कहना कठिन है कि इसकी उत्पत्ति के लिए कौन सा कारक प्रमुख है। विशाल और विविधतापूर्ण देश में प्रादेशिकवाद होना स्वाभाविक प्रक्रिया है। यह एकीकरण में विभिन्नीकरण की अभिव्यक्ति है जो प्रायः गम्भीर रूप धारण कर लेती है। परन्तु साधारणतया यदि अन्यथा प्रोत्साहन न दिया जाये तो प्रादेशिकवाद की भावना और प्रक्रिया अलगाववादी और पृथकतावाद से अलग रहती है। यह सम्पूर्ण मे अपना अस्तित्व बनाये रखने की चेष्टा करती है। संक्षेप में, प्रादेशिकवाद का अर्थ किसी राज्य के किसी क्षेत्र/प्रदेश के लोगों की उस भावना और प्रयासों से है जिसके द्वारा वे अपने क्षेत्र विशेष के लिए अधिकाधिक आर्थिक, राजनीतिक, भौगोलिक तथा सामाजिक विकास में अभिवृद्धि चाहते हैं। यहाँ पर यह भी स्पष्ट रूप से स्मरण रखना चाहिए कि भौगोलिक रूप से निश्चित किसी क्षेत्र में जब कुछ प्रक्रियाएं तथा धारणाएं राज्य और समाज के अन्य क्षेत्रों से भिन्न हों और ऐसा काफी लम्बे समय से चला आ रहा हो तो उस क्षेत्र को प्रदेश कहा जा सकता है। प्रदेश निर्धारक और प्रादेशिक भावना को विशिष्ट और पृथक बनाने वाले आवश्यक तत्व और विशेषकर समाजशास्त्रियों में सहमति नहीं है। वस्तुतः प्रदेश निर्माण की प्रक्रियायें क्या और कौन हैं? इस विषय में विद्वानों और प्रादेशिकवाद की भावना की धारणाएं भौगोलिक, धार्मिक, भाषागत, परम्परागत रीति-रिवाज, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक विकास, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा रहन–सहन के ढ़ँग इत्यादि पर आधारित होती है। प्रादेशिकवाद का एक अन्य आवश्यक तत्व यह भी है कि इसके अन्तर्गत क्षेत्र के निवासियों में समानता, एकरूपता तथा अन्य क्षेत्रों से अलगाव की भावना पायी जाती है।

प्रदेश में 'आन्तरिक रूप से अधिकतम समरसता' पाई जाती है जिसे भाषा, बोलियों, सामाजिक संगठनों, जातीय संरचना, जनसंख्या की संरचना, भौगोलिक सामीप्य, सांस्कृतिक प्रतिमान, आर्थिक जीवन, ऐतिहासिक या राजनीतिक पृष्ठभूमि और मनोवैज्ञानिक या सामूहिक अस्तित्व की सामान्य चेतना से बल प्राप्त होता है। व्यापक अर्थों में 'प्रादेशिकवाद' से अभिप्राय 'केन्द्रवाद' के विरूद्ध किये गये प्रयासों से लगाया जाता है। संकीर्ण अर्थों में यह स्थानीय या सामाजिक महत्व के हितों के साथ लोगों के सम्बन्धों से सशक्त है (श्रीवास्तव, 1996, पृ० 329)। स्पष्ट है कि प्रादेशिकवाद से तात्पर्य किसी प्रदेश/क्षेत्र विशेष के लोगों की उस

भावना और प्रयासों से है, जिनके द्वारा वे अपने प्रदेश के आर्थिक, सामाजिक, भौगोलिक तथा राजनीतिक विकास हेतु शक्तियों में वृद्धि चाहते हैं।

प्रदेश एक बहुअर्थी शब्द है। भौगोलिक दृष्टि से इसमें किसी जिले का भाग या राज्य का भाग अथवा समूचे देश के भाग को सम्मिलित किया जा सकता है। महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रदेश की अवधारणा में ''साहचर्य'' और अन्य प्रदेशों से ''अलगाव'' का भाव अनिवार्यतः निहित होता है। इसके अतिरिक्त प्रदेश का विशिष्ट तत्व अधिकतम समरूपता होता है, जिसकी भाषा, सामाजिक संगठन, जनांकिकीय संगठन, सांस्कृतिक प्रतिमान, आर्थिक जीवन, ऐतिहासिक अनुभव अथवा राजनीतिक पृष्ठभूमि हो सकती है। ***'एन्साइक्लोपीडिया आफ सोशल साइन्सेज'*** में इसे परिभाषित करते हुए हेडविग हिट्ज ने लिखा है, ''सामान्य रूप से प्रादेशिकवाद को उग्र केन्द्रीकरण के विरूद्ध प्रतिक्रियात्मक आन्दोलन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। प्रादेशिक आन्दोलन भौगोलिक अलगाव, स्वतन्त्र ऐतिहासिक परम्परा, प्रजातीय, जातीय अथवा धार्मिक विशिष्टता तथा स्थानीय हितों जैसे तत्वों या इनमें दो या दो से अधिक के मिश्रण का परिणाम होता है''।

भारतीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में यदि हम प्रादेशिकवाद को परिभाषित करें तो इस निष्कर्ष पर पहुॅचते हैं कि राष्ट्र की अपेक्षा किसी क्षेत्र विशेष, अथवा राज्य या प्रान्त की अपेक्षा एक छोटे क्षेत्र (प्रदेश) से लगाव, उसके प्रति आसक्ति या विशेष अनुरक्ति ही प्रादेशिकवाद है। अन्य शब्दों में, यह एक ऐसी संकुचित धारणा है जो भाषा, धर्म, जाति, क्षेत्र आदि पर आधारित है और जो विघटनकारी प्रवृत्तियों को न केवल जन्म देती है अपितु उन्हें प्रोत्साहित भी करती है। इस दृष्टि से प्रादेशिकवाद राष्ट्रीयता की वृहत् भावना का विलोम है और उसका ध्येय संकुचित क्षेत्रीय स्वार्थों की पूर्ति होता है। यह राष्ट्रीय एकता के समक्ष एक गम्भीर चुनौती भी है।

1.1 प्रदेशिकवाद की विशेषतायें

(1) भारत में प्रादेशिकवाद का उदय ब्रिटिश शासन की विरासत है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय भारत में दो प्रकार की शासन पद्धतियाँ थीं: एक ब्रिटिश भारत के प्रान्तों की एवं दूसरी देशी रियासतों की। देशी रियासतों में आन्तरिक स्वायत्तता भी विद्यमान थी। स्वतन्त्रता

प्राप्ति के समय राष्ट्रीय नेतृत्व के समक्ष इन राज्यों का संघ में विलीनीकरण एक चुनौती थी। किसी प्रकार इस समस्या का समाधान कर संविधान में सभी राज्यों को भारत के संघ में विलीनीकरण किया गया, किन्तु बाद में भाषा, राजस्व स्रोतों के बँटवारे आदि जैसे प्रश्नों को लेकर प्रादेशिकवाद की भावना में बराबर बढोत्तरी होती गयी।

(2) भारत पर्याप्त विभिन्नताओं वाला एक विशाल देश है। भाषा, संस्कृति, जीवन पद्धति, सामाजिक और आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाएं विभिन्नताओं की द्योतक हैं और इन्हीं के आधार पर व्यक्ति किसी एक क्षेत्र विशेष से जुड़े होते हैं।

(3) भारत में भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के पश्चात राज्य के अन्तर्गत ही उप–विभाजन की माँगे उठने लगीं हैं। परिणामस्वरूप क्षेत्रीय हितों के लिए आन्दोलन प्रारम्भ किये जा रहे हैं। महाराष्ट्र में विदर्भ, गुजरात में सौराष्ट्र, मध्य प्रदेश में विन्ध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश में पूर्वान्चल, बुन्देलखण्ड एवं हरित प्रदेश, जम्मू–कश्मीर में जम्मू एवं लद्दाख के लिए पृथक राज्यों की माँग एवं एतदर्थ आन्दोलन राज्यों के अन्दर बढ़ती प्रादेशिकवाद की प्रवृत्ति के ज्वलंत के उदाहरण हैं।

(4) रजनी कोठारी के शब्दों में, "देश के सामने एक खतरा संघ में राज्यों के अलग हो जाने का था।" कुछ लोगों ने आशंका प्रकट की थी कि प्रान्तीयता की भावना का प्रदेश के लिए अधिक अधिकार या स्वायत्तता की माँग बढ़ती गई तो इससे या तो देश अनेक छोट–छोटे स्वतन्त्र राज्यों में बँट जायेगा या यहाँ तानाशाही कायम हो जायेगी।

(5) पृथकता की भावना उन राज्यों में ज्यादा बलवान और खतरनाक है जहाँ ऐसी आर्येतर जातियॉ हैं जो भारतीय संस्कृति की धारा' में पूरी तरह मिल नहीं पाई हैं जैसे उत्तर–पूर्व की जनजातियों का क्षेत्र।

(6) प्रादेशिकवाद के विकास में राजनीतिक पार्टियों एवं राजनीतिज्ञों ने भी उत्प्रेरक का कार्य किया है। तमिलनाडु में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम, आन्ध्रप्रदेश में तेलगुदेशम्, महाराष्ट्र में शिव सेना, पंजाब में अकाली दल, असम में असम गण परिषद, उडीसा में बीजू जनतादल,

जम्मू-कश्मीर में नेशनल कान्फ्रेन्स आदि ऐसे क्षेत्रीय राजनीतिक दल हैं जो सदैव क्षेत्रीय हितों का समर्थन करते हैं जिससे राष्ट्रीय एकता एवं राष्ट्रीय हितों को नुकसान पहुँचता है।

1.2 प्रादेशिकवाद में उतार–चढाव

आन्ध्र प्रदेश के क्षेत्रवाद के आधार पर सेलिग हेरीसन ने बताया कि प्रादेशिकवाद देश के लिए खतरा है और यदि रोका न गया तो इससे देश की स्वतन्त्रता को भी खतरा उत्पन्न हो सकता है। इस प्रवृत्ति को इसलिए प्रोत्साहन मिला क्योंकि लोकतन्त्र की स्थापना के फलस्वरूप देश में प्रतियोगात्मक राजनीति को बढ़ावा मिला एवं आर्थिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा बढ़ी। इससे जो राष्ट्रीय एकता धरोहर के रूप में मिली थी उसकी भावना धीरे–धीरे कमजोर होने लगी। चौथे आम चुनावों मे नौ राज्यों में हुई कांग्रेस दल की हार से यह निष्कर्ष निकाला गया कि देश में क्षेत्रीय भावनाएँ उभर रही हैं और इसी कारण इन चुनावों को "प्रादेशिकवाद की राजनीति" का प्रतीक बताया गया। इन चुनावों से हम जब आगे बढ़ते हैं तो हमें लगता है कि कॉग्रेस पार्टी में भी अन्दरूनी तनाव बढ़ रहा है। इससे भी प्रादेशिकवाद की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। कांग्रेस विभाजन के समय तथा राष्ट्रपति के निर्वाचन में श्री वी० वी० गिरि को जिताने के लिए श्रीमती इंदिरा गॉधी (सत्ता कॉग्रेस) को डी० एम० के० जैसे क्षेत्रीय दल से मदद लेनी पड़ी। केन्द्र द्वारा क्षेत्रीय दलों से राजनीतिक गठबन्धन किया गया। इससे राज्यों के नेताओं का महत्व बढ़ने लगा। इन सभी कारणों से प्रादेशिकवाद को बल प्राप्त हुआ। साथ ही चीन के आक्रमण के पश्चात पं० नेहरू के व्यक्तित्व को भारी आघात पहुँचा जिससे विरोध के स्वर मुखरित होकर सामने आने लगे। जब लाल बहादुर शास्त्री प्रधानमन्त्री बने तो उनकी संपूर्ण शक्ति केवल भारत–पाक युद्ध को जिताने में लग गयी। दुर्भाग्य से उनके असामायिक निधन के कारण युद्धोपरान्त उनको इस दिशा में चिन्तन कर कुछ ठोस कदम उठाने का अवसर न प्राप्त हो सका। इसके बाद कॉंग्रेस में श्रीमती इंदिरा गॉधी के नेतृत्व को बनाने में राज्यों के नेतृत्व ने एक अहम् भूमिका अदा की। इससे राष्ट्रीय नेतृत्व कमजोर हुआ तथा राज्यों का व्यक्तित्व उभरा। किन्तु सन् 1971 ई० के भारत-पाक युद्ध एवं बांग्लादेश के अभ्युदय के सन्दर्भ में तथा सत्तारूढ़ दल द्वारा जगाई गई आकांक्षाओं के परिप्रेक्ष्य में यह शंका निराधार हो गयी। परिणामतः सन् 1972 ई० के पंचम

विधान सभाई चुनावों में क्षेत्रीयता लगभग समाप्त–सी हो गई। परन्तु इसके लिए सरकार को कई अप्रजातांत्रिक कदम भी उठाने पड़े।

निःसन्देह ही केन्द्र में अधिकांश समय तक सत्तारूढ़ रही कांग्रेस पार्टी की केन्द्रीकृत राजनीति एवं सभी राष्ट्रीय दलों द्वारा क्षेत्रीय एवं प्रादेशिक हितों के प्रति अपनायी जाती रही उदासीन एवं उपेक्षापूर्ण मनोवृत्ति के कारण विगत वर्षों में अनेक राज्यों में प्रादेशिकवाद व अलगाववादी प्रवृत्तियों मे वृद्धि हुई है तथा विभिन्न प्रदेशों में क्षेत्रीय दलों ने राष्ट्रीय दलों को सत्ताच्युत किया है। सन् 1996 ई० के ग्यारहवें, सन् 1998 ई० के बारहवें तथा सन् 1999 ई० के तेरहवें लोकसभा चुनाव परिणामों ने क्षेत्रीय दलों की प्रभावी उपस्थिति व अहम् भूमिका को स्पष्ट रूप में रेखांकित किया है। अनेक राजनीतिक समीक्षकों को इससे राष्ट्रीयता की चूलें हिलती दृष्टिगत होने लगी हैं।

1.3 प्रादेशिकवाद की अभिव्यक्ति

राज्य को प्रादेशिकवाद की अभिव्यक्ति की इकाई के रूप में मानने पर इसकी अभिव्यक्ति के तीन रूप हमारे सामाने आते हैं –

1.3.1 उपरि–राज्य स्तरीय प्रादेशिकवाद

यह वह स्थिति है जिसमें कई राज्य एक साथ मिले हुए दिखाई देते हैं और इस प्रकार यह प्रादेशिकवाद एक राज्य की सीमा से परे कई राज्यों की सीमा को छूता है इसीलिए इसे उपरि–राज्य स्तरीय प्रादेशिकवाद कहते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण उत्तर व दक्षिण भारत के बीच जो भाषाई तनाव होता है, उसमें देखने को मिलता है। इसे दक्षिण भारत के राज्य जो अंग्रेजी भाषा चाहते हैं, एक श्रेणी में तथा उत्तरी भारत के राज्य जो हिन्दी भाषा–भाषी हैं, दूसरी श्रेणी में वर्गीकृत हो जाते हैं। कई गैर-हिन्दी भाषी दक्षिण वाले राज्यों ने तो इसे 'भाषायी साम्राज्यवाद' तक की संज्ञा दे डाली है। इससे उत्तरी एवं दक्षिणी भारत के राज्यों के बीच दूरियाँ बढ़ी हैं।

1.3.2 अन्तर्राज्यीय प्रादेशिकवाद

इस प्रकार के प्रादेशिकवाद की इकाई राज्य होती है। इसमें एक राज्य दूसरे राज्य से प्रतिस्पर्द्धा करता हुआ तनाव एवं वैमनस्य की स्थिति में दिखायी देता है चाहे यह तनाव सीमा के प्रश्न पर हो अथवा जल के बॅटवारे के बारे में महाराष्ट्र-कर्नाटक सीमा के बीच विवाद अथवा कावेरी नदी के जल के बटंवारे को लेकर कर्नाटक एवं तमिलनाडु के बीच विवाद। यह विवाद इसी प्रकार स्टील प्लाण्ट या उद्योगों की स्थापना एवं यह आर्थिक सुविधाओं के लिए भी हो सकता है। जो उत्पाद किसी राज्य में अधिक हैं और आसानी से दूसरे राज्यों को बॉटना चाहते हैं। जैसे उत्तर प्रदेश में गेहूँ व पश्चिम बंगाल में चावल एवं जूट का आधिक्य है। परन्तु इनको अभावग्रस्त एवं कम उत्पादन वाले राज्यों/क्षेत्रों को भेजने में काफी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

1.3.3 अन्तरा–राज्यीय प्रादेशिकवाद

अधिकांश राज्य भारत में काफी बड़े हैं और उनका गठन या तो सन् 1948 ई० व सन् 1950 ई० के बीच हुआ या वे सन् 1956 ई० में पुनर्गठित हुए। इस प्रकार इनका निर्माण कई राज्यों एवं देशी रियासतों को मिलाकर किया गया है। इन नये राज्यों का अभी तक एक संगठित व्यक्तित्व उभर नहीं पाया है। यही कारण है कि राजनीतिक एकीकरण एवं भाषा के आधार पर एकीकरण के बावजूद इनका संगठित स्वरूप विकसित नहीं हो पाया है। परिणामस्वरूप विभिन्न स्थानीय इकाइयों का अस्तित्व यथावत विद्यमान है। जैसे तेलंगाना का आन्ध्र में, विदर्भ का महाराष्ट्र में, छत्तीसगढ़, मालवा, बघेलखंड एवं बुन्देलखंड का मध्यप्रदेश में, उत्तराचंल, बुन्देलखंड, पश्चिमी उत्तर प्रदेश एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश का उत्तर प्रदेश में तथा सौराष्ट्र का गुजरात में अपनी विशिष्ट पहचान है। स्थानीय समस्याओं एवं संवेदनाओं की अनदेखी करने पर कभी-कभी इन क्षेत्र विशेष के निवासियों द्वारा क्षोभ एवं आक्रोश व्यक्त किया जाता है। यह प्रवृत्ति इसलिए भी बढ़ती है क्योंकि एक राज्य के सम्पूर्ण भागों का सन्तुलित विकास नहीं हो पाता है। जिस भाग में मुख्यमन्त्री या अन्य प्रभावशाली मन्त्री होते हैं, उनके आर्थिक विकास पर विशेष ध्यान दिया जाता है। कभी–कभी राजनीतिक गुटबन्दी के कारण विकास में पक्षपात भी किया जाता है। अतः एक भाग की अपेक्षा अधिक श्रद्धा

रखते हैं। इस प्रकार क्षेत्रीय आधार पर आन्दोलनों का मार्ग प्रशस्त होता है। जैसे शिवसेना द्वारा ''महाराष्ट्र महाराष्ट्रियों के लिए'' तथा लक्षित सेना द्वारा ''आसाम आसामियों के लिए'' बोडोलैण्ड, बरकलैण्ड, कोडगू एवं पश्चिमी उत्तर प्रदेश (हरित प्रदेश) आदि के क्षेत्रीय आन्दोलन इसी श्रेणी में आते हैं। इसके पीछे भी अधिक राजनीतिक शक्ति की आकांक्षा तथा अधिक आर्थिक विकास की भावना पायी जाती है।

1.4 प्रादेशिकवाद के तत्व

प्रादेशिकवाद के उभरने में सहायक तत्वों को कई भागों में बांटा जा सकता है–

1.4.1 भू – सांस्कृतिक

देश के राज्यों की राजनीति में प्रादेशिकवाद की अभिव्यक्ति एवं इसे बल प्रदान करने में इस तत्व की प्रमुख भूमिका रही है–

1.4.1.1 भौगोलिक सीमायें

जब हम भारत में प्रादेशिकवाद की भौगोलिक आधार पर बात करते हैं तो हमारे समक्ष भौगोलिक सीमाओं के तीन रूप आते हैं (जैन, 1997, पृ० 280–81) :–

1.4.1.1.1 प्राचीन भौगोलिक सीमायें

यद्यपि देश में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राज्यों का राजनीतिक एकीकरण हुआ है तथा भाषा के आधार पर इनका पुनर्गठन कर बड़े–बड़े राज्य बनाये गये हैं फिर भी अतीत की भौगोलिक सीमायें हमारे स्मृति पटल पर अभी भी अंकित हैं। उदाहरणार्थ, आज भी राजस्थान के नागरिक अपने मानस में पुराने उदयपुर, जोधपुर, जयपुर आदि राज्यों की सीमाएँ या महाराष्ट्र में विदर्भ, आन्ध्र में तेलंगाना, कर्नाटक में मैसूर तथा गुजरात में सौराष्ट्र की भौगोलिक सीमायें बसाये हुए हैं। आज भी पुराने राज्यों एवं रियासतों को अत्यधिक सम्मान एवं आदर की दृष्टि से देखा जाता है। यह हमारी बँटी हुई निष्ठा के केन्द्रों के फलस्वरूप उत्पन्न भावना की प्रतीक है। यदि प्रशासन एवं सरकार में एक क्षेत्र के ज्यादा लोग हैं तो दूसरे लोग नाराज हो जाते हैं क्योंकि उनका प्रतिनिधित्व कम है। अधिक विकास के प्रस्तावों में भी इस प्रकार की शिकायतें अक्सर देखने को मिलती हैं जो कभी–कभी उग्र

रूप धारण कर लेती है। इसी जनभावना के तहत ही बहुत से पुराने रजवाड़े अपनी पुरानी रियासतों के निर्वाचन क्षेत्र पर अपना वर्चस्व बनाये हुए हैं।

1.4.1.1.2 नयी सीमायें

नयी सीमायें भी प्रादेशिकवाद में प्रधान भूमिका अदा करती हैं। नयी सीमाओं से निर्मित स्थानिक इकाइयों पर हम गर्व करने लगते हैं, तो यह सकारात्मक रूप है। किन्तु यही जब दो राज्यों के बीच विवाद का विषय हो जाता है तो यह नकारात्मक रूप ले लेता है। फिर चाहे यह संसाधनों के बॅटवारे को लेकर महाराष्ट्र-मैसूर के बीच विवाद हो या केरल-तमिलनाडु के बीच विवाद।

1.4.1.1.3 भावी सीमायें

भावी भौगोलिक सीमा की कल्पना भी प्रादेशिकवाद की भावना से उत्प्रेरित है। विशाल हरियाणा, विशाल पंजाब या वृहत नागालैण्ड की कल्पनायें प्रादेशिकवाद की ऐसी ही भावना को व्यक्त करती है। हाल में गठित उत्तरांचल, झारखंड एवं छत्तीसगढ़ ऐसे राज्यों के निर्माण में ऐसी भावना का योगदान रहा है। गोरखालैण्ड, बोडोलैण्ड, तेलंगाना, विदर्भ, बुन्देलखंड, पूर्वांचल, हरित प्रदेश ऐसे नये राज्यों के गठन हेतु आन्दोलन में ऐसी ही क्षेत्रीय भावनाओं एवं राजनीतिक स्वार्थों की भूमिका रही है (चित्र 1.1)। इन आन्दोलनों को संचालित करने वाले शीर्ष नेताओं के मस्तिष्क में भावी राज्य की सीमा विस्तार एवं क्षेत्र विस्तार का एक खाका होता है जिसके आधार पर ही वे अपनी रणनीति निर्धारित करते हैं।

1.4.1.2 जाति

जाति को दो भागों में बाँटकर प्रादेशिकवाद को बढ़ाने में इसकी भूमिका को देखा जा सकता है। प्रथम, अति प्रभावशाली जातीय प्रदेशों में जाति और प्रदेश की सीमायें एक दूसरे में समाहित हो जाती हैं। इसके विपरीत बहु जातीय प्रदेशों में परिस्थितियाँ अलग होती हैं जहाँ समाज काफी विभाजित होता है। सौभाग्य से प्रादेशिकवाद को बढ़ाने में जातीय समीकरणों की प्रमुख भूमिका नहीं रही है (जैन, 1997, पृ० 281)। जहाँ यह आर्थिक हितों,

भारत
संभावित राजनीतिक प्रारूप
N
पाकिस्तान
चीन
नेपाल
भूटान
म्यांमार
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
हिन्द महासागर
कश्मीर
लद्दाख
जम्मू
हिमाचल
पंजाब प्रदेश
चण्डीगढ़
हरियाणा
उत्तरांचल
दिल्ली
हरितप्रदेश
मारवाड़
राजस्थान
अवध
सिक्किम
गोरखालैण्ड
बोडोलैण्ड
अरुणाचल
असम
नागालैण्ड
मेघालय
मणिपुर
त्रिपुरा
मिजोरम
बरकलैण्ड
सीमाचल
पूर्वांचल
बिहार
झारखण्ड
पश्चिम बंगाल
गुजरात
बुन्देलखण्ड
महाकौशल
मालवांचल
छत्तीसगढ़
उड़ीसा
दीव
दमन
दादर और नगर हवेली
महाराष्ट्र
विदर्भ
आन्ध्र प्रदेश
यनम (पाण्डिचेरी)
गोवा
कर्नाटक
तेलंगाना
अंडमान और निकोबार
लक्षद्वीप
माहे (पाण्डिचेरी)
तमिलनाडु
पाण्डिचेरी
करैकाल (पाण्डिचेरी)
केरल
द्वीप समूह
अन्तर्राष्ट्रीय सीमा
प्रान्तीय सीमा
सम्भावित अन्तर्राज्यीय सीमा
राजधानी
प्रान्तीय मुख्यालय
100 0 100 200 300
किलोमीटर

चित्र 1.1

भाषायी समुदायों और धर्म के साथ जुड़े हैं वहॉ यह प्रादेशिकवाद को प्रबल बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं। जनजातीय क्षेत्रों में ये अधिक प्रभाशाली रहे हैं।

1.4.1.3 धर्म

धर्म बहुधा प्रादेशिकवाद को इतना बल नही देता जितना कि यह विभिन्न क्षेत्रों में एक-दूसरे को मिलाने में सहायक होता है। विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले मतावलम्बी एक दूसरे से निकटता एवं एकजुटता का अनुभव करते हैं। वे स्वधर्म की रक्षा हेतु बड़े से बडा बलिदान करने हेतु उद्यत हो जाते हैं। धर्म का उग्र एवं नकारात्मक रूप तब देखने को मिलता है जब दो धर्मो के मतावलम्बियों में प्रतिद्वन्दिता देखने को मिलती है अथवा एक धर्म को दूसरे से अस्तित्व का खतरा होता है। अल्पसंख्यक धार्मिक समुदाय सदैव भयाक्रान्त एवं असुरक्षित महसूस करता है। विघटनकारी शक्तियों के बहकावे में आकर यह प्रादेशिकवाद में उत्प्रेरक हो सकता है। कश्मीर एवं पंजाब के हिंसक एवं पृथकतावादी आन्दोलन में धर्म द्वारा प्रेरित उग्रवाद एवं प्रादेशिकवाद का योगदान रहा है (जैन, 1997, पृ० 281)।

1.4.1.4 भाषा

भाषा प्रादेशिकवाद का एक महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है। यहाँ तक कि प्रादेशिकवाद के विवेचन में "भाषायी प्रादेशिकवाद" का अलग से अस्तित्व है। असम एवं बंगाल के बीच भाषायी दंगे तथा तमिलनाडु मे हुए भाषायी आन्दोलन इसके उदाहरण हैं। भाषा के माध्यम से लोगों को एकत्रित करने में मदद मिलती है। लोग अपने भाषा के प्रति अत्यधिक संवेदनशील होते हैं। दो भाषायी समूहों में प्रतिद्वन्दिता देखी जाती है। आर्थिक पिछड़ेपन के सहयोग से यह प्रादेशिकवाद के विकास में सहायक होता है। भाषा से प्रादेशिकवाद को बल अवश्य मिलता है परन्तु यह एकान्तिक कारक नहीं है। एक भाषा के अन्दर भी प्रादेशिकवाद पनप सकता है जैसे, आन्ध्र प्रदेश में तेलंगाना आन्दोलन। तेलंगानावासियों का कहना है कि उनका अत्यधिक शोषण किया जा रहा है जिसके कारण उनके क्षेत्र का समुचित विकास नहीं हो पा रहा है (जैन, 1997, पृ० 281)।

1.4.1.5 इतिहास

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी प्रादेशिकवाद के विकास में परोक्ष रूप से सहायक होती है। इस पृष्ठभूमि से कभी-कभी किसी क्षेत्र को विशिष्ट स्थान प्राप्त हो जाता है। कालक्रम के दौरान यदि इस विशिष्टता में कभी कोई कमी हो जाती है तो जन–भावना आहत होती है। महाभारत काल से ही कुछेक अन्तरालों को छोड़कर दिल्ली देश की राजधानी रही है यदि आज इसे भारत सरकार अन्यत्र स्थानान्तरित करने लगे तो लोगों के उग्र विरोध का सामना करना पड़ेगा। गांधी, नेहरू, सुभाष, टैगोर, महाराणा प्रताप एवं शिवाजी इतिहास पुरुष एवं समूचे देश की धरोहर हैं। इन्हें किसी क्षेत्र और वर्ग से संबद्ध करना संकीर्णता एवं प्रादेशिकवाद का द्योतक है। दक्षिणी भारत में रावण पूजा एवं राम की प्रतिमा का निरादर ऐसी ही कुत्सित भावनाओं का प्रतीक है जो इतिहास एवं चिरस्थायी सांस्कृतिक परम्पराओं को तोड-मरोड़ कर प्रस्तुत कर राष्ट्रीय एकता को क्षति पहुचाना चाहते हैं।

1.4.1.6 प्रवासी बनाम भूमिपुत्र

भारत में इकहरी नागरिकता की प्रणाली है। भारत की नागरिकता के साथ व्यक्ति को प्रान्तों की नागरिकता स्वतः प्राप्त हो जाती है। प्रत्येक भारतीय नागरिक को देश के किसी भी प्रान्त में जाने एवं निवास की सुविधा प्राप्त है। परन्तु कई क्षेत्रों में अप्रवासियों एवं मूल निवासियों के बीच में विभेद किया जाता है। जनजातीय बहुल क्षेत्रों में ऐसा उनकी सांस्कृतिक विशेषताओं को संरक्षित रखने हेतु अथवा विकसित अप्रवासियों द्वारा मूल निवासियों की सम्पत्ति के हरण को रोकने के लिए किया जाता है। जम्मू-कश्मीर राज्य में किसी भी अप्रवासी को स्थायी सम्पत्ति निर्मित करने का अधिकार नहीं है। झारखण्ड में नौकरियों में भर्ती हेतु आदिवासियों को प्राथमिकता का प्रावधान है। कई प्रान्तों में विधिक प्रावधान न होने पर भी इस तरह के भेदभाव किये जाते हैं। शिवसेना द्वारा मुम्बई से गैर-महाराष्ट्रवासियों को निष्कासित करने की माँग इसी प्रकार की उग्र प्रादेशिकतावाद का द्योतक है। पश्चिम बंगाल में गैर-बंगालियों एवं तमिलनाडु में गैर-तमिलों के साथ भेदभाव की खबरें आती रहती हैं।

1.4.2 राजनीतिक कारक

राजनीति प्रादेशिकवाद को पैदा नहीं करती अपितु इसे बढ़ावा देती है। प्रादेशिक एवं क्षेत्रीय जन भावनाओं का राजनीतिक लाभ लेने के लिए देश में क्षेत्रीय स्तर पर अनेक राजनीतिक दलों का विकास हुआ है जैसे तेलंगाना प्रजा समिति, असम में असम गण परिषद्, आन्ध्र प्रदेश में तेलगुदेशम, तमिलनाडु में डी० एम० के० तथा ए० डी० एम० के०, पंजाब में अकाली दल तथा महाराष्ट्र में विदर्भ परिषद ऐसे अनेक राज्य स्तरीय एवं क्षेत्रीय दल हैं जिनमें से कुछ ने जन भावनाओं का दोहन करते हुए राजनीतिक सत्ता प्राप्त कर रखी है। ऐसे दलों द्वारा सदैव प्रादेशिक हितों को प्राथमिकता दी जाती है एवं राष्ट्रीय हितों की अनदेखी की जाती है। अपने अस्तित्व को बनाये रखने हेतु ये दल क्षेत्रीय मुद्दों को बढ़ावा देते रहते हैं।

1.4.3 आर्थिक व तकनीकी कारक

आर्थिक व तकनीकी कारक प्रादेशिकवाद की प्रवृत्ति को बढ़ाने में बहुत महत्वपूर्ण तत्व हैं। चूँकि हमारे देश में संसाधन सीमित हैं अतः लोगों का ध्यान इस बात की ओर सदा लगा रहता है कि संसाधनों का समान एवं न्यायसंगत बँटवारा हो रहा है या नहीं? भौगोलिक एवं सांस्कृतिक विविधताओं के कारण देश के सभी क्षेत्रों का एक समान विकास संभव नहीं है। कुछ क्षेत्र वाले यह आसानी से मान लेते हैं कि उनका राजनीतिक कारणों से शोषण हो रहा है एवं उनके क्षेत्र को विकास का समुचित लाभ नहीं दिया जा रहा है। इससे आम जनता में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आक्रोश एवं विद्रोह की भावना जनित होती है जिसे राजनीतिक एव निहित स्वार्थी तत्व भड़का कर अपना हित साधन करने लगते हैं। इसकी परिणति अलग राज्य अथवा स्वतंत्र देश की मॉग के रूप में होती है। दूसरी ओर तकनीकी विकास प्रादेशिकवाद की भावना को शिथिल करता है। जैसे राजस्थान नहर व भाखरा बॉध पंजाब और राजस्थान को एक-दूसरे के नजदीक लाने में सहायक हुए हैं। इन केन्द्रों में विभिन्न क्षेत्रों के व्यक्ति एक साथ रहते हैं जिससे राष्ट्रीय एकता बढ़ती है। अतः वैज्ञानिक और तकनीकी विकास प्रादेशिकवाद को बढ़ावा न देकर उसे सन्तुलित दिशा की ओर ले जाने का प्रयास करते हैं (जैन, 1997, पृ० 282)।

1.4.4 मनोवैज्ञानिक कारक

मनोवैज्ञानिक कारक का स्वयं का पृथक अस्तित्व नहीं है। परन्तु प्रादेशिकवाद जैसे–जैसे मजबूत होता है, उसमें मनोवैज्ञानिक तत्व की भूमिका बढ़ती जाती है एवं कालान्तर में वह स्वयं मे मौलिक स्वतन्त्र पृथक अस्तित्व प्राप्त कर लेता है। कभी–कभी ऐसा भी होता है कि अन्य तत्वों पर विजय प्राप्त कर लेने पर भी इस तत्व को निष्क्रिय करना मुश्किल हो जाता है (जैन, 1997, पृ० 282)। नागाओं का पृथकतावादी आन्दोलन नागाओं की इस मनोवैज्ञानिक विचारधारा से जुडा है कि उनका पृथक सांस्कृतिक अस्तित्व है एवं वे कभी भी दिल्ली के शासन के अधीन नहीं रहे हैं।

1.5 प्रादेशिकवाद का राजनीतिक स्वरूप

इसे निम्न बिन्दुओं के आधार पर विश्लेषित किया जा सकता है –

(क) प्रादेशिकवाद एवं राजनीति के बीच गहरा सम्बन्ध पाया जाता है। वास्तव में राजनीतिक एकीकरण से राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है, इससे समापन नहीं होता है। राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया को पूर्ण करने के लिये आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक समन्वयन आवश्यक है। हमने राजनीतिक एकीकरण प्राप्त कर लिया है परन्तु आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक समन्वयन के प्रति हमारे प्रयास अभी तक अधूरे हैं। यह संक्रमण कालीन स्थिति समूचे राष्ट्रीय समाज को आन्दोलित कर रही है।

(ख) भाषा के आधार पर यदि राज्यों का निर्माण नहीं होता तो यह सम्भव था कि प्रादेशिकवाद इतना उग्र रूप धारण नहीं करता तथा उसकी राजनीति इतनी जटिल नहीं हो पाती। मौरिस जौन्स का कहना है कि प्रादेशिकवाद का आधार भाषा नहीं अपितु आर्थिक विकास में असन्तुलन है तथा भाषायी पुनर्गठन से राज्य का व्यक्तित्व एकता के सूत्र में बँध पाया है तथा भारत विभिन्नता में एकता स्थापित कर पाया है। परन्तु कुछ अन्य विचारकों के अनुसार भाषा से प्रादेशिकवाद की तीव्रता बढ़ी है। यह कहा जा सकता है कि प्रादेशिकवाद की राजनीतिक शक्ति, व्यक्तिगत स्वार्थ तथा आर्थिक विकास की राजनीति है, इसमें भाषा की भूमिका बहुत सीमित है।

(ग) राजनीति प्रादेशिकवाद को जन्म नहीं देती अपितु उसको बल प्रदान करती है, उसे जटिल बना देती है। राजनीतिक स्वार्थ व्यक्तिगत एवं दलगत हितों से जुड़े होते हैं जिनकी पूर्ति हेतु प्रादेशिकवाद आदि का आश्रय लिया जाता है।

1.6 राजनीति में प्रादेशिकवाद का प्रयोग

राजनीति में प्रादेशिकवाद के प्रयोग के अनेक पक्ष सामने आते हैं, जैसे—

(क) प्रादेशिकवाद के आधार पर केन्द्रीय सरकार पर दबाव डाला जाता है तथा उससे अतिरिक्त लाभ व सुविधायें प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। चण्डीगढ़ के लिए पंजाब ने केन्द्र सरकार पर लगातार दबाव बना रखा है। इसी प्रकार तमिलनाडु ने श्रीमती इन्दिरा गांधी के अल्पमत सरकार के समय अधिक अनुदान प्राप्ति हेतु केन्द्र पर दबाव डाला था। इसी प्रकार महाराष्ट्र-कर्नाटक सीमा विवाद में दोनों ही राज्यों ने केन्द्र पर दबाव बना रखा है। मिली-जुली सरकार होने पर सहयोगी दल दबाव की राजनीति से अपने उद्देश्यों की पूर्ति करते रहते हैं।

(ख) प्रादेशिकवाद का सहारा लेकर राजनीतिक दल और क्षेत्रीय गुट राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति का प्रयास करते है। वे अपनी स्थिति को मजबूत क़रने के लिए प्रादेशिकवाद का सहारा लेने में भी नहीं चूकते हैं। शिव सेना, तेलंगाना प्रजासमिति, तेलगुदेशम्, अकाली दल आदि राजनीतिक दलों का विकास क्षेत्रीय आधार पर हुआ है। उम्मीदवारों का चुनाव क्षेत्रीय आधार पर किया जाता है। जनता से प्रादेशिक मुद्दों के आधार पर वोट माँगे जाते हैं। जब तक क्षेत्रीय मॉगे पूरी नहीं होती तब तक यह प्रयोग सफल होता रहता है। डी० एम० के०, तेलगुदेशम, अकाली दल आदि की प्रान्तीय सरकारों ने केन्द्र सरकार पर कई बार ऐसे दबाव बनाये हैं। केन्द्र में किसी भी राष्ट्रीय दल के साथ स्पष्ट बहुमत में न होने पर मिली जुली सरकार की स्थिति में क्षेत्रीय दलों को अपनी मॉगों को मनवाने का काम और भी आसान हो जाता है।

(ग) वितरणात्मक न्याय को भी क्षेत्रीय आधार पर माँगा जाता है। जब एक राज्य में कुछ क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होते हैं तथा कुछ पिछड़े तो पिछड़े हुए क्षेत्र न्याय की

मॉग करते हैं जैसे तेलंगाना, पूर्वी राजस्थान, पूर्वी उत्तर प्रदेश, विदर्भ, बुन्देलखंड आदि। राजनीतिज्ञ– सामाजिक न्याय की मॉग को बहुधा अपने या गुट के नेतृत्व को प्रभावशाली बनाने की आकांक्षा से जोड देते हैं। ऐसी स्थिति मे ये न केवल सामाजिक न्याय की मॉग करते हैं अपितु अपने व अपने गुट के प्रभाव को उभारने के लिए भी प्रयत्नशील रहते हैं। आन्ध्र प्रदेश में ब्रह्मानन्द रेड्डी बनाम चेन्ना रेड्डी के आपसी व्यक्तित्व–संघर्ष को आन्ध्र–तेलंगाना विवाद से जोडा जा सकता है।

(घ) राजनीति में प्रादेशिकवाद का प्रयोग उसकी शैली पर निर्भर करता है। जब नकारात्मक प्रादेशिकवाद का पुट राजनीति को मिल जाता है तो राजनीति की शैली संवैधानिक न रहकर आन्दोलनात्मक एवं हिंसात्मक बन जाती है। शिव सेना का जो उग्र रूप मुम्बई में रहा है वह इसका उदाहरण है। इसी प्रकार तमिलनाडु में भाषाई दंगे, तेलंगाना के लिए आन्ध्र-प्रदेश में आन्दोलन व असम एवं पश्चिम बंगाल के बीच भाषायी दंगे आदि ऐसे ही उदाहरण हैं।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि राजनीति की प्रादेशिकता को प्रभावित करने में प्रमुख भूमिका रही है। परन्तु प्रादेशिकवाद केवल राजनीति का ही उपज नहीं है। इसका कारण मुख्यतः आर्थिक है जिसमें राजनीति उत्प्रेरक का कार्य करती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

जैन, एस० एन०, 1997 : **भारतीय संविधान, शासन और राजनीति,** राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

श्रीवास्तव, ओम प्रिया, 1996 : **भारतीय संविधान, शासन और राजनीति,** सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, वाराणसी।

अध्याय – 2

प्रादेशिकवाद के उत्पत्ति के कारक

भारत भौतिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं विविधताओं का समष्टि है। ये विविधतायें उसके विशाल आकार एवं भौगोलिक गुणों से सम्बद्ध हैं। तीन तरफ से समुद्रों से आवृत एवं उत्तर में पर्वतीय बाधा से अलग–थलग किये जाने के कारण जहॉ एक तरफ इसे पूर्ण भौगोलिक इकाई का स्वरूप प्रदान किया है वहीं आन्तरिक विषमताओं ने विविधताओं के उद्भव में कम योगदान नहीं किया है। अतीत में यहाँ कई मानव समाजों के आपस में मिलने का अवसर मिला है जिससे सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता में और भी वृद्धि हुई है। यद्यपि भारतीय संस्कृति का प्रभाव समूचे देश पर व्याप्त है परन्तु माध्यमिक एवं सूक्ष्मस्तर पर यह अनेकों विविधताओं को समेटे हुए है। यही विविधता उत्प्रेरित होकर कभी–कभी प्रादेशिकता एवं प्रादेशिकवाद में परिणत हो जाती है जो राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रीय एकता को कमजोर करते हैं। प्रस्तुत अध्याय में प्रादेशिकवाद के उत्पत्ति में सहायक कारकों के विवेचन का प्रयास किया गया है।

भारत के इतिहास के अध्ययन से यह ज्ञात होता है अधिकांश काल तक यह छोट–छोटे राज्यों/रियासतों में ही बँटा रहा है। बीच–बीच में ही कतिपय राजाओं एवं राजवंशों द्वारा इन्हें एक राजनीतिक छत्र के नीचे लाने के प्रयास किये जाते रहे हैं। केन्द्रीय प्रशासन के कमजोर होने पर विलगाववादी शक्तियों ने अपने प्रभाव को पुर्नस्थापित करने में विलम्ब नहीं किया है। ऐसे ही समय में विदेशी आक्रमण हुए हैं एवं देश को अपमानजनक स्थिति के मध्य से गुजरना पड़ा है।

मौर्यों से लेकर मुगलों तक विभिन्न प्रशासनिक इकाइयों एवं स्थानीय निकायों को प्रशासन में काफी स्वायत्तता प्राप्त थी प्राचीन काल में प्रत्येक प्रान्त का अपना पृथक अस्तित्व था। ये सभी इकाइयॉ स्थानीय प्रशासकों एवं एजेन्टों द्वारा केन्द्रीय शासन से भली–भांति सम्बद्ध थी। इनमें अपनी स्थानीय भाषा का प्रयोग किया जाता था। जब कभी भी किसी महत्वाकांक्षी सम्राट ने स्थानीय स्वायत्तता का दमन कर केन्द्रीयकरण का प्रयास किया, लोगों

ने उसका कड़ा विरोध किया। इस कारण सम्पूर्ण केन्द्रीयकरण न केवल अनुशासनिक दक्षता के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ अपितु इसका एक प्रतिकूल परिणाम यह भी हुआ कि उप–राष्ट्रीय शक्तियों पर दृढतापूर्वक और स्थायी आधार पर नियन्त्रण बनाये रखने की केन्द्र की क्षमता भी कम हो गई। अन्तिम मुगल सम्राट ने सत्ता के केन्द्रीयकरण की भरपूर कोशिश की और क्षेत्रो की परम्परागत विविधताओं और उनकी स्वायत्तता को समाप्त करने का भी भरसक प्रयास किया। किन्तु उनकी मृत्यु के वाद ही क्षेत्रीय शक्तियों ने केन्द्रीय सत्ता को अमान्य घोषित कर दिया। प्रान्तो के गर्वनरों और स्थानीय सरदारों ने अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने पर जोर दिया और पूरा ढॉचा ही चरमरा गया।

ब्रिटिश सरकार ने भी अपने शासन के आरम्भ में पूरी सत्ता का केन्द्रीयकरण करने का प्रयास किया लेकिन डलहौजी की 'हड़पनीति' से उसे शीघ्र ही यह अहसास हो गया कि भारत जैसे विशाल और विविधतापूर्ण देश पर सत्ता का विकेन्द्रीकरण किये बिना अथवा प्रान्तों और स्थानीय निकायों को सत्ता में भागीदार बनाये बिना प्रशासन कायम रखना सम्भव नहीं। सन् 1857 ई० के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम में ब्रिटिश शासन ने इस तथ्य का पता कर लिया था कि ब्रिटिश शासन को बनाये रखने के लिये भारत में देशी रजवाड़े ही शक्ति के स्रोत हो सकते हैं। फलस्वरूप ब्रिटिश शासन ने अपनी 'प्रत्यक्ष शासन प्रणाली' का और अधिक विस्तार न करके उन राज्यों में 'अप्रत्यक्ष शासन प्रणाली' को वरीयता दी। परन्तु 562 रजवाड़ों में से अधिकांश कुछ ही सीमा तक स्वायत्त थे। सभी महत्वपूर्ण मामलों में व्यवहारिक रूप से वे ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों की तुलना में ब्रिटिश शासन का आधिपत्य अधिक स्वीकार करते थे। सुदूर तथा दुर्गम क्षेत्रों में मजबूत स्थानीय जनजातीय परम्परा और विश्वासों का समुचित आदर किया जाता था और इन क्षेत्रों ने लम्बे समय तक अपने–अपने क्षेत्रों में विभिन्न सीमाओं तक अपनी स्वायत्तता को बनाये रखा।

देश के आकार और विविधता को देखते हुए बहुत अधिक केन्द्रीयकृत प्रशासन सर्वथा असंगत होता है। इससे प्रशासनिक अक्षमता तथा स्थानीय असन्तोष जन्म लेता है। कुछ विकेन्द्रीकरण करना अनिवार्य होता है। किन्तु एक सीमा से अधिक विकेन्द्रीकरण करने से अनेक तरह की समस्याओं का जन्म होता है, उदाहरणार्थ वित्त व्यवस्था के विकेन्द्रीकरण करने से भारत में विश्रृंखलित राजनीतिक प्रणाली के विकास को बढ़ावा मिला। भारतीय

राष्ट्रीय कांग्रेस और बाद में गठित अन्य राजनीतिक दलों के लम्बे संघर्ष के परिणामस्वरूप भारतीय राष्ट्रवाद का अभ्युदय हुआ।

ब्रिटिश शासन ने राष्ट्रीय आन्दोलन की बढ़ती हुई मॉगों और निरन्तर बढ़ते हुए दबावो के परिणामस्वरूप अपनी नीति में परिवर्तन करते हुए अधिक से अधिक शक्तियॉ प्रान्तों को हस्तान्तरित करना शुरू कर दिया और उन्होंने एक ओर तो भारतीयों का अधिक से अधिक सहयोग लेना प्रारम्भ कर दिया और वहीं दूसरी ओर उन्होंने विघटनकारी शक्तियों को बढावा देना प्रारम्भ कर दिया। लार्ड रिपन ने सन् 1882 ई० में स्थानीय स्व–शासी सरकार की शुरूआत भारतीयों के सहयोग से की। भारत सरकार अधिनियम 1919 (मान्टेग्यू–चेम्सफोर्ड सुधार) से द्वैध शासन यानि द्विस्तरीय राज्य व्यवस्था का शुभारम्भ हुआ। इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रान्तों में छोटे पैमाने पर प्रतिनिधि सरकार की स्थापना को स्वीकार करते हुए प्रान्तीय सरकारों के लिए केन्द्र से भिन्न कार्य क्षेत्र निर्धारित किये गये। प्रान्तों में न केवल प्रशासनिक क्षेत्र की बल्कि विधायी और वित्तीय क्षेत्रों की शक्तियॉं भी प्रत्यायोजित की गई।

भारत जैसे विशाल देश में वही राजतन्त्र या शासन प्रणाली कायम रह सकती है जो देश की एकता और अखण्डता की रक्षा कर सकती हो, बाहरी आक्रमणों एवं आन्तरिक उपद्रवों से देश की रक्षा कर इसकी सम्प्रभुता बनाये रख सकती हो, जिसमें एक सुदृढ़ शासन व्यवस्था हो, जिसके पास सर्वोच्च शक्तियॉं हों और जो देश की पारम्परिक विविधताओं को भी बनाये रखने में समर्थ हो।

आधुनिक भारत में प्रादेशिकवाद एक जटिल और कठिन समस्या बनता जा रहा है। यहॉ प्रादेशिकवाद की व्यापकता के भौगोलिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सास्कृतिक और मनोवैज्ञानिक आदि अनेक कारक हैं। जब हम स्वाधीनता संग्राम और विदेशी सत्ता के पराभाव के लिए उद्वेलित भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो हमे विदित होता है कि भारत में राष्ट्रीय भावना का दृढ़ीकरण प्रदेशीय जागरूकता के माध्यम और आधार द्वारा जुडा हुआ था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त प्रदेशीय जागरूकला का मूल लक्ष्य भारत की मूलधारा में रहकर ही राजनीतिक और आर्थिक सत्ता में भागीदार करना

था। देश की एकता और अखण्डता में प्रादेशिकवाद ने निश्चय ही पूर्ण सहयोग दिया है किन्तु समय बीतने पर प्रादेशिकवाद ने अपना सिर उठाना आरम्भ कर दिया। इसमें अनेक कारकों का योगदान देखा जा सकता है। इसमें राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, भाषायी, धार्मिक, भौगोलिक तथा मनोवैज्ञानिक कारक अधिक प्रभावी रहे हैं।

2.1 राजनीतिक कारक

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि राजनीतिक सत्ता प्राप्ति की ओर घोर उत्सुकता ने भारत में प्रादेशिकवाद को अतिशय रूप में प्रबल किया है। केवल स्थानीय राजनीतिक नेताओं ने ही नहीं, अपितु अखिल भारतीय स्तर के राजनीतिक नेताओं और दलों ने भी प्रादेशिकवाद को बढ़ावा दिया है। राजनीतिक महत्वाकांक्षी नेताओं ने जाति, धर्म तथा क्षेत्रीय समुदाय को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए उनकी क्षेत्रीय समस्याओं को विकट बताते हुए स्वयं उनको भड़काया कि राष्ट्रीय जीवन में अमुक–अमुक क्षेत्र पिछड़ रहे हैं और वे उनके हिमायती हैं। इस प्रकार के प्रचार ने क्षेत्र विशेष के लोगों के मन में यह विश्वास जगाया कि वे राजनीतिक दृष्टि से उपेक्षित हैं। भारत जैसे देश में जहाँ आधुनिकीकरण और पाश्चात् विचारधारओं के सन्दर्भ में आर्थिक उद्देश्य तो असीमित हों, परन्तु विकास की प्रक्रिया धीमी हो, वहाँ राजनीति का महत्व बढ़ने लगा। सन् 1947 ई० में स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त राजनीति के इस महत्व को सभी समझने लगे और आकांक्षाओं में वृद्धि हुई। किन्तु लोकतन्त्र में राजनीतिक प्रक्रियाओं की गति कुछ ऐसी रही है कि सम्पूर्ण देश को एक समान स्तर पर राजनीतिक लाभ नहीं मिल सका है। ऐसा सम्भव भी नहीं है। क्षेत्र विशेष की अपनी सीमाएं होती हैं, जिनके कारण राजनीतिक हित समान गति और रूप में प्राप्त नहीं किये जा सकते किन्तु इस बात को समझने के स्थान पर असन्तुलन को मुद्दा बनाकर चुनाव में मत माँगने से, क्षेत्र विशेषों के असन्तोषों में वृद्धि हुई। राष्ट्रीय स्तर के राजनीतिक दलों के आन्तरिक मतभेद तथा आपसी प्रतिद्वन्दिता ने भी प्रादेशिकवाद को बढ़ावा दिया है। भारत में प्रादेशिकवाद की राजनीति अनेक जटिल कारकों का सम्मिश्रण है। आन्ध्र प्रदेश में तेलगुदेशम् पार्टी का उद्भव एक क्षेत्रीय राजनीतिक दल के रूप में हुआ, परन्तु यथार्थ में यह राज्य के अभिजन वर्गों के मध्य प्रतिद्वन्दिता का परिणाम थी। आन्ध्र प्रदेश में रेड्डी और काभा दो प्रमुख जातियाँ हैं। राजनीतिक क्षेत्र में इनकी प्रतिद्वन्दिता का प्रतिनिधित्व क्रमशः कांग्रेस और तेलगुदेशम् द्वारा

किया जाता है। तेलगुदेशम् के संस्थापक नेता एन०टी० रामाराव ने ''तेलगु आत्म–सम्मान'' के नाम पर लोगों को संगठित किया। इस प्रकार रामाराव ने प्रादेशिकवाद की राजनीति का प्रयोग कांग्रेस का वर्चस्व तोडने के लिए किया और इसमें उन्हें काफी सीमा तक सफलता भी मिली। कांग्रेस के आपसी मतभेदों ने तेलंगाना आन्दोलन को बढ़ावा दिया। इसी प्रकार महाराष्ट्र में शिव सेना की सफलता तथा पंजाब में अकाली दल की सफलता प्रादेशिकवाद की राजनीति के परिणाम हैं। विरोधी दलों ने भी क्षेत्रीय दलों के समर्थन का सहारा लेते हुए प्रादेशिकवाद को उभाड़ा।

राजनीतिक पार्टियाँ कभी–कभी धार्मिक, जातीय और भाषा सम्बन्धी जामा पहने होती हैं जिससे कि लोगों की लोकप्रिय भावनाओं को उकसाना उनके लिए सरल हो जाए। धर्म और भाषा की आड़ लेकर ये दल एक क्षेत्र विशेष के लोगों को यह लालच दिखाते हैं कि उनके अपने प्रदेशों को शीघ्र ही एक स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त होने वाली है जिसके बाद वे अपने क्षेत्र के समस्त खोए हुए गौरव व परम्पराओं को पुनर्जीवित करने में सफल हो सकेंगे। इस प्रकार क्षेत्रीय दल क्षेत्रीयता के विकास के एक महत्वपूर्ण कारक बन जाते हैं। इतना ही नहीं, क्षेत्रीय नेताओं का भी इस दिशा में पर्याप्त सहयोग रहता है। ये क्षेत्रीय नेता प्रतिभाशाली व्यक्ति होते हैं और केन्द्रीय सरकार पर न केवल अपना प्रभाव विस्तृत किये होते हैं अपितु अपने क्षेत्रीय स्वार्थों की सिद्धि के मामले में केन्द्रीय सरकार की उपेक्षा करने में भी नहीं हिचकते। ये नेता केवल अपने ही क्षेत्र के विषय में सोचते हैं और अन्य क्षेत्रों के स्वार्थों को कुचल देने में उन्हें संकोच नहीं होता है (मुकर्जी, 2001, पृ० 426)।

प्रादेशिकवाद की भावना के विकास से लाभकारी परिणाम भी मिल सकते हैं, परन्तु आज भारत में प्रादेशिकवाद का जो स्वरूप उभरा है, वह हानिकारक है। 1980 के दशक के बाद से भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय शक्तियाँ प्रभावी भूमिका निभाने लगी हैं, जिससे राष्ट्रीय हित गौण होता जा रहा है। अब केन्द्रीय सत्ता में क्षेत्रीय शक्तियों के दबाव में ही कार्य-संचालन होता है, जिससे राष्ट्रीय स्तर की कई समस्यायें पृष्ठभूमि में चली जाती हैं और क्षेत्रीय समस्यायें प्रमुखता प्राप्त कर लेती हैं। दक्षिण भारत में बहुत पहले से ही क्षेत्रीय शक्तियाँ प्रभावी रही हैं, किन्तु अब उत्तर और पूर्वी भारत में भी इनका वर्चस्व स्थापित हो गया है। आज जिस प्रकार राष्ट्रीय राजनीतिक दलों को प्रत्येक राज्य में क्षेत्रीय दलों के साथ

गठबन्धन के लिए झुकना पड़ रहा है, वह इस स्थिति को स्पष्ट कर देता है। प्रादेशिकवाद के विकास के कारण केन्द्रीय राजनीति अस्थिर हो गई है और प्रत्येक क्षेत्रीय समूह द्वारा व्यक्तिगत हितों को प्रमुखता दिये जाने के कारण राष्ट्रीय हित की अनदेखी हो रही है। शिव सैनिकों द्वारा जिस प्रकार 'महाराष्ट्र मराठियों के लिए' नारा बुलन्द किया गया और दूसरे राज्यों के लोगों को राज्य से निकालने की धमकी दी गई तथा असम गणपरिषद् द्वारा 'असम माता पहले, भारत माता बाद में' का नारा बुलन्द किया गया। इसी प्रकार सन् 2002 ई० में झारखण्ड सरकार की विवादास्पद 'डोमीसाइल नीति' जिसके तहत उन्हीं लोगों को राज्य की सेवा में स्थान दिया जायेगा, जिनके पूर्वजों ने सन् 1935 ई० से पूर्व राज्य में जमीन खरीद ली हो। इससे तो यही स्पष्ट होता है कि आज राष्ट्रीय हित की खुलेआम अनदेखी की जा रही है।

2.2 आर्थिक कारक

यदि किसी राज्य विशेष का एक क्षेत्र पिछड़ा हुआ है एवं अन्य क्षेत्रों का समुचित विकास हुआ है तो पिछड़ा हुआ क्षेत्र स्वयं को उपेक्षित मानने लगता है और पृथक अस्तित्व की माँग करने लगता है। उदाहरणार्थ, आन्ध्र प्रदेश में तेलंगाना आन्दोलन, महाराष्ट्र में पूर्व काल में शिव सेना द्वारा चलाया गया आन्दोलन, असम में आल असम स्टूडेन्ट यूनियन (AASU) तथा आल असम गण संग्राम परिषद (AAGSP) द्वारा चलाये गये आन्दोलनों के पीछे यही मुख्य कारक हैं।

स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त भारत की आर्थिक दुर्दशा का कारण विदेशी शोषण और शासन बताते हुए, आर्थिक पुनर्निर्माण की बात कही गयी और अनेक वायदे किये गये। आश्वासन और सांत्वना से अपेक्षाओं की आशा बढ़ी, परन्तु वस्तु स्थिति यह है कि अनेक आर्थिक उपलब्धियों के उपरान्त भी देश आर्थिक क्षेत्र में अविकसित है। स्रोत कम और माँगें अधिक होने से आर्थिक स्रोतों को प्राप्त करने और क्षेत्र विशेष की आर्थिक प्रगति पर विशेष ध्यान दिये जाने के लिए प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हुई। वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों में यह प्रतिस्पर्धा क्षेत्रों के आधार पर क्रियाशील है। हमारे देश में पर्याप्त संसाधनों की उपलब्धता के बावजूद बिहार, झारखण्ड, छत्तीसगढ़, पश्चिम बंगाल, असम, उड़ीसा और हिमाचल प्रदेश जैसे

राज्यों का आशा के अनुरूप आर्थिक विकास नहीं हो पाया है, जबकि अपेक्षाकृत कम संसाधनो की उपलब्धता के बावजूद गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, पंजाब, हरियाणा आदि राज्यों का पर्याप्त आर्थिक विकास हुआ है। पिछडे राज्यों का मानना है कि ऐसा सरकार की दोषपूर्ण दोहरी नीतियों के कारण ही हुआ है, इसलिए ये राज्य विकसित राज्यों के साथ सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाये हैं। इस कारण इन राज्यों में प्रादेशिकवाद की भावना का विकास हुआ। आर्थिक कारकों का एक अन्य पहलू यह भी है कि भारत में विकास के अन्तर्गत नई पूंजीवादी व्यवस्था, समाजवादी व्यवस्था और पूंजीवाद से पहले की अर्थव्यवस्था को मिश्रित किया गया है। इस मिश्रण में अनेक विरोधाभास हैं जिन्होंने प्रादेशिकवाद को बढ़ावा दिया है। मॉग तथा उत्पादन में अन्तर को दृष्टि में रखते हुए, यह कहा जा सकता है कि इससे सभी क्षेत्रों में स्पर्धा उत्पन्न होती है। एक ओर कुछ क्षेत्रों में मध्य वर्ग वहाँ पर उपलब्ध स्रोतों का अपने अधिकाधिक विकास के लिए क्षेत्रीय स्वायत्तता की मॉग करता है (जैसे पंजाब, हरियाणा आदि) तो दूसरी ओर अविकसित क्षेत्रों के लोग केन्द्र द्वारा उपेक्षा की भावना से ग्रस्त होकर क्षेत्रीय आधार पर संगठित होते हैं। आर्थिक कारकों में से एक अन्य कारक यह भी है कि सार्वजनिक क्षेत्रों में उद्योग लगाने तथा आर्थिक प्रबन्ध करने सम्बन्धी नीतियों को अपने अनुकूल बनवाने के लिए विभिन्न क्षेत्र केन्द्र पर दबाव डालते हैं। सत्ताधारी दल पर अधिक प्रभाव रखने वाले दबाव समूह तथा राजनीतिक सौदेबाजी करने वाले समर्थ क्षेत्र इसमें सफल होते हैं। इससे अन्य क्षेत्रों में उपेक्षित होने की भावना बढ़ती है। सन् 1966 ई० में केन्द्रीय सरकार द्वारा विशाखापट्टनम में लोहे के बड़े कारखाने नहीं लगाये जाने से आन्ध्र प्रदेश में आन्दोलन होना इसका उदाहरण है। विकास की प्रक्रिया में असमानता और असन्तुलन होना स्वाभाविक है। क्षेत्रों की स्थिति, कच्चे माल की उपलब्धता, श्रम और भौगोलिक परिस्थितियों से विभिन्न क्षेत्रों में विकास की गति समान नहीं हो सकती है। फिर भी इससे असन्तुलन तो उत्पन्न होता है और प्रादेशिकवाद को बढावा मिलता है। आर्थिक असन्तुलन में रोजगार की समस्या की भी प्रमुख भूमिका है। यद्यपि शिक्षा का प्रसार सभी राज्यों में हुआ है, अस्तु प्रतियोगिता के आधार पर सरकारी सेवाओं में रोजगार दिये जाने की व्यवस्था ने केन्द्रीय सेवाओं में पहले से ही विकसित राज्यों के प्रत्याशियों को अधिक सफलता के अवसर दिये हैं। पिछड़े क्षेत्रों के शिक्षित बेरोजगार लोग अपने ही राज्य में अन्य राज्यों के लोगों को उच्च सरकारी पदों पर कार्य करते देखकर कुंठित एवं उपेक्षित अनुभव

करते हैं। उत्तर–पूर्वी सीमा पर इस उपेक्षा का अधिक प्रभाव देखने को मिलता है। असम आन्दोलन में यह एक प्रमुख मुद्दा रहा है। इन सभी तथा अन्य अनेक आर्थिक कारकों से भारत में प्रादेशिकवाद को बढावा मिला है।

किसी भी देश के सम्पूर्ण विकास के लिये समृद्ध वर्ग की समृद्धि के साथ–साथ जनता में धन का उचित बँटवारा होना आवश्यक है। देश की 30 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या गरीबी की रेखा से नीचे जीवन यापन करने हेतु विवश है। इसका प्रतिफल यह होता है कि लोग राजनीतिक दलो के प्रलोभन मे बड़ी सरलता से आ जाते हैं तथा ऐसे कार्यो मे संलग्न हो जाते हैं जिससे देश की एकता और अखण्डता खतरे में पड़ जाती है। देश में विद्रोही, नक्सलवादी, आतंकवादी जैसी गतिविधियों के पीछे अन्य अनेक कारकों में आर्थिक कारक एक महत्वपूर्ण कारक है। पश्चिमी जगत के विकसित देशों में इस प्रकार की गतिविधियां बहुत कम दिखायी देती हैं।

भारत के बहुत से प्रान्त, क्षेत्र या इलाके आर्थिक और औद्योगिक रूप से अन्य प्रान्त, क्षेत्र या इलाकों की तुलना में काफी पीछे हैं। आर्थिक असमानतायें अधिक हैं। आर्थिक एकीकरण की समस्या के बहुत पहलू हैं, उदाहरण के लिए देश के उत्तर–पूर्वी क्षेत्र भारी आर्थिक असन्तुलन वाले क्षेत्र हैं। पूर्वोत्तर भारत की जनता की असली पीड़ा यह है कि पिछले 55 वर्षों में उनकी घोर उपेक्षा की गयी है। इन क्षेत्रों में तेल तथा खनिज भारी मात्रा में उपलब्ध है परन्तु इसके अनुपात में इन क्षेत्रों का समुचित आर्थिक विकास नहीं हुआ है। इस कारण से पूर्वोत्तर भारत में अलगाववाद का जन्म हुआ। मिजोरम में हिंसक घटनाएं हुईं। त्रिपुरा में "जन मुक्ति संगठन सेना" ने स्वतन्त्र त्रिपुरा का नारा बुलन्द किया। नागालैण्ड में विद्रोह का स्वर अब शान्त है, पर नागा जाति को राष्ट्र की मुख्य धारा से जोड़ना जरूरी है (श्रीवास्तव, 1996, पृ० 330–331)।

आर्थिक विषमताओं के बढ़ने से देश का समुचित विकास नहीं हो पाता है। देश के जिन भागों में उद्योग और व्यापार की अधिक प्रगति हुई, वहाँ रोजगार के ज्यादा साधन उपलब्ध हैं। शेष स्थानों में रहने वाले लोगों का जीवन ऊँचा नहीं उठ पा रहा है जिससे आर्थिक विषमता बढ़ती है और पृथकतावादी शक्तियों को बढ़ावा मिलता है। आदिवासी और

पहाड़ी क्षेत्र आज भी अन्य प्रदेशों की अपेक्षा बहुत पिछड़े हुए हैं। बिहार, मध्य प्रदेश और उडीसा के आदिवासी क्षेत्रों के लिए सन् 1971–72 ई० में ''आरम्भिक परियोजना'' नामक एक विशेष कार्यक्रम शुरू किया गया, पर वास्तविकता यह है कि आदिवासी क्षेत्र आज भी शोषण और उपेक्षा के शिकार हैं। गुजरात, तमिलनाडु और आन्ध्र प्रदेश के आदिवासी इलाकों के लोग मध्ययुगीन आर्थिक शोषण की स्थिति में रह रहे हैं। हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश और तमिलनाडु के पहाडी क्षेत्रों में किसानों के जीवन स्तर में सुधार के कई ''अग्रगामी परियोजनायें'' शुरू की गई परन्तु आर्थिक कार्यक्रम की अभिपूर्ति में सरकारी एजेंसियों की शिथिलता को लेकर क्षोभ व्याप्त है (श्रीवास्तव, 1996, पृ० 330)।

एक सशक्त केन्द्र शक्तिशाली राज्यों की पूर्व कल्पना करता है। चूँकि भारत राज्यों का संघ है, इसलिए जब तक राज्य शक्तिशाली नहीं होंगे तब तक संघ भी सशक्त नहीं हो सकता। भारत जैसे विशाल देश में विविध कारक जैसे ऐतिहासिक, जनसांख्यिकीय, आर्थिक और सामाजिक–सांस्कृतिक अपना–अपना प्रभाव डालते हैं। यहाँ ऐसे राज्य हैं जिनके पास विशाल तथा विविध खनिज संसाधन हैं लेकिन सामान्यतः केन्द्रीय एजेंसियाँ उनका लाभ उठाती हैं और राज्यों को केवल नाममात्र की रायल्टी ही मिलती है। इन राज्यों के पास जल जैसे नवीकरणीय संसाधनों का लाभ उठाने के साधन भी नहीं हैं। दूसरी ओर इनके मुकाबले में अन्य प्रगतिशील राज्य भी हैं जिनके पास अपेक्षाकृत आधुनिक कृषि या औद्योगिक आधार हैं। पिछले कई वर्षों से राज्यों के बीच असमानता बढ़ती जा रही है जिससे गरीब क्षेत्र और भी गरीब होते जा रहे हैं। इसलिये पिछड़े राज्यों की माँग है कि केन्द्र को राष्ट्रीय महत्व के मामलों में निर्णायक अधिकार प्राप्त हो और वहाँ की जनता की आवश्यकताओं तथा इच्छाओं के अनुरूप उन्हें आवश्यक धन राशि दी जाए और वे इस धन का प्रयोग जनता की अधिकाधिक भलाई के लिए करें (सरकारिया, 1987, पृ० 274)। प्रादेशिकवाद के समर्थकों का तर्क है कि क्षेत्रीय असन्तुलन को केवल केन्द्रीय हस्तक्षेप के माध्यम से कम नहीं किया जा सकता। राज्य भी इस दिशा में बेहतर प्रशासनिक कार्यविधियों, अधिक वित्तीय अनुशासन तथा संसाधनों का अनुकूल उपयोग करके प्रभावी योगदान दे सकते हैं। सम्पन्न राज्यों का मानना है कि केन्द्र से सापेक्षतः अविकसित राज्यों को बड़ी मात्रा में संसाधनों के अन्तरण से असमानता कम करने के उद्देश्य की पूर्ति नहीं होगी। सम्पन्न राज्यों के विनिधान में कमी

करके निर्बल राज्यों को अधिक मात्रा में विवेकाधीन अनुदान देने या अन्तरण करने के लिए केन्द्र के लिए अधिक संसाधन आरक्षित करने से केवल राष्ट्रीय आय में महत्वपूर्ण एवं पर्याप्त अंशदान करने में समर्थ सुविकसित आधारिक संरचनाओं वाले राज्यों की संवृद्धि अवमन्द हो जाएगी। असमानता में कमी स्तर घटाकर नहीं की जानी चाहिए। निर्बल राज्यों को सहायता देने का उद्देश्य तुलनात्मक दृष्टि से विकसित राज्यों को विधिसम्मत द्रव्य प्रवाह में कमी किये बिना जिससे उनकी संवृद्धि पर भी रोक लग जाएगी। निर्बल राज्यों को संसाधनों का बेहतर समुपयोजन इष्टतम उपयोग करके प्राप्त करना है। राष्ट्रीय हित का आशय केवल निर्बल राज्यों को सहायता देना नहीं है। केन्द्र को निर्बल राज्यों के विकास के लिए केन्द्र के पास उपलब्ध निधियों का उपयोग करने के लिए अधिक विवेकाधिकार नहीं होना चाहिए (सरकारिया, 1987, पृ० 298)।

संसाधनों का पर्याप्त अन्तरण न होने और राज्यों में संसाधनों का न्यायसंगत वितरण न होने के कारण राज्य अपने–अपने इलाकों में क्षेत्रीय असन्तुलन कम करने में असमर्थ रहे हैं और राज्यों में परस्पर असमानताएं भी बढ़ गई हैं। केन्द्र द्वारा विवेकाधीन अन्तरणों के बावजूद, पिछड़े हुए राज्य सापेक्ष रूप से उन्नति नहीं कर रहे हैं। यही कारण है कि सम्पन्न तथा निर्धन दोनों प्रकार के राज्यों का मानना है कि केवल सुदृढ़ केन्द्र ही क्षेत्रीय असन्तुलन को कम नहीं कर सकता।

2.3 सामाजिक कारक

भारतीय सामाजिक व्यवस्था की विविधताएं प्रादेशिकवाद के विकास में सहायक सिद्ध हुई हैं। सामाजिक विविधताओं पर आधारित वर्ग, आर्थिक हितों तथा उद्देश्यों के आधार पर परस्पर विरोधी संगठनों का रूप धारण करते हैं। इनके अर्न्तविरोध अन्य कारकों के साथ मिलकर प्रादेशिकवाद के लिए आवश्यक संगठन और संघर्ष नीति की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। भारत की विभिन्न जातियों, धर्मो और भाषायी समुदायों के अलावा एक बड़ा वर्ग आदिवासियों का है। ये छः करोड से भी अधिक हैं। इनका बड़ा वर्ग परम्परागत भारतीय धर्मों की परिधि के बाहर है। ये समाज की आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था में अपने को अलग–थलग अनुभव करते हैं। इनको भारत की मुख्य सामाजिक धारा में मिलाने के उपायों

ने इनमे यह भावना पैदा की है कि अपने अस्तित्व को अलग रखा जाये। ऐसे क्षेत्र में जहाँ ये अधिक संख्या में केन्द्रित है, इनकी प्रादेशिकवाद की भावना उभड़ी है। इसका उदाहरण उत्तर–पूर्वी सीमान्त क्षेत्र में अनेक पहाड़ी जनजातियों के आन्दोलन के फलस्वरूप नागालैण्ड, मेघालय, मिजोरम, मणिपुर, अरूणाचल प्रदेश आदि का उदय हुआ और एक पूर्वोत्तर परिषद की स्थापना की गई ताकि इस क्षेत्र का समेकित आर्थिक विकास हो तथा सुरक्षा एवं सार्वजनिक व्यवस्था बनी रहे। संविधान की छठी अनुसूची में इन जनजातीय पहाडी इलाकों को ''स्वायत्तशासी जिले'' कहा गया ताकि वे सविधान के अधीन अपनी प्रतिभा, प्रकृति और संस्कृति के अनुसार अपना विकास कर सकें। धीरे–धीरे स्वायत्तशासी होने की भ़ावना राष्ट्रवाद लगाव में विकसित होती जा रही है जिससे वे कबीले के प्रति निष्ठाओं का विस्तार जनजातीय निष्ठाओं तक कर रहे हैं, जो अन्ततः क्षेत्रीय एकता का आधार तथा एक समान सांस्कृतिक ऐतिहासिक सत्ता का आधार बन जाता है ताकि उनकी अपनी राजनीतिक आकांक्षाओं का संवर्धन किया जा सके। यदि इस उद्देश्य की पूर्ति राष्ट्रवाद के अन्दर ही की जाए तो इसे खतरनाक नहीं समझा जा सकता, परन्तु जब यह एक अलग राष्ट्रवाद का रूप धारण कर ले तो इसका देश की राजनीतिक और राष्ट्रीय एकता पर बहुत घातक परिणाम पड़ सकता है (यादव एवं शर्मा, 1997, पृ० 58)।

प्रादेशिकवाद बढ़ाने के सामाजिक कारकों में जाति व्यवस्था का भी हाथ है। भारत की विभिन्न जातियो के अपने–अपने विचार एवं दृष्टिकोण है, जिनमें पर्याप्त अन्तर भी है। इन्हीं अन्तरों के कारण इनमें तनाव की स्थिति बनी रहती है। इसी तनाव के परिणामस्वरूप जातिवाद की भावना के प्रसार के अवसरों में वृद्धि होती है। जातिवाद के अन्तर्गत अपनी जाति के सदस्यों के प्रति विशेष लगाव एवं पक्षपात की भावना हुआ करती है, राष्ट्र के हित का कोई ध्यान नहीं रखता तथा अन्य जातियों के सदस्यों के प्रति घृणा एवं विरोध का दृष्टिकोण अपनाया जाता है। भारत में जातिगत समूह तनाव अति उग्र रूप में विकसित है, जिनके कुप्रभाव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में देखने को मिलते हैं (उपेन्द्र, 2001, पृ० 458)। जातिवाद के विकास से पूरा राष्ट्र विभिन्न वर्गों में विभाजित हो जाता है, जिसके फलस्वरूप राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता को ठेस पहुँचती है। विभिन्न जातियों के मध्य तनाव एवं संघर्ष की स्थिति के कारण राष्ट्र की शक्ति क्षीण हो जाती है। आज देश भी जातिगत संकीर्णता के

कारण ही छोटे–छोटे खेमों में बॅट गया है जिससे राष्ट्र के विकास में बाधा उत्पन्न हो रही है। राष्ट्रीय विकास के लिये यह आवश्यक है कि स्वस्थ सामुदायिक भावना का विकास हो, पर जातिवाद उस स्थिति को उत्पन्न नहीं होने देता। भारत में जाति का सम्बन्ध धर्म, भाषा, विश्वास और परम्पराओं से है। यद्यपि जाति व्यवस्था अपने आप में प्रादेशिकवाद को बढ़ाने हेतु उत्तरदायी नहीं है तथापि जब आर्थिक, भाषायी, धार्मिक और सांस्कृतिक हितों में टकराव होता है तो प्रादेशिकवाद उभड़ता है। भारत की सामाजिक व्यवस्था में विविधता का एक अन्य रूप विशिष्ट वर्ग और जनसाधारण के विभाजन में देखने को मिलता है। इससे दो सामाजिक स्तर विकसित हुए हैं। एक की पहॅुच सत्ता के सभी स्रोतों तक है तो दूसरा अपने को असहायावस्था में पाता है। इन दोनों के अर्न्तविरोध से प्रादेशिकवाद को बढ़ावा मिला है। आधुनिकीकरण के कारण शिक्षा, संचार–व्यवस्था, यातायात, उद्योग तथा कृषि आदि में विकास हुआ है। इससे राष्ट्रीय जागरूकता बढ़ी है। पुनः श्चः यही जागरूकता नागरिकों, समुदायों, क्षेत्रों और वर्गों में व्याप्त असमानताओं को उजागर करती है। इससे बढ़ती आकांक्षाओं के पूरा न होने पर असन्तोष और निराशा उत्पन्न होती है और संगठनों के निर्माण के लिए आवश्यक परिवेश बनते हैं। इससे क्षेत्रीय वर्ग अधिक सचेत होते हैं। परम्परावादी समुदाय आधुनिक संगठनों का रूप लेते हैं और प्रादेशिकवाद के आन्दोलनों को हवा देते हैं। जिन क्षेत्रों में किसी एक जाति की प्रधानता रही, वहॉ प्रादेशिकवाद ने उग्र रूप धारण किया। हरियाणा और महाराष्ट्र में प्रादेशिकवाद ने अपने पैर तेजी से फैलाये। इसके पीछे 'जाति' प्रभावक तत्व ही रहा है। बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश के आदिवासियों द्वारा झारखण्ड, छत्तीसगढ़ तथा उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों की जनता द्वारा उत्तरांचल की मॉग और उनकी मॉगों का पूरा होना सामाजिक अन्याय और पिछड़ेपन के उदाहरण हैं (जैन, 1998, पृ० 280)। जाति को दो भागों में बॉटकर प्रादेशिकवाद को बढ़ाने में इसकी भूमिका को देख सकते हैं – (A) Dominant Caste Region State में जाति और प्रादेशिकवाद की रेखाएं मिल जाती हैं। राज्य में यही कभी–कभी उग्र रूप धारण कर लेती हैं जहॉ Dominant Caste Region होता है। इसके विपरीत (B) Multi Caste Region State में भूमिका बॅट जाती है। अतः प्रादेशिकवाद को बढ़ाने में अधिक सहायक नहीं होती हैं जैसे राजस्थान व बिहार (जैन, 1997, पृ० 281)।

2.4 भाषायी कारक

भाषा एक शक्तिशाली एकताकारी तथा विभाजक शक्ति हो सकती है जो इस बात पर निर्भर है कि उसका संचालन किस प्रकार किया जाता है। संघ–राज्य सम्बन्धों में भाषा के क्षेत्र में वैमनस्य इस आशंका के कारण होता है कि लोगों के वर्ग की भाषा को अलग–अलग मातृभाषाओं वाले लोगों पर लादना आर्थिक और सामाजिक प्रधानता का पूर्वगामी है। सरकारी सेवा प्रतिष्ठित रोजगार की एक प्रमुख मॉग है। लोगों के एक वर्ग की मातृभाषा को राजभाषा के रूप में अपनाने के कारण उन नागरिकों के अवसर, जिनकी मातृभाषा अलग है और जो उस भाषा में समान रूप से दक्ष नहीं हैं, हानिकारक रूप से प्रभावित होते हैं। इस प्रकार की भावना का विखण्डनकारी ताकतों को पूरा लाभ उठाने का अवसर मिलता है और इसके विरूद्ध पर्याप्त विरोध उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त, राजभाषा या राज्य की भाषा के रूप में तथा द्विभाषीय या बहुभाषीय क्षेत्रों में शिक्षा के रूप में केवल किसी एक विशिष्ट भाषा का प्रयोग किया जाना भी विरोध का कारण होता है (सरकारिया, 1987, पृ० 499)।

भाषा का राजनीतिकरण प्रायः देश की एकता और अखण्डता के लिए खतरा बन गया है। राज्यों के पुनर्गठन का सर्वाधिक दुःखद परिणाम यह हुआ कि अनौपचारिक रूप से भाषा को राज्य के गठन का आधार माना जाने लगा है। भाषायी उग्र राष्ट्रवादियो ने इस विचार को इस हद तक तूल दिया है कि उन्होंने स्थानीय भाषा के लोगों की समस्याओं से सम्बन्धित लोगों पर देशद्रोह का आरोप लगाया। देश की विभिन्न विघटनकारी शक्तियों ने इस भाषायी भावुकता का अपने निहित स्वार्थों के लिए अनुचित लाभ उठाया (सरकारिया, 1987, पृ० 501)।

भारत एक बहुभाषी देश है जिसके अलग–अलग प्रान्तों में अलग–अलग भाषायें बोली जाती है (चित्र 2.1)। यहाँ लगभग 1652 मातृभाषायें अथवा 200 वर्गीकृत भाषायें बोली जाती हैं और 10 लिपियों का प्रयोग होता है। भाषा सामाजिक एकीकरण के बिखराव का एक महत्वपूर्ण साधन है। भारत में भाषा की भूमिका एकीकरण की कम और बिखराव की अधिक रही है। संविधान लागू होने के 55 वर्ष बाद भी भारत की राष्ट्रभाषा पर कोई आम सहमति

N
भारत
भाषायी प्रारूप
बाल्टी
लद्दाखी
कश्मीरी
पाकिस्तान
हिन्दी
पंजाबी
चीन
हिन्दी
लेप्चा, भुटिया
हिन्दी
नेपाल
मीरी
भूटान
हिन्दी
राजस्थानी
हिन्दी
असमिया
म्यांमार
अंगामी, ओ
हिन्दी
बांग्ला
गुजराती
हिन्दी
मणिपुरी
देश
हिन्दी
हिन्दी
हो
बंगाली
मिजो
उड़िया
खासी
मराठी
गारो
गोंड
त्रिपुरी, बगाली
तेलुगु
मराठी, कोकणी
कन्नड
अंडमानी
टुलू
भाषा सीमा
तमिल
निकोबारी
मलयालम
मलयालम
राज्य सीमा
300
0
300
600
किलोमीटर
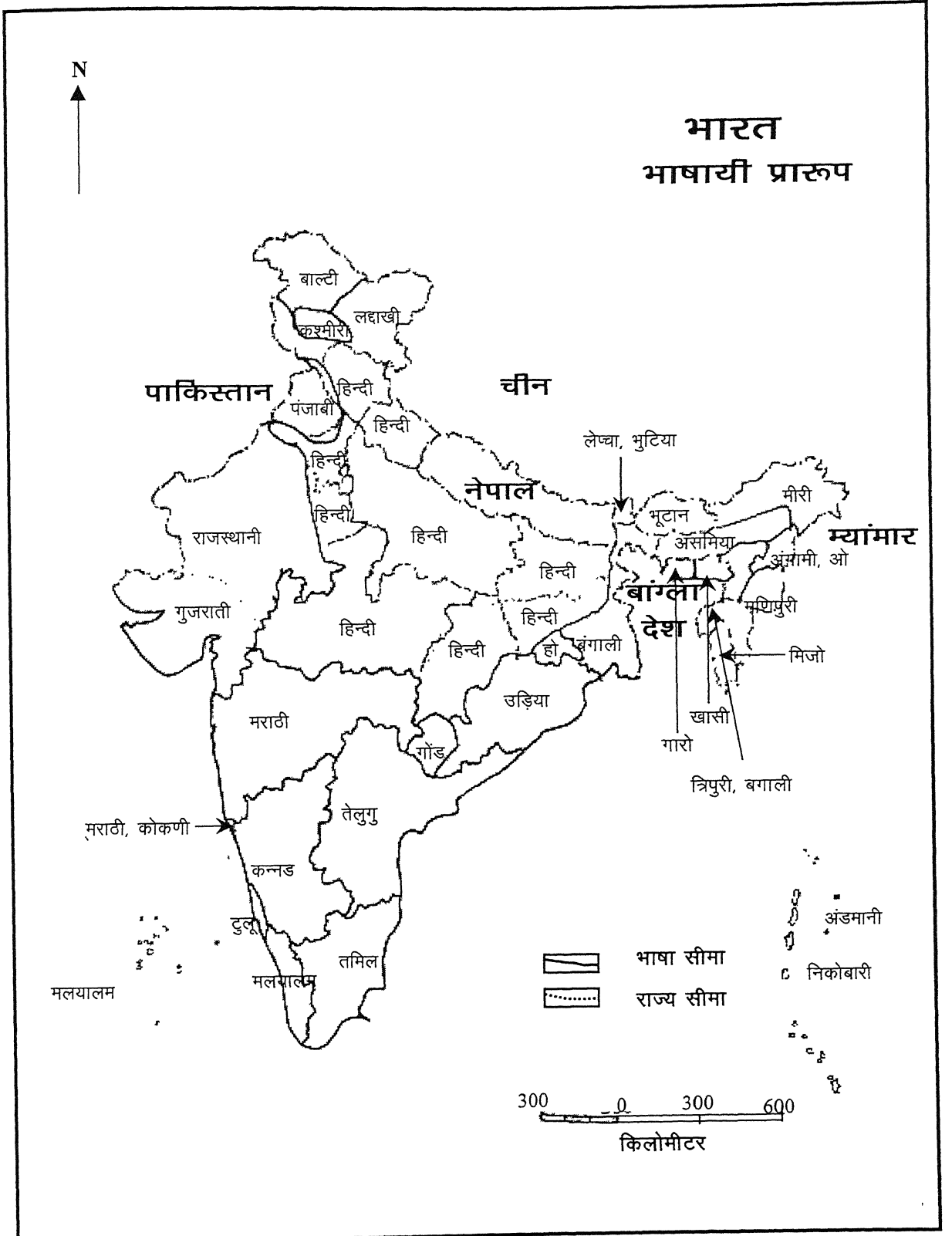
चित्र 2.1

नही बन पायी है। यद्यपि संविधान द्वारा हिन्दी को संघ की कामकाज की भाषा घोषित किया गया है तथापि दक्षिणी राज्यों द्वारा इसका विरोध किया जाता रहा है। राज्यों में भी भाषायी विवाद उठते रहे हैं। उदाहरण के लिये कर्नाटक में कन्नड और तमिल, उत्तर प्रदेश एवं बिहार में हिन्दी और उर्दू, पंजाब में हिन्दी और पंजाबी, गोआ में मराठी और कोंकणी, असम मे असमी और बंगाली तथा त्रिपुरा में कॉक बोरोक और त्रिपुरी भाषाओं को लेकर विवाद की स्थिति पैदा होती रही है। भाषायी विवाद सामाजिक तनाव उत्पन्न करते हैं जिससे प्रादेशिकवाद का जन्म होता है।

भारत में एक–सांस्कृतिक क्षेत्र के मुख्य समूह के सदस्य एक विशेष भाषा को बोलते और लिखते हैं। इसे प्रादेशिक भाषा कहा जाता है। प्रत्येक प्रादेशिक भाषा के बोलने वालों का अपनी भाषा के प्रति अत्यधिक संवेगात्मक लगाव होता है जिसके फलस्वरूप वे यह मान बैठते हैं कि उनकी ही भाषा की शैली, शब्दावलि, साहित्यिक समृद्धि तथा गहनता अन्य सभी भाषाओं से कहीं अधिक आकर्षक व श्रेष्ठ प्रकृति की है। केवल अपनी ही भाषा को श्रेष्ठ समझना और अन्य सभी प्रादेशिक भाषाओं को हेय मान लेना प्रादेशिक दूरी को बढ़ाता है जिसके फलस्वरूप प्रादेशिकवाद का जन्म होता है (मुकर्जी, 2001, पृ० 426–427)।

भाषा पृथकतावादियों का मानना है कि पृथक् भाषा वाले लोगों का एक पृथक् राजनीतिक अस्तित्व होना चाहिए और उन्हें स्वशासी होना चाहिए। भाषाई माँग का एक अनुषंग यह है कि हर कोई अपनी भाषा को संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित कराना चाहता। किसी भी भाषा को इस प्रकार सम्मिलित कराने के पीछे वास्तविक मंतव्य राजनीतिक होता है अर्थात् उस भाषा को बोलने वाले लोगों के लिए एक पृथक् राजनीतिक इकाई की माँग, जैसा कि गोरखालैण्ड में हो रहा है। विभिन्न गुट इस प्रकार की माँग करते रहते हैं जिसे स्वीकार कर लेने से संघ का आत्मघाती विखण्डन हो जाएगा (बसु, 1998, पृ० 402–403)।

मुस्लिम अल्पसंख्यकों की सबसे बड़ी शिकायत यह है कि भारत में उर्दू भाषा को उसका उचित स्थान नहीं दिया गया है। उनकी यह माँग रही है कि उर्दू को दूसरी सरकारी भाषा का दर्जा दिया जाये। दूसरी ओर हिन्दी समर्थकों के एक वर्ग की ओर से उर्दू वालों की

इस मॉग का घोर विरोध किया गया है। इस प्रकार उत्तरी भारत में हिन्दी–उर्दू विवाद गम्भीर समस्या का रूप धारण कर गया है। चूँकि उर्दू भाषा अधिकांशतः मुसलमानों की और हिन्दी भाषा अधिकतर हिन्दुओं की मातृभाषा है, इसलिए हिन्दी–उर्दू का झगड़ा हिन्दू और मुसलमानों के बीच स्वाभाविक रूप से तनाव पैदा करता है (सईद, 1996, पृ० 368)। एक नई राजनीतिक पार्टी "आल इंडिया उर्दू मोर्चा" का जन्म हुआ, जिसके घोषणा पत्र में कहा गया कि यदि वे जीत कर आये तो उर्दू को दूसरी राजभाषा बना देंगे। उर्दू के प्रोन्नयन में सहायता की माँग अब उन राज्यों में भी की जा रही है जहाँ उर्दू भाषी लोग जनसंख्या में पर्याप्त अनुपात में नहीं हैं जैसे पश्चिमी बंगाल में उर्दू को राजभाषा के रूप में मान्यता देने की मॉग की जा रही है। पश्चिम बंगाल के मुसलमान जिनकी मातृभाषा बंगाली है, किन्तु वे उर्दू बोलने का प्रयत्न करते हैं। जनगणना के समय वे उर्दू को अपनी मातृभाषा बताते हैं। इन सब गतिविधियों के पीछे उनकी मंशा यह है कि अपनी संख्या के बल पर अपने लिए एक पृथक् राज्य की स्थापना कर सकें (बसु, 1998, पृ० 422–423)।

2.5 धार्मिक एवं साम्प्रदायिक कारक

भारत में धर्म एक प्रमुख शक्ति है। इसके प्रति अतिरिक्त निष्ठा और विश्वास अपने अनुयायियों को विशिष्ट एकता और सम्बन्धों में बाँधते हैं। अविकसित आर्थिक व्यवस्था में धर्म की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। एक क्षेत्र में बहुसंख्यक रूप में किसी एक धर्म के अनुयायियों के अधिक होने से प्रादेशिकवाद को विशेष प्रोत्साहन मिलता है।

साम्प्रदायिकता के अन्तर्गत वे सभी क्रियाकलाप आ जाते हैं जिनमें किसी धर्म अथवा भाषा के आधार पर किसी समुदाय विशेष के हितों पर बल दिया जाये और उन हितों के ऊपर भी प्राथमिकता दी जाये तथा उस समूह में पृथक्ता की भावना उत्पन्न की जाये। मुस्लिम लीग एवं हिन्दू महासभा को साम्प्रदायिक कहा जा सकता है, क्योंकि वे धार्मिक हितों तथा अधिकारों को राष्ट्रीय हितों से ऊपर रखते हैं। वस्तुतः साम्प्रदायिकता का बीज अंग्रेज सरकार ने बोया जिसने कि भारत में 'फूट डालो और शासन करो' की नीति अपनायी। सन् 1885 ई० में स्थापित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की राष्ट्रवाद की बढ़ती हुई बाढ़ को रोकने के लिए अंग्रेज सोच रहे थे कि भारत के दो मुख्य धार्मिक समूह हिन्दू तथा मुसलमान के बीच

एक दरार उत्पन्न करना आवश्यक है। सन् 1906 ई० में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई और इसने भारतीय मुसलमानों से साम्प्रदायिक दृष्टिकोण एवं भावना को उत्पन्न करने और तीव्र बनाने में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। लार्ड कर्जन द्वारा बंगाल का विभाजन और उसके उत्तराधिकारी लार्ड मिण्टो द्वारा मुसलमानों के पृथक निर्वाचक मण्डलों की प्रणाली अपनाना– यह दो इस दिशा में जघन्य कार्य थे। सन् 1909 ई० में इस प्रणाली को तत्कालीन भारत मन्त्री लार्ड जॉन मार्ले की इच्छा के विरुद्ध लागू कर दिया गया। मुस्लिम लीग के कारनामों से देश के सभी लोग वाकिफ हैं, साम्प्रदायिकता ही इसका आधार था, वह सिद्धान्त की दृष्टि से हिन्दू और मुसलमानों को केवल दो अलग–अलग धर्म ही नहीं, दो अलग–अलग राष्ट्र मानती थी, उसने ही भारत के बँटवारे की आवाज उठायी और इसी के परिणामस्वरूप पाकिस्तान बना (मुकर्जी, 2001, पृ० 416)।

साम्प्रदायिकता भयंकर विघटनकारी प्रवृत्ति है। इससे हमारे देश का विभाजन हुआ है। फिर भी भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता का विष फैलाया जा रहा है। अधिकांश राजनीतिक दल सत्ता प्राप्ति की दौड़ में भिन्न–भिन्न सम्प्रदायों का उपयोग करने लगे हैं। बहुसंख्यक व अल्पसंख्यक का भेद उग्र रूप धारण करता जा रहा है, इससे उत्पन्न साम्प्रदायिक उत्तेजना ने देश की शान्ति व व्यवस्था को अस्थिर बनाया है। आज साम्प्रदायिकता राष्ट्रीय एकता और सुरक्षा के लिये गंभीर खतरा बन चुकी है। ये सभी कुछ राजनीतिक दलों की अस्वस्थ मनोवृत्तियों के कारण हैं। साम्प्रदायिकता की राजनीति इस सीमा तक पहुँच चुकी है कि सम्पूर्ण समाज अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक समुदायों में विभाजित ही नहीं है वरन् अल्पसंख्यकों के साथ बहुसंख्यक भी अपने को असुरक्षित महसूस करने लगे हैं। स्वतन्त्र भारत में राष्ट्रवादी शक्तियाँ क्रमशः कमजोर होती गयीं और धार्मिक कट्टरता एवं सम्प्रदायिक उन्माद क्रमशः बढ़ता गया है। उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार स्वतन्त्रता के बाद से भारत में 10,000 से अधिक साम्प्रदायिक दंगे हो चुके हैं। साम्प्रदायिक दंगों का आये दिन होना इस बात का संकेत प्रस्तुत करता है कि भारत के लिए राष्ट्रीय राज्य की अवस्था प्राप्त करने का उद्देश्य अभी कोसों दूर है। इससे एक ओर तो हिन्दुओं के समक्ष मुस्लिमों की प्रतिबद्धता सन्देहास्पद हो जाती है तो दूसरी ओर मुस्लिम हिन्दुओं से भयभीत हो

जाते हैं। हाल के वर्षों मे कतिपय धार्मिक स्थानों को भी राजनीतिक उद्देश्यों के लिये प्रयोग किया गया जो अति दुर्भाग्यपूर्ण है।

राजनीतिक प्रक्रिया में धर्म के साम्प्रदायिक प्रयोग से राष्ट्रीय एकीकरण को अपूरणीय क्षति पहुँची है और प्रत्येक राजनीतिक जन–प्रक्रिया और जन–आन्दोलन व्यक्ति की राष्ट्रीय अस्मिता और निष्ठा की भावना को कम करके उसकी धार्मिक अस्मिता और निष्ठा को अधिक मजबूत बना रही है। राष्ट्रीय हित राजनीतिक और साम्प्रदायिक हितों के सम्मुख गौण होते जा रहे हैं।

2.6 भौगोलिक कारक

भारत की भौगोलिक संरचना भी प्रादेशिकवाद के प्रोत्साहन का प्रमुख कारण है। भारत चार स्पष्ट भौगोलिक क्षेत्रों में स्वाभाविक रूप से विभक्त है। ये क्षेत्र हैं उत्तर का पर्वतीय प्रदेश, सिन्धु–गंगा का विशाल मैदान, दक्षिण का पठार तथा समुद्र तटीय मैदान एवं द्वीप समूह। इन चारों क्षेत्रों की भौगोलिक दशायें अलग–अलग ही नहीं, वरन् कई मामलों में एक–दूसरे के विपरीत भी हैं। फलतः विभिन्न क्षेत्रों में जो विभाजन हुआ, उसका प्रभाव जीवन के प्रत्येक पक्ष पर पड़ा और एक क्षेत्र के सामाजिक, धार्मिक रीति–रिवाज, भाषा, सांस्कृतिक परम्परायें, पोशाक, आभूषण, प्रकृति, खान–पान, रहन–सहन आदि दूसरे क्षेत्रों से भिन्न रहे (मुकर्जी, 2001, पृ० 425)। वस्तुतः सारे भारत का इतिहास भौगोलिक कारणों से प्रभावित रहा है। भौगोलिक विभिन्नता ने आधुनिक भारत में प्रादेशिकवाद को बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

2.7 सांस्कृतिक कारक

प्रादेशिकवाद के विकास में सांस्कृतिक कारक भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। भारत की भौगोलिक परिस्थितियों ने भारत को न केवल कुछ भौगोलिक क्षेत्रों में अपितु उतने ही सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी बाँट दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक भौगोलिक क्षेत्र का अपना एक विशिष्ट सांस्कृतिक जीवन–प्रतिमान है और उस प्रतिमान से एक अजीब लगाव उस क्षेत्र के लोग पनपा चुके हैं। यह लगाव कभी–कभी इतना स्पष्ट एवं एकतरफा हो जाता

है कि एक क्षेत्र के लोग अपने सांस्कृतिक प्रतिमान को अन्य क्षेत्रों की तुलना में कहीं अधिक श्रेष्ठ समझने लगते हैं। उदाहरणार्थ, उत्तरी क्षेत्रों के लोगों को यह कहते हुए गर्व होता है कि उन्हीं के क्षेत्र में वैदिक सभ्यता और संस्कृति का उदय हुआ। उनका दावा है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता और आर्य सभ्यता सम्पूर्ण भारत को नया प्रकाश देने वाली थीं और उन्हीं का क्षेत्र भारतीय संस्कृति, ललित कला, साहित्य, यहाँ तक कि राजनीति का सर्वप्रमुख केन्द्र रहा और अब भी है। हिन्दी भाषा इसी क्षेत्र की मूल भाषा है और स्वतन्त्र भारत के अधिकतर प्रधानमन्त्री इसी क्षेत्र के हुए हैं। दूसरी ओर भारत के दक्षिणी क्षेत्र के लोगों का यह दावा है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनेक मौलिक तत्व उनके ही क्षेत्र में विद्यमान हैं। उनका क्षेत्र द्रविड़ सभ्यता, संस्कृति और भाषाओं का आदि–स्थान है। इस अर्थ में आदि भारत का सच्चा रूप तो उनका ही क्षेत्र है (मुखर्जी, 2001, पृ० 426)।

भारत में प्रादेशिकवाद के विस्तार के उत्तरदायी उपरोक्त कारकों को सामान्यीकरण करते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रादेशिकवाद के अन्तर्गत राजनीतिक व्यवस्था करने वाली केन्द्रीय शक्ति के विकेन्द्रीकरण की माँग की जाती है। प्रायः यह देखा जाता कि जब कभी भी केन्द्रीय सरकार ने सम्पूर्ण भारत के सामान्यीकरण का प्रयास किया, तब कई क्षेत्रों से उसका विरोध हुआ, आन्दोलन हुआ और नई–नई माँगे प्रस्तुत की गयी हैं। भाषा के मामले का उठाया जाना इसका उदाहरण है। यह कहना कठिन है कि प्रादेशिकवाद के उभारने का कौन सा कारक प्रमुख है, परन्तु वर्तमान सन्दर्भों में इसके दो सर्वप्रमुख कारक हैं – पहला आर्थिक और दूसरी राजनीतिक। यदि आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो और राजनीतिक शक्ति राष्ट्रीय हितों को ही सर्वोच्च माने, तो प्रादेशिकवाद पर निश्चय ही अंकुश लगाया जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

आशीर्वादम, ए०डी० एवं मिश्र, कृष्णकान्त, 1992 : **राजनीति विज्ञान,** एस० चन्द्र एण्ड कम्पनी लि०, दिल्ली।

बसु, दुर्गा दास, 1998 : **भारत का संविधान : एक परिचय,** प्रेंटिस हाल आफ इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।

मुकर्जी, रवीन्द्र नाथ, 2001 : **भारतीय समाज व संस्कृति,** विवेक प्रकाशन, दिल्ली।

सरकारिया, आर० एस०, 1988 : **केन्द्र राज्य सम्बन्ध आयोग** भाग–1, महाप्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, नासिक।

सईद, एस० एम०, 1996 : **भारतीय राजनीतिक व्यवस्था**, सुलभ प्रकाशन, लखनऊ।

सिंह, लल्लन जी, 1999 : **राष्ट्रीय रक्षा और सुरक्षा,** प्रकाश बुक डिपो, बरेली।

उपेन्द्र, 2001 : **समाजकार्य**, भारत प्रकाशन, लखनऊ।

यादव, सुषमा एवं शर्मा, रामअवतार, 1997 : **भारतीय राजनीति : ज्वलन्त प्रश्न,** हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

अध्याय –3

भारत में प्रादेशिकवाद की ऐतिहासिक–राजनीतिक पृष्ठभूमि

भारत एक प्राचीन देश है। जिसकी लम्बी सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परंपराएँ हैं। भारतीय संघ के वर्तमान स्वरूप के विकसित होने में हजारों वर्षों का समय लगा है। इस दौरान अनेकों राज्य वंशों एवं राज्यों का विकास एवं अवसाद हुआ है। यद्यपि वे आज अस्तित्व में नहीं है परन्तु इनमें से बहुतों की सांस्कृतिक परम्परा में किसी न किसी रूप में संरक्षित हैं। इससे प्रादेशिक विशिष्टता (identity) का विकास हुआ है। जिससे प्रादेशिकवाद के विकास को बल मिलता रहा है। वर्तमान अध्याय में प्रादेशिकवाद के इन्हीं ऐतिहासिक-राजनीतिक तथ्यों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

3.1 प्राचीनकाल

3.1.1 वैदिक काल

आर्यों के आगमन के पूर्व बलूचिस्तान एवं समस्त पश्चिमोत्तर प्रदेश में द्रविड़ों का प्रभाव था। गंगा–यमुना द्वाब, बंगाल एवं दक्षिण भारत में भी द्रविड़ों का प्राचीन अस्तित्व प्रकट होता है (सिंह, सिंह एवं पटेल पृ० 5)।

सिन्धु एवं गंगा के मैदान बहुत ही उपजाऊ एवं समृद्धिशाली थे इसलिए इसी भाग में बड़े–बड़े साम्राज्यों की स्थापना हुई। भारत के इसी प्रदेश से अनेक राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं दार्शनिक विचार उद्‌भूत हुए। वैदिक काल के पूर्व ही सिन्धु घाटी की सम्पन्न उन्नत एवं प्रगतिशील संस्कृति तथा सभ्यता का विस्तार पाकिस्तान और भारत के पंजाब, सिन्ध, बलूचिस्तान, गुजरात, राजस्थान, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, जम्मू–कश्मीर के भागों में पाये जाने के संकेत प्राप्त हुए हैं। इस सभ्यता का सर्वाधिक पश्चिमी पुरास्थल सुतकागेनडोर, पूर्वी स्थल आलमगीरपुर, उत्तरी पुरास्थल माँड तथा दक्षिणी पुरास्थल दैमाबाद

है। सिन्धु सभ्यता का फैलाव उत्तर में जम्मू से लेकर दक्षिण में नर्मदा के मुहाने तक और पश्चिम में मकरान समुद्र तट से लेकर पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मेरठ तक फैला था। लगभग त्रिभुजाकार वाला यह भाग कुल 12,99,600 वर्ग कि० मी० के क्षेत्र में फैला हुआ था। अब तक भारतीय उपमहाद्वीप में इस सभ्यता के लगभग 1000 स्थानों का पता चल चुका है, जिनमें केवल 7 को ही नगर की संज्ञा दी जा सकती है। ये – हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, चन्हूदडों, लोथल, कालीबंगा, हिसार एवं बनावाली हैं (घोष, 1999, पृ० 10)। पिग्गट ने हडप्पा और मोहनजोदड़ो को 'एक विस्तृत साम्राज्य की जुडवा राजधानी' बतलाया है।

आर्यों ने सप्त सैन्धव सभ्यता के प्रवर्तक अनार्यों को पराजित कर उनकी सभ्यता को नष्ट किया और आर्य सभ्यता की नींव डाली। आर्यों द्वारा सर्वप्रथम पंजाब के क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित कर इसका नाम 'सप्त सैन्धव' रखा गया। इसके पश्चात् पूर्व की ओर अपना प्रभुत्व विस्तार करके गंगा–यमुना के मध्य भाग को उन्होंने 'ब्रह्मर्षि देश' का नाम दिया। धीरे–धीरे हिमालय और विन्ध्य पर्वतों के मध्य का विशाल भू-भाग, आर्यों का प्रधान निवास क्षेत्र बन गया, जिसे आर्यावर्त की संज्ञा दी गयी। कालान्तर में दक्षिण की ओर उनका प्रसार हुआ और उसका नाम दक्षिणापथ रखा गया। वस्तुतः 'भारतवर्ष' नामकरण मुख्यतः उस क्षेत्र के लिए हुआ जो आर्यों का निवास क्षेत्र (आर्यावर्त) था, परन्तु इसका व्यवहार हिमालय के दक्षिण समुद्र पर्यन्त विस्तीर्ण सम्पूर्ण भूभाग के निमित्त होने लगा (सिंह, सिंह एवं पटेल, 1998, पृ० 1)।

ऋग्वेद में आर्यों के पांच कबीले (अनु, द्रुहय, पुरू, तुर्वस, यदु) होने के कारण उन्हें पंचजन्य कहा गया। राजा भूमि का स्वामी नहीं था, वह युद्ध का स्वामी था। प्रत्येक कबीले में एक राजा होता था। ऋग्वैदिक काल में सम्पूर्ण आर्य प्रदेश में राजनीतिक एकता स्थापित नहीं हुई थी। विभिन्न स्थानों पर छोटे–बड़े अनेक राज्य थे। छोटे राज्यों का बड़े राज्यों में विलय प्रारम्भ हो गया था और इस प्रकार राजनीतिक एकता, एकछत्र राज्य या साम्राज्य स्थापना की धारणायें ऋग्वैदिक काल में ही उन्मुख होने लगीं थी। आर्यों के एक कबीले के राजा भरत ने निकटवर्ती अन्य आर्यों एवं अनार्यों को पराजित कर राज्य विस्तार करना प्रारम्भ कर दिया। उत्तर वैदिक काल में प्रथमतः ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रयुक्त 'जनपद' शब्द से प्रकट होता है कि ब्राह्मण काल में जनपदों का उदय हुआ। प्राचीन काल में राजनीतिक एवं

सांस्कृतिक एकता वाले भूभाग को जनपद कहा जाता था। उत्तर वैदिक काल में 'राजतन्त्र' ही शासन तन्त्र का आधार था, पर कहीं–कहीं गणराज्यों के भी उदाहरण मिलते हैं। प्रदेश का संकेत करने वाला शब्द 'राष्ट्र' सर्वप्रथम उत्तरवैदिक काल में ही प्रयोग किया गया। उपनिषदों में गन्धार, केकय, भद्र, अशीनर, मत्स्य, कुरु, पांचाल, काशी, कोशल और विदेह आदि राज्यों (जनपदों) का उल्लेख मिलता है। पुराण काल में सम्पूर्ण उत्तरी भारत में बाह्लीक, आभीर, केकय, गन्धार, यवन, सिन्धु, सौवीर, कम्बोज, दरद तथा तालशाल, पूर्वी भारत में अंग, बंग, चोलभद्र, किरात, तोमर, हंसभंगन, चाहुक, हूण, भार्गव, विदेह, ताम्रलिप्त, मल्ल तथा मगध और दक्षिण भारत में पाण्ड्य, केरल, चोल, कुल्प, क्षपण, महाराष्ट्र, कलिंग, विदर्भ, दण्डक, कोंकण तथा कुलिन्द आदि राज्य (जनपद) थे। समस्त राष्ट्र दिशाभेद के आधार पर प्राच्य, उदीच्य, पाश्चात्य, दक्षिणात्य और ध्रुव मध्य में विभक्त थे। प्रत्येक दिशा के अन्तर्गत अनेक जनपद थे (सिंह, सिंह एवं पटेल, 1998, पृ० 5)।

महाकाव्य काल में भारतवर्ष आर्य–अनार्य की विवाद रेखा को समाप्त कर एक देश और सांस्कृतिक रूप में उभर कर आया। छोटे–छोटे राज्यों के स्थान पर बड़े–बड़े राज्यों (जनपदों) की स्थापना हो चुकी थी, जिनमें अधिकांश राजतन्त्र एवं कुछ गणतन्त्र थे (सिंह, सिंह एवं पटेल, 1998, पृ० 5)। सूर्य–वंशी राजाओं ने सम्पूर्ण भारतवर्ष को राजनीतिक एकता में आबद्ध करके अश्वमेघ यज्ञ किया था। उसी प्रकार पाण्डवों ने कौरवों की एकता विरोधी शक्ति को नष्ट करके सम्पूर्ण भारतवर्ष को एकता में बॉध दिया था। महाकाव्य काल में भारतवर्ष की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक एकता ने भावी भारतवर्ष की आधार शिला रखी थी। महाकाव्य काल में दक्षिण भारत में दंडक, सह्य, किष्किन्धा, मलय, सुक्तिमान तथा लंका राज्य थे। मध्य भाग में विदर्भ, ऋक्ष, दशार्ण, अवन्ति तथा महेन्द्र राज्य थे। पूर्वी भाग में मगध, चम्पा, राजगृह, अंग, पाच्य राज्यों का वर्णन मिलता है। उत्तर और उत्तर–पश्चिम भाग में उस समय विदेह, काशी, अयोध्या, प्रयाग, वत्स कान्यकुब्ज, पांचाल, कोसल, हस्तिनापुर, मथुरा, शूरसेन, इन्द्रप्रस्थ, कुरुक्षेत्र, सप्त–सैन्धव, केकय, तक्षशिला, गन्धार और कम्बोज राज्य थे (चित्र 3.1) (थपलियाल, 2000, पृ० 8)।

भारत
महाकाव्य काल
N
कम्बोज
गान्धार
हिमाद्रि
तक्षशिला
केकय
कुरु
हिमाद्रि
ब्रह्मावर्त
हस्तिनापुर
इन्द्रप्रस्थ
कोसल
शूरसेन
मथुरा
पांचाल
विदेह
मत्स्य
कान्यकुब्ज
अयोध्या
पाच्य
बंग
परियात्र
चेदि
वत्स
प्रयाग
काशी
राजगृह
चम्पा
अवन्ति
दशार्ण
मगध
अंग
आनर्त
मरुकच्छ
द्वारिका
ऋक्ष
विदर्भ
दंडक
महेन्द्र
पश्चिम
पयोधि
पूर्व
सागर
किष्किंधा
मलय
सुक्तिमान
लंका
दक्षिण
महार्णव
100 0 100 200 300
किलोमीटर
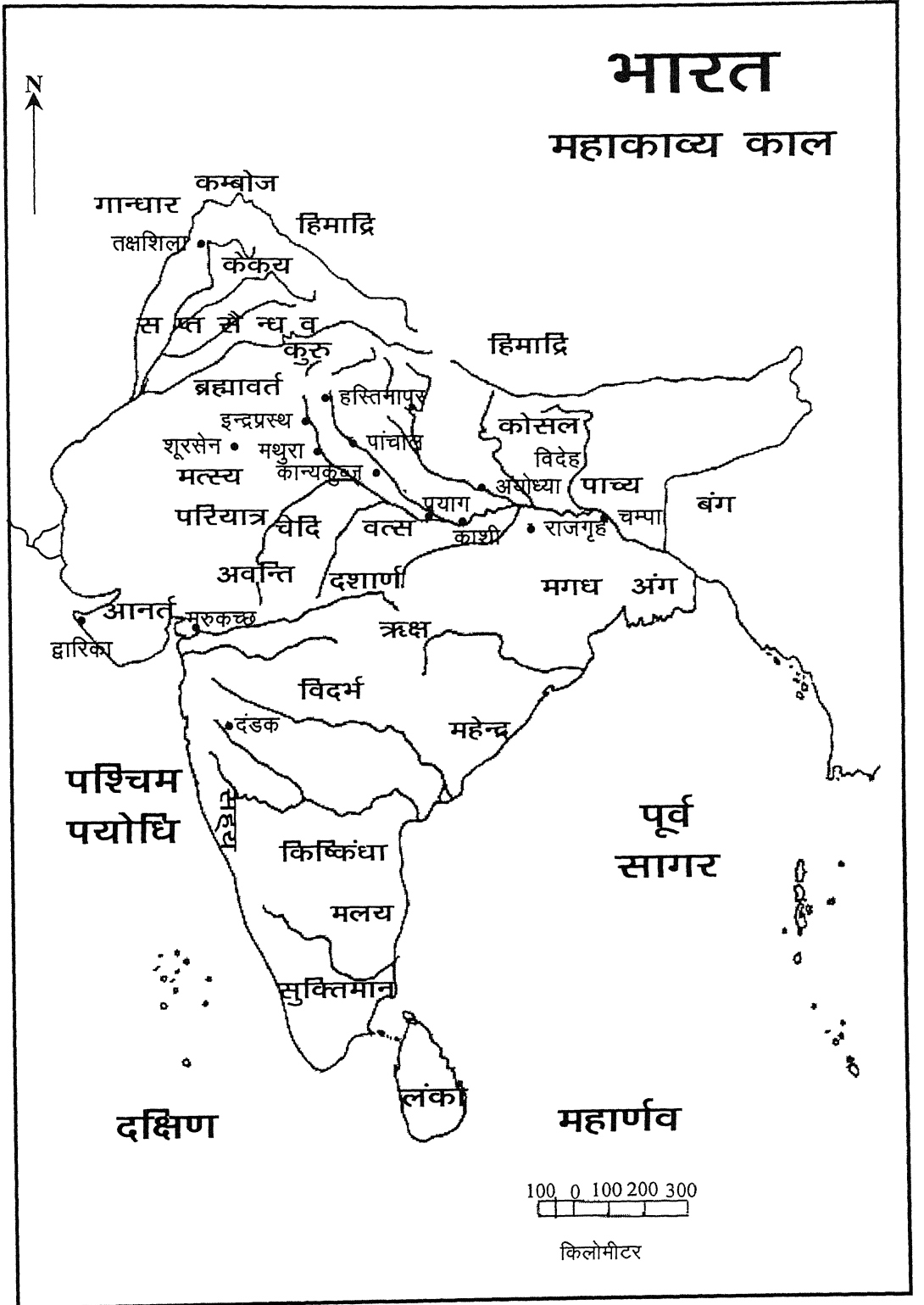
चित्र 3.1

3.1.2 बौद्धकाल

एक सहस्त्र ई०पू० से पाँचवी शताब्दी ईसा पूर्व तक के युग को भारतीय इतिहास में महाजनपद युग कहा जाता है। सम्पूर्ण देश में जनपदों का तॉता फैल गया। एक प्रकार से जनपद राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन की इकाई बन गये थे। धीरे–धीरे जनपदों की संख्या कम होने लगी। उनका आकार बढने लगा और महाजनपद काल का उदय हुआ। महात्मा बुद्ध के आविर्भाव (566 ईसा पूर्व) के पूर्व भारतवर्ष 16 महाजनपदों में विभक्त था। उन महाजनपदों में एक प्रकार की शासन पद्धति नहीं थी। कहीं राजतन्त्र था, तो कहीं गणतन्त्र (सिंह, सिंह एवं पटेल, 1998, पृ० 5)। 16 महाजनपद इस प्रकार हैं– **अंग** : उत्तरी बिहार का आधुनिक भागलपुर तथा मुंगेर जिला इसके अन्तर्गत आता था , इसकी राजधानी चम्पा (प्राचीन नाम मालिनी) थी। कालान्तर में बिम्बसार ने अंग को जीतकर मगध साम्राज्य में मिला लिया। **काशी** : आधुनिक वाराणसी एवं उसके निकटवर्ती क्षेत्र को काशी महाजनपद कहा गया। वरूणा और अस्सी नदियों के मध्य स्थित वाराणसी इस महाजनपद की राजधानी थी। अजातशत्रु के समय इसे मगध साम्राज्य में मिला लिया गया। **कोशल** : उत्तरप्रदेश के वर्तमान फैजाबाद जिले में स्थित यह महाजनपद उत्तर में नेपाल, दक्षिण में सई नदी, पश्चिम पांचाल एवं पूर्व में गंडक नदी तक फैला हुआ था। इसकी राजधानी श्रावस्ती थी। बुद्ध के समय यह महाजनपद दो भागों में विभाजित हो गया, उत्तरी भाग की राजधानी साकेत एवं दक्षिणी भाग की राजधानी श्रावस्ती हो गयी। **वज्जि** : वैशाली (बिहार में स्थित) वज्जि महाजनपद की राजधानी थी। गौतम बुद्ध के समय वैशाली का लिच्छवि गणराज्य सर्वाधिक शक्तिशाली था। मगध के पड़ोस में स्थित वज्जि संघ आठ कुलों का एक संघ था , इनमें विदेह, लिच्छवि, कात्रिक एवं वृज्जि महत्वपूर्ण थे। अजातशत्रु ने वैशाली को मगध साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था (गुप्त, 2000, पृ० 21)। **मल्ल** : आधुनिक देवरिया एवं गोरखपुर क्षेत्र में स्थित मल्ल दो भागों में बँटा था, जिसमें एक की राजधानी कुसावती अथवा कुसीनारा (उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में स्थित) एवं दूसरे की राजधानी पावापुरी (बिहार में नालन्दा जिले में स्थित) थी (घोष, 2000, पृ० 124)। **चेदि** : वर्तमान बुन्देलखण्ड का पूर्वी भाग एवं उसके निकटवर्ती भाग प्राचीन चेदि महाजनपद के अन्तर्गत आते थे। शक्तिमती चेदि महाजनपद की राजधानी थी (घोष, 2000, पृ० 425)। तत्कालीन प्रसिद्ध नगरों कौशाम्बी,

राजगृह, उज्जयिनी से सड़क मार्ग से सम्बद्ध होने के कारण राजनीतिक–आर्थिक महत्व की नगरी थी। **वत्स** : यमुना के किनारे स्थित वत्स महाजनपद वर्तमान इलाहाबाद तथा कौशाम्बी जिले का क्षेत्र था। इसकी राजधानी कौशाम्बी थी। मगध साम्राज्य के उत्कर्ष के बाद कौशाम्बी का आर्थिक महत्व बढ़ गया क्योंकि यह उत्तरापथ तथा दक्षिणापथ का पड़ाव स्थल बन गया था। **कुरू** : आधुनिक दिल्ली एवं उसके समीप के क्षेत्र ही प्राचीन कुरू प्रदेश के क्षेत्र थे। कुरू महाजनपद की राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी, जो कि पाण्डवों की राजधानी भी रही थी। **पांचाल** . वर्तमान मे रूहेलखण्ड के बरेली, बदायूँ एवं फर्रूखाबाद जिलों को मिलाकर ही प्राचीन पांचाल महाजनपद का निर्माण होता था। गंगा नदी इस महाजनपद को दो भागों–उत्तरी पांचाल तथा दक्षिणी पांचाल में बॉटती हैं , उत्तरी पांचाल की राजधानी अहिच्छत्र (उत्तर प्रदेश के बरेली जिले में स्थित रामनगर नामक स्थान) तथा दक्षिणी पांचाल की राजधानी काम्पिल्य (उत्तर प्रदेश के फर्रूखाबाद जिले में स्थित) थी (गुप्त, 2000, पृ० 22)। **मत्स्य** · वर्तमान में जयपुर के समीपवर्ती क्षेत्र मत्स्य महाजनपद के अन्तर्गत आते थे। इसकी राजधानी विराट नगर थी। विराट नगर का महाजनपद काल में राजनीतिक सांस्कृतिक प्रभाव अत्यधिक था (घोष, 2000, पृ० 25)। **शूरसेन** : आधुनिक मथुरा में प्राचीन शूरसेन महाजनपद का विस्तार था। इसकी राजधानी मथुरा थी (शर्मा, 1995, पृ० 108)। **अश्मक** : अश्मक की स्थिति गोदावरी नदी के दक्षिणी तट पर मानी गयी है। इसकी राजधानी पोतन या पोटली या प्रतिष्ठान (महाराष्ट्र के औरंगाबाद जिले में पैठन के रूप में अवस्थित) थी। प्रतिष्ठान दक्षिण से उत्तर की ओर जाने वाले व्यापारिक मार्ग (दक्षिणापथ) पर स्थित था इसलिए इसका राजनीतिक व आर्थिक महत्व था (गुप्त, 2000, पृ० 23)। **अवन्ति** : आधुनिक मालवा का क्षेत्र ही प्राचीन अवन्ति महाजनपद का क्षेत्र था। यह महाजनपद दो भागों उत्तरी अवन्ति एवं दक्षिणी अवन्ति में बँटा था, उत्तरी अवन्ति की राजधानी उज्जैन (मध्य प्रदेश में क्षिप्रा नदी तट पर स्थित जिला नगर) एवं दक्षिणी अवन्ति की राजधानी महिष्मती या माहेश्वर (मध्य प्रदेश के इन्दौर जिले में अवस्थित) थी। बौद्धधर्म से प्रभावित इस महाजनपद को शिशुनाग ने मगध साम्राज्य में मिला लिया (शर्मा, 1995, पृ० 108)। **गन्धार** : यह क्षेत्र वर्तमान में पाकिस्तान के रावलपिण्डी एवं पेशावर के क्षेत्र को समाहित किए था। इसकी राजधानी तक्षशिला थी। तक्षशिला उत्तर–पूर्व, पश्चिम एवं मध्य एशिया, कश्मीर से आने वाले तीन मार्गों के संगम पर स्थित था। इसलिए इसका आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक महत्व स्थापित

रहा (गुप्त, 2000, पृ० 23)। **कम्बोज** : यह महाजनपद कश्मीर से लेकर हिन्दकुश पर्वत तक फैला था। इसकी राजधानी हाटक (कश्मीर के राजौरी नामक स्थान पर अवस्थित राजपुर) थी (शर्मा, 1995, पृ० 108)।

मगध : सोलह महाजनपदों में मगध का साम्राज्य के रूप में आविर्भाव व उत्कर्ष हर्यक वश के शासन काल (554 ईसा पूर्व से 412 ईसा पूर्व) के दौरान हुआ। हर्यक वंश के प्रथम शासक बिम्बसार को मगध साम्राज्य की महत्ता का वास्तविक संस्थापक स्वीकार किया जाता है। मगध साम्राज्य की आरम्भिक राजधानी गिरिव्रज (राजगृह) थी। बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु (492 ईसा पूर्व से 460 ईसा पूर्व) ने काशी तथा वज्जि संघ को मगध साम्राज्य में समाहित कर लिया। अजातशत्रु के उत्तराधिकारी उदायिन (460 ईसा पूर्व से 445 ईसा पूर्व) ने गंगा और सोन नदियों के संगम पर पाटलिपुत्र (कुसुमपुरा) नामक नगर की स्थापना की तथा उसे अपनी राजधानी बनाया। धीरे–धीरे शक्तिशाली मगध साम्राज्य ने कोशल, वैशाली, लिच्छवि, अवन्ति, कौशाम्बी को मगध साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया (शर्मा, 1995, पृ० 109)।

उक्त षोडष महाजनपदों (चित्र 3.2) के अतिरिक्त छोटे–छोटे कई और जनपद थे। तत्कालीन भारत में वैचारिक नवोत्थान के साथ राष्ट्रीय संगठन के आधार भी स्थिर एवं सुदृढ़ हो चुके थे।

बुद्धकालीन जनपदो में वत्स, अवन्ति, कोशल और मगध सर्वाधिक शक्ति सम्पन्न जनपद थे। बुद्ध पूर्व के छोटे–छोटे जनपदों में अपने प्रभुत्व विस्तार के लिए निरन्तर संघर्ष होते रहते थे। इस प्रकार कुछ क्षीण होते गए और कुछ की शक्ति निरन्तर बढ़ती गयी। अनेक क्षीण शक्ति जनपदों को आत्मसात कर भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध मगध साम्राज्य का उदय हुआ। महात्मा बुद्ध के समय मगध पर हर्यक वंश के बिम्बसार का शासन था। हर्यक वंश के पश्चात मगध साम्राज्य पर क्रमशः शिशुनाग वंश एवं नन्द वंश का शासन हुआ। ये सभी शासक मगध साम्राज्य के विस्तार के प्रति निरन्तर सचेष्ट रहे और एक हद तक इन्हें सफलता भी मिलती रही। जिस समय उत्तरी–पूर्वी भारत में छोटे–छोटे राज्यों की एक सूत्र में संगठित होने (साम्राज्य विस्तार) की प्रक्रिया प्रारम्भ थी, उसी समय पश्चिमोत्तर भारत

N
भारत
सोलह महाजनपद
600 ई. पू.
कम्बोज
लाजपुर-हाटक
गांधार
तक्षशिला
कुरु
इन्द्रप्रस्थ
पांचाल
मत्स्य
अहिच्छत्र
श्रावस्ती
मल्ल
विराटनगर
मथुरा
कोशल
काशी
कुशीनगर
वज्जि
मिथिला-वैशाली
वाराणसी
शूरसेन
कौशाम्बी
वत्स
राजगृह
चम्पा
सुक्तिमती
अवन्ति
चेदि
मगध
अंग
उज्जैन
अश्मक
अरब सागर
पैठन
बंगाल की खाड़ी
100 0 100 200 300
किलोमीटर
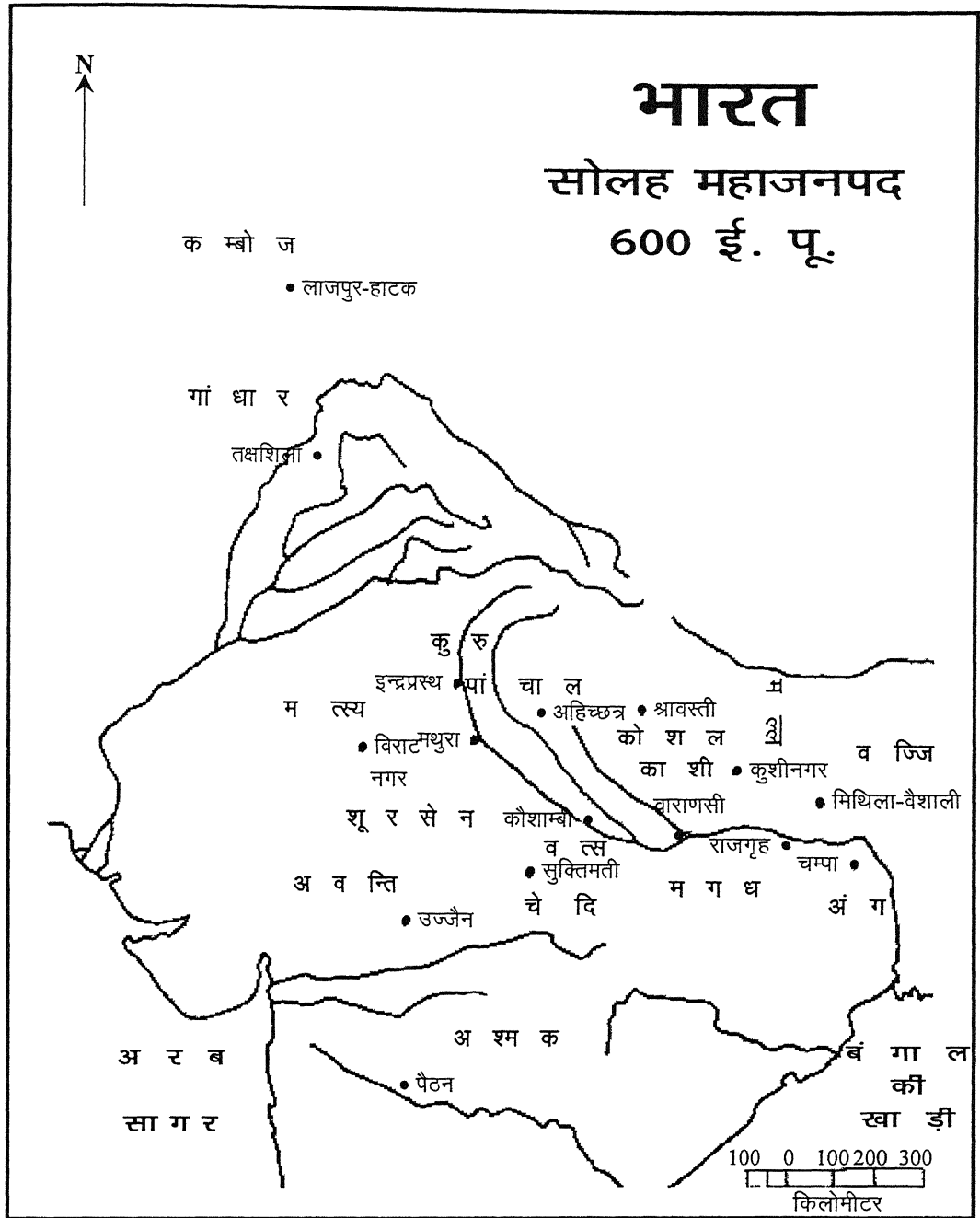
चित्र 3.2

राजनीतिक विश्रृंखलता एवं अस्थिरता का अद्वितीय रंग मंच बना हुआ था। गन्धार एवं सिन्ध पर पहले से ही ईरानियों का शासन था। शेष पश्चिमोत्तर भारत छोटे–छोटे कई राज्यों– असकनी, नीसा, तक्षशिला, पुरू, सिवोई, मोलई, क्षुद्रक, अभिसार तथा अम्बण्ठ आदि में बंटा हुआ था और उनमें परस्पर एकता की जगह ईर्ष्या व द्वेष का भाव उमड़ रहा था। पश्चिमोत्तर भारत की ऐसी ही पृष्ठभूमि में सिकन्दर का आक्रमण हुआ और कुछ ही समय में उसने गन्धार, सिन्धु सहित पश्चिमोत्तर प्रदेश (पंजाब) पर अपना अधिकार कर लिया और यूनानी गर्वनरों को शासक नियुक्त कर 325 ईसा पूर्व में भारत से वापस चला गया। इस प्रकार उस समय पंजाब और सिन्ध में यूनानी गर्वनरों का शासन था और उत्तर भारत का अधिकांश भाग अर्थात् मगध साम्राज्य नन्दवंश के शासन में था (सिंह, सिंह एवं पटेल, 1998, पृ० 6)। सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाब और सिन्ध में स्थित 28 राज्यों का उल्लेख किया जाता है जिनके पास अपनी निजी सेना थी और युद्ध एवं सन्धि के अधिकार सुरक्षित थे, ये राज्य थे– आस्पेसियन, अस्सकेनोई, गुरियन, नीसा, प्यूकेलोटिस, तक्षशिला, अर्सवीज, अमिसार, पोरस, ग्लैनिकाई, गन्डरिस, आट्रैस्ताई, कैथेओई, सोफाइटीज, फीगियस, शिवि, अगलसोई, आक्सीड्रेकाई, मल्लोई, अवस्टनोई, काथोई, ओसाडिओई, सोड्राई, मस्सनोई, मौसिकेनोस, आक्सीकेनोस, सम्बोस तथा पटेलीन (गुप्त, 2000, पृ० 36)।

राजनीतिक एकीकरण का जो प्रयास हर्यक वंशीय नरेशों (बिम्बसार–अजातशत्रु) ने छठी शती ईसा पूर्व में प्रारम्भ किया उसे मौर्य वंशीय सम्राटों ने पूरा किया। इसीलिए मौर्य युग को राजनीतिक एकता का युग कहते हैं। प्रथम मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ने गन्धार, सिन्धु, पंजाब से यूनानी गर्वनरों को अपदस्थ कर विदेशी शासन का अन्त किया और नन्द वंश को समाप्त कर मगध साम्राज्य को अपने अधिकार में ले लिया। मौर्यकाल में भारतवर्ष का अधिकांश भाग एक सुदृढ़ राजनीतिक सूत्र में बँध गया और हमारा इतिहास सही अर्थों में भारतीय हो गया। 321 ईसा पूर्व में मगध साम्राज्य की गद्दी पर प्रथम मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त आसीन हुआ और 297 ईसा पूर्व तक शासन करता हुआ उत्तर में हिमालय से दक्षिण में नर्मदा–तापी तक तथा पूर्व में बंगाल से उत्तर–पश्चिम में काबुल, गन्धार और हिरात तक के विशाल भूभाग को राजनीतिक संगठन सूत्र में आबद्ध किया (चित्र 3.3)। चन्द्रगुप्त मौर्य के बाद उसका पुत्र बिन्दुसार (298 ईसा पूर्व से 273 ईसा पूर्व) सम्राट हुआ। जिसने तापी के

भारत
चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य
298 ई. पू.
N
चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य
हिरात
काबुल
कन्धार
बलूचिस्तान
मकरान
पंजाब
कुरु
पांचाल
कोशल
पाटलिपुत्र
अंग
मालवा
उज्जैन
मगध
बंग
सौराष्ट्र
कलिंग
मैसूर
चोल
पांड्य
लंका
अ र ब सा ग र
बं गा ल की खा ड़ी
100 0 100 200 300
किलोमीटर
हि न्द म हा सा ग र
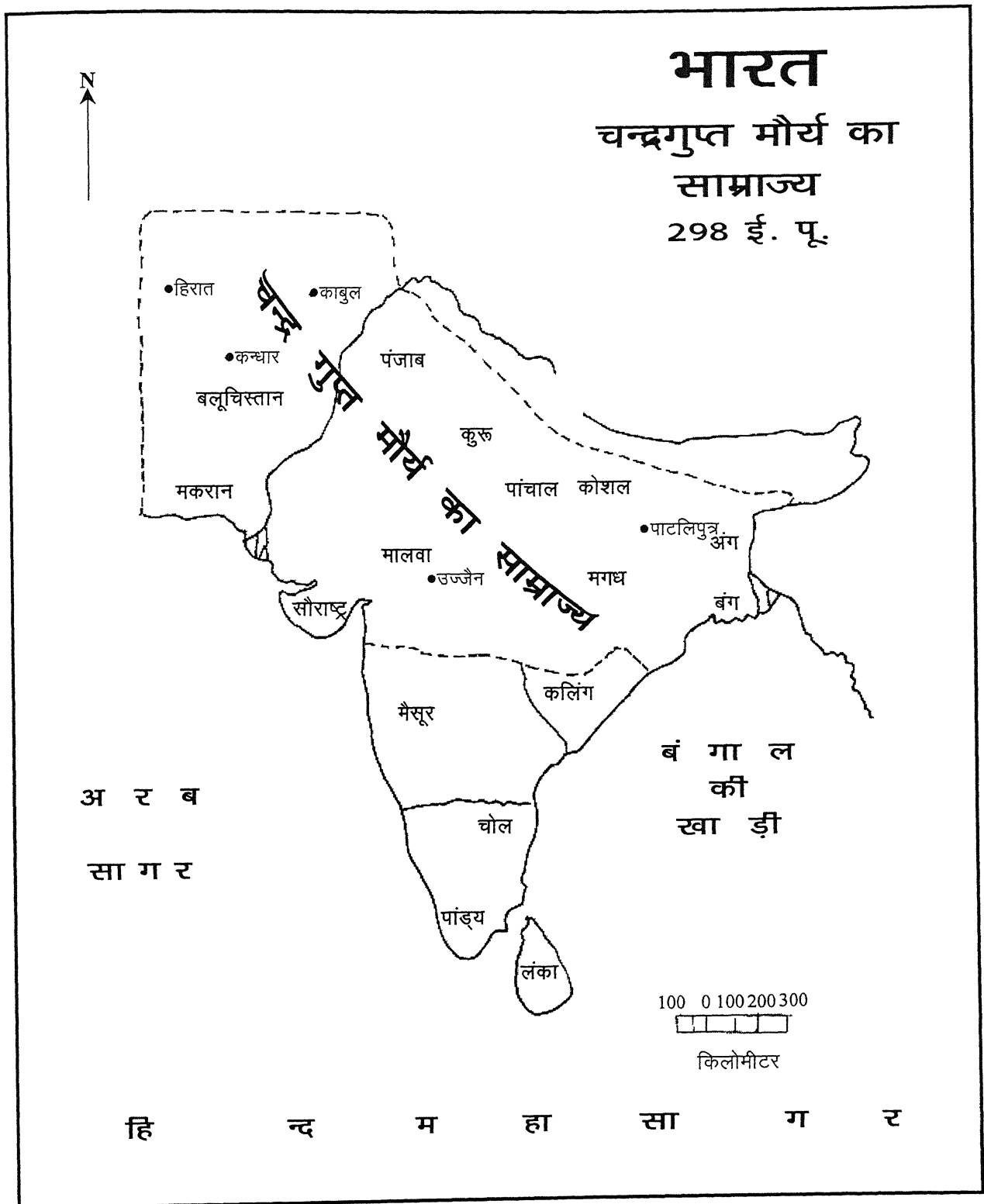
चित्र 3.3

दक्षिण में मैसूर तक का भाग जीतकर अपने पिता चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य को विस्तार दिया। उत्तर में कश्मीर, महानदी–कृष्ण के बीच कलिंग तथा दक्षिण में चोल और पाण्ड्य राज्य अब तक मौर्य शासन के बाहर थे (सिंह, सिंह एवं पटेल, 1998, पृ० 7)। बिन्दुसार के पश्चात् उसका यशस्वी पुत्र अशोक (273 ईसा पूर्व से 232 ईसा पूर्व) मगध का सम्राट हुआ। सम्राट अशोक के समय में भारत का सर्वप्रथम विशाल राजनीतिक मानचित्र बना जिसके लिए उसकी नीतियाँ उत्तरदायी थीं। इतिहास में अशोक जैसी धर्मनीति पर आश्रित राजनीति का दूसरा प्रमाण नहीं मिलता है। अशोक के राज्य की सीमाएँ पश्चिम में अरब सागर और पश्चिमोत्तर में हिन्दुकुश पर्वतों तक विस्तृत थीं और वर्तमान अफगानिस्तान का अधिकांश भाग उसके साम्राज्य का अंग था। उत्तर में उसकी सीमायें कश्मीर में हिमालय पर्वतों के पाद प्रदेश व नेपाल में ललितापटन तक विस्तृत थीं। अशोक के राज्य की दक्षिणी सीमा लगभग 13° उत्तरी अक्षांश द्वारा निर्धारित होती थी। पूर्व में बंगाल व कलिंग राज्य उसके स्वामित्व को स्वीकार करते थे। केवल बंगाल के पूर्व का देश व सुदूर दक्षिण के क्षेत्र स्वतन्त्र थे अन्यथा सम्पूर्ण भारत मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत था (सिंह एवं श्रीवास्तव, 1973, पृ० 618–619)। इस प्रकार स्पष्ट है कि अशोक के साम्राज्य की सीमायें उत्तर में हिमालय पर्वत से दक्षिण में कलिंग, आन्ध्र, मैसूर, हैदराबाद और महाराष्ट्र तक; पूर्व में बंगाल और पश्चिम में हिरात, काबुल और गन्धार तक फैली थीं (सिंह, सिंह एवं पटेल, 1998, पृ० 7)। अशोक ने विशाल मौर्य साम्राज्य को प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से 5 प्रान्तों, जिन्हें चक्र भी कहा जाता था, में बांट रखा था। ये प्रान्त थे– उत्तरापथ (राजधानी तक्षशिला), अवन्ति राष्ट्र (राजधानी उज्जयिनी) कलिंग (राजधानी तोसली), दक्षिणापथ (राजधानी सुवर्णगिरि) तथा प्राशी या पूर्वी प्रदेश (राजधानी पाटलिपुत्र)। अशोक के समय प्रान्त सबसे बड़ी प्रशासनिक इकाई के रूप में प्रचलित थे। इन प्रान्तों का प्रशासन राजपरिवार के ही किसी व्यक्ति द्वारा होता था, जिन्हें अशोक के अभिलेखों में कुमार या आर्यपुत्र कहा गया है। प्रान्तों को 'आहार' या 'विषय' में बाँटा गया था, जो विषयपति के अधीन होते थे। जिले का प्रशासन 'स्थानिक' के हाथों में रहता था जो समाहर्ता के नीचे काम करता था। स्थानिक के अधीन 'गोप' होते थे, जिनके अधिकार क्षेत्र में गांव होते थे। प्रशासन की सबसे छोटी इकाई 'ग्राम' थी। ग्राम के मुखिया को ग्रामिक कहा जाता था। मेगस्थनीज के अनुसार नगर का प्रशासन तीस सदस्यों का एक

मण्डल करता था। ये मण्डल 6 समितियों में विभाजित थे, प्रत्येक समिति में 5 सदस्य होते थे (घोष, 2000, पृ० 39)।

मौर्य काल में सत्ता का केन्द्रीयकरण अवश्य हुआ था, परन्तु राजा अपने अधिकारों के प्रति जरा भी बर्बर नहीं होता था। मौर्यकाल में गणराज्यों (लोकतन्त्र) का ह्रास होने लगा था, जिसके परिणामस्वरूप राजतन्त्रात्मक व्यवस्था की स्थिति काफी मजबूत हो रही थी। राजा के पास समस्त अधिकार व शक्तियाँ होती थी। राज्य के सप्तांग सिद्धान्त– राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड एवं मित्र की सर्वप्रथम व्याख्या कौटिल्य ने की है (शर्मा, 1998, पृ० 127–144)।

232 ईसा पूर्व अशोक की मृत्यु के पश्चात भारत का साम्राज्य धीरे–धीरे छिन्न–भिन्न होने लगा। अनेक छोटे–छोटे राज्य स्थापित होने लगे, फलतः भारत की राजनीतिक एकता क्षीण होने लगी। सातवाहनों के नेतृत्व में आन्ध्र प्रदेश ने अपनी स्वाधीनता घोषित की। मालवा व सिन्ध भी अधिक समय तक मौर्य साम्राज्य के अंग न रह सके, कलिंग भी स्वतन्त्र हो गया और अशोक के बाद उत्तर भारत में ऐसी कोई शक्ति न रह सकी जो शासक व शासित के बीच की दूरी को कम करके शासन की श्रृंखलायें सुदृढ़ बनाए रख सकती। आपसी द्वेष और कलह के फलस्वरूप अनेक छोटी–छोटी इकाइयाँ सारे देश में बन गईं। फलस्वरूप, भारत पुनः विदेशी आक्रमणकारियों का लक्ष्य बना। इनमें शकों का आक्रमण महत्वपूर्ण था जो बिलोचिस्तान में बोलन दर्रे से भारत आये। कुछ ही समय बाद शक लोग काठियावाड़, सिन्ध तथा मालवा आदि में फैल गये (सिंह एवं श्रीवास्तव, 1973, पृ० 619)। शकों ने भारत पर अपना अधिकार करने के उपरान्त भारत के साम्राज्य को प्रान्तों में विभक्त किया। एक प्रान्त का शासक 'क्षत्रप' कहलाता था। यह शब्द ईरान के जथ्रपावन (प्रान्तीय शासक) से लिया गया है। इस प्रकार शकों के चार मुख्य क्षत्रप थे, प्रथम तक्षशिला का क्षत्रप, द्वितीय मथुरा का क्षत्रप, तृतीय महाराष्ट्र का क्षत्रप तथा चतुर्थ उज्जैन का पश्चिमी क्षत्रप। कालान्तर में पल्लवों ने पंजाब में शक साम्राज्य का अन्त किया, कुषाणों ने मथुरा में शक क्षत्रप पर विजय प्राप्त कर उसका विनाश किया, सातवाहन राज्य महाराष्ट्र के शक क्षत्रप से लड़ाई होती रही। अन्त में गौतमीपुत्र शतकर्णी ने इस शक क्षत्रप का नाश किया। प्रसिद्ध सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य

ने उज्जैन के शक क्षत्रप का अन्त कर हमेशा के लिए शक साम्राज्य का अन्त कर दिया (थपलियाल, 2000, पृ० 16)।

यूनानियों और शकों के पश्चात ईसा की प्रथम शताब्दी में कुषाणों का आक्रमण हुआ। उत्तर–पश्चिम भारत के एक विशाल क्षेत्र–कश्मीर, पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा पूर्व में पाटलिपुत्र तक; पर कुषाणों का साम्राज्य स्थापित हो गया (चित्र 3.4)। कनिष्क कुषाण वंश का महान शासक था। उसने चीन पर विजय प्राप्त की, मध्य एशिया के कुछ क्षेत्र (यारकन्द, काशगर, खोतान) कनिष्क के अधिकार में आ जाने से यह विशाल साम्राज्य गंगा, सिन्धु एवं ऑक्सस की घाटियों तक फैल गया था। कनिष्क का यह साम्राज्य पूर्व में चीन, पश्चिम में पार्थियन एवं रोम साम्राज्य के मध्य में स्थित था। चीन से व्यापार करने के लिए रोम को कुषाण शासक कनिष्क से मधुर सम्बन्धों की स्थापना करनी पड़ी। यह व्यापार प्रसिद्ध 'सिल्क मार्ग' से सम्पन्न होता था (गुप्त, 2000, पृ० 42)। दक्कन तथा मध्य भारत पर सातवाहन राज्य था जिसके बाद 250 ई० में वाकाटक साम्राज्य स्थापित हुआ, जिसमें गुजरात व काठियावाड़ भी सम्मिलित हो गया। कलिंग अर्थात् उड़ीसा में खारवेल तथा कृष्णा नदी के दक्षिण पल्लव राज्य स्थापित हुआ। पल्लव के दक्षिण पाड्य, चोल तथा चेर राज्य पहले (306 ईसा पूर्व) से ही विद्यमान थे। महाकोशल में भी राजवंश की नींव डाली गयी। इसी बीच महानदी और गोदावरी के बीच बहुत से छोटे–छोटे राज्यों का उदय हुआ (सिंह, सिंह एवं पटेल, 1998, पृ० 7)। उत्तरी भारत में कुषाण साम्राज्य का भी पतन (दूसरी शताब्दी) होने लगा जिससे अनेक गणराज्यों का उदय हुआ जैसे पंजाब में यौधेय, सतलज और व्यास की ऊपरी ओर कुनिन्द गणराज्य, यौधेय गणराज्य के दक्षिण–पश्चिम की ओर आर्जुनायन गणराज्य, रावी तथा चिनाव नदियों के बीच मद्र गणराज्य। कुषाणों की शक्ति को नष्ट करने के लिए यौधेयों, कुनिन्दों तथा आर्जुनायनों ने मिलकर एक गणराज्य बना लिया। मालवा गणराज्य ने भी अपने को स्वतन्त्र कर लिया। मध्य भारत तथा राजस्थान के अन्य अनेक राज्य भी स्वतन्त्र हो गये थे। इनके अलावा उत्तर प्रदेश, बिहार तथा बुन्देलखण्ड आदि से विदेशियों को भगाने वाला भारशिव राजवंश था। भारशिव राजवंश का प्रथम केन्द्र पद्मावती (ग्वालियर) था। यहाँ अपनी जड़ मजबूत बनाकर इन्होंने कौशाम्बी से मथुरा तक का सारा प्रदेश धीरे–धीरे अपने अधीन कर लिया। मथुरा से अपना विस्तार इन्होंने पूर्व की ओर किया और वर्तमान मिर्जापुर जिले के

भारत
कुषाण साम्राज्य
N
बैक्ट्रिया
पार्थियन साम्राज्य
कनिष्क का राज्य
काशगर
यारकन्द
खेतान
गन्धार
कश्मीर
पुरुषपुर
कनिष्कपुर
चीन
सिन्ध
कोशल
मगध राज्य
काशी
पाटलीपुत्र
शक राज्य
बर्मा
कलिंग
आन्ध्र
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
चोल
चेर
पाण्ड्य
लंका
लक्षद्वीप (भारत)
अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह (भारत)
100 0 100 200 300
किलोमीटर
हिन्द महासागर
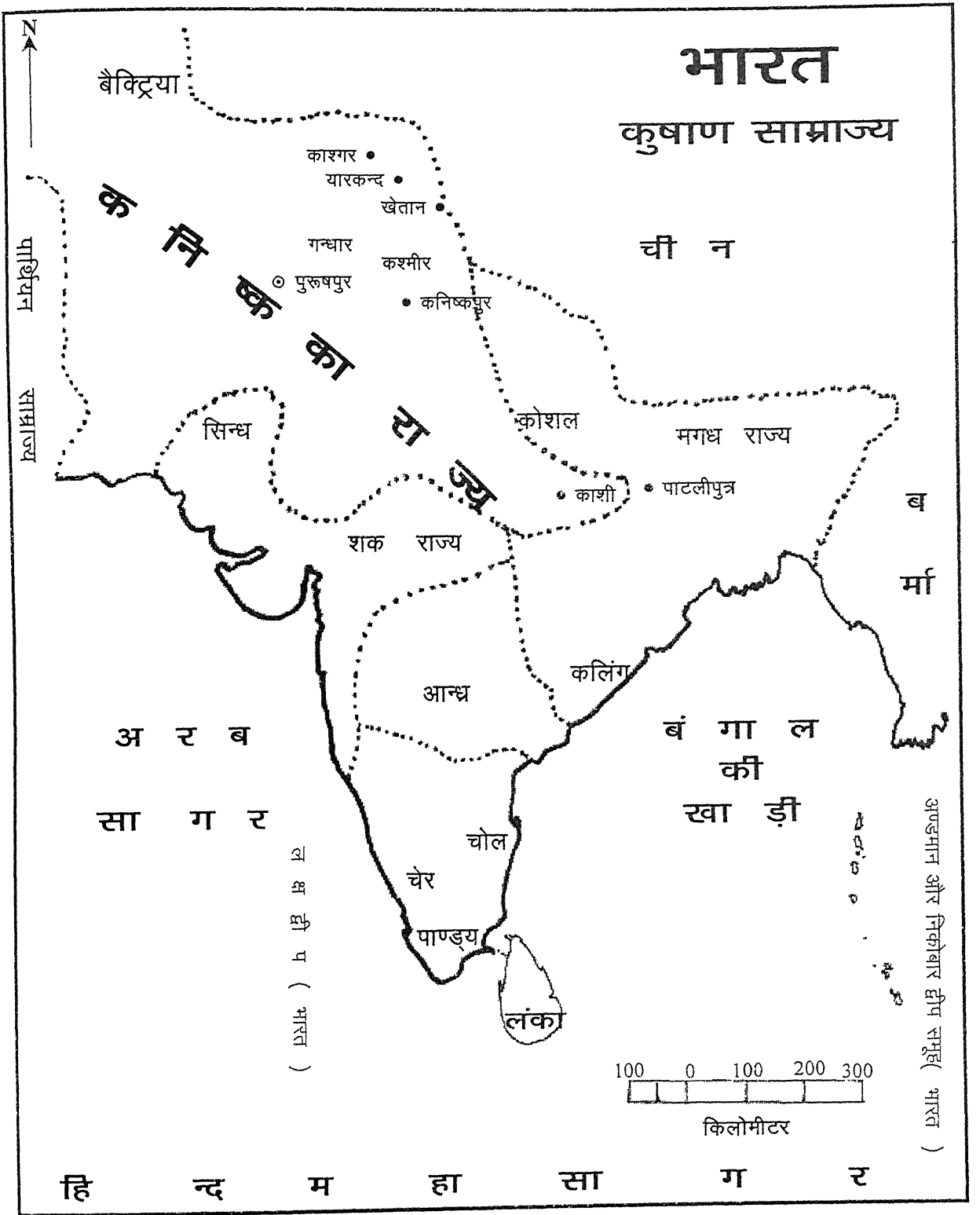
चित्र 3.4

कान्तिपुर (कान्तित) पर अधिकार कर अपनी राजधानी बनायी। धीरे–धीरे वाकाटकों ने पाटलिपुत्र तथा बाद में अंग राज्य की राजधानी चम्पा पर भी अधिकार कर लिया। परन्तु पाटलिपुत्र का शासन अधिक समय तक भारशिव वंश के पास नहीं रह सका। इधर देश की अव्यवस्थित राजनीतिक स्थिति का लाभ उठाकर लिच्छवि गणराज्य ने फिर से अपने को शक्तिशाली बना लिया। उसने मगध (पाटलिपुत्र) का राज्य जीत लिया। भारशिव राजवंश के अलावा कोटा के निकट मौखरी राजवंश और कौशाम्बी में मध राजवंश शक्तिशाली हो रहे थे (थपलियाल, 2000, पृ० 20)।

3.1.3 गुप्तकाल

ऐसी स्थिति में गुप्त साम्राज्य का उदय हुआ। देश को विदेशी सत्ता से मुक्त कराने तथा अपने को स्वतन्त्र बनाने की एक लहर सी आ गई थी। एक शक्तिशाली राज्य की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था, जो छोटे–छोटे राज्यों का मार्गदर्शन कर एक राष्ट्र का निर्माण कर सके। इस प्रकार तीसरी शदी के अन्त तक भारत में अनेक स्वतन्त्र राज्य हो गये थे और भारत की राजनीतिक स्थिति छिन्न–भिन्न हो चुकी थी, उन्हीं के खण्डहरों पर गुप्त साम्राज्य का अभ्युदय हुआ।

चौथी शदी के आरम्भ में गुप्त साम्राज्य के अभ्युदय के पश्चात देश का एक बहुत बड़ा भाग पुनः एक राजसूत्र में बँध गया। चन्द्रगुप्त प्रथम (319–335 ई०) ने मगध, प्रयाग, कोशल, दक्षिणी बिहार और तिरहुत पर विजय प्राप्त की। चन्द्रगुप्त प्रथम के पश्चात उसका पुत्र समुद्रगुप्त (335–375 ई०) ने उत्तरी भारत में नाग वंशीय शासकों पर विजय प्राप्त की। अच्युतसेन अहिच्छत्र में, नागसेन मथुरा में और गणपति ग्वालियर राज्य के शासक थे। वह आर्यावर्त का प्रथम युद्ध था, जिसमें समुद्रगुप्त ने नागसंघ को हराया। बाद में वाकाटक नरेश रूद्रदेव को हराया। फिर पूर्वी और पश्चिमी देश के राजाओं नन्दिन, अच्युत, बालावर्मन, मतिल, नागदत्त तथा चन्द्रवर्मन के सम्मिलित संघ को हराया। यह आर्यावर्त का द्वितीय युद्ध था, जो कौशाम्बी में लड़ा गया। उत्तरी भारत की विजय के उपरान्त समुद्रगुप्त ने विन्ध्य प्रदेश पर विजय प्राप्त की। यहाँ के कुल 18 राज्यों को समुद्रगुप्त ने परास्त कर अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। समुद्रगुप्त ने दक्षिण भारत को विजित किया, किन्तु उन

राज्यों को परास्त कर, उसने उनका राज्य उन्हें पुनः वापस लौटा दिया। दक्षिण भारत के राज्य थे– कोशल, महाकान्तार, विष्टपुर, कोट्टार, एरण्ड पल्ल, काँची, अवभुक्त, वेंगी, पालक्क, देवराष्ट्र तथा कुस्थलपुर। सीमान्त प्रदेश के राज्यों, जो अभी तक स्वन्त्रत थे, ने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार नहीं की थी, परिणामस्वरूप समुद्रगुप्त ने एक विशाल सेना लेकर उन्हें अधीनता स्वीकार करने को विवश किया। ये राज्य थे समतत (गंगा का मुहाना), डवाक (असम में), कामरूप (असम का गुवाहटी क्षेत्र), नेपाल तथा कर्त्तपुर (कुमायूँ, गढ़वाल तथा रूहेलखण्ड)। कुछ गणराज्य समुद्रगुप्त के राज्य के दक्षिण–पश्चिम और पश्चिमी सीमा पर अवस्थित थे। अतः साम्राज्य को सुरक्षित रखने के लिए समुद्रगुप्त ने इन गणराज्यों पर भी आक्रमण कर अपने राज्य में मिला लिया। ये गणराज्य थे– मालव, आर्जुनायन, यौधेय, मद्र, आभीर, द्रार्जन सनकानीक, काक तथा खरपरिक (थपलियाल, 2000, पृ० 22)। इस प्रकार समुद्रगुप्त का साम्राज्य उत्तर में नेपाल, हिमालय पर्वत तक, दक्षिण में नर्मदा नदी तक, पूर्व में असम तक तथा पश्चिम में चम्बल नदी से लेकर चिनाब नदी तक फैला था। दक्षिण के राज्य उसके अधीन थे, किन्तु साम्राज्य में उन्हें नहीं मिलाया गया। स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त ने भारत में पुनः राजनीतिक एकता स्थापित की।

समुद्रगुप्त के साम्राज्य की अपेक्षा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (375–415 ई०) का साम्राज्य (चित्र 3.5) और अधिक विस्तृत हुआ। समुद्रगुप्त ने जिन गणराज्यों को विजित किया था, वे स्वतन्त्र हो गये थे। अतः चन्द्रगुप्त ने उन सब गणराज्यों को पूर्ण रूप से परास्त किया। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने काठियावाड़, मालवा, गुजरात के शक नरेश रूद्रसिंह तृतीय को अवन्ति में 395 ई० में परास्त किया और इन इलाकों को अपने राज्य में मिला लिया। अवन्ति विजय के उपलक्ष्य में चन्द्रगुप्त ने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की। समतत, दवाक, कामरूप (असम) के राजाओं ने एक संघ बनाकर गुप्त साम्राज्य से अलग होना चाहा, किन्तु चन्द्रगुप्त ने बंगाल में इस संघ की सम्मिलित शक्ति को परास्त किया और अपने राज्य में मिला लिया। समुद्रगुप्त के साम्राज्य की सीमायें चिनाब नदी तक फैली थीं। इसके पश्चिम में कुषाण साम्राज्य अवशेष था। अतः चन्द्रगुप्त ने इस पश्चिमी प्रदेश पर आक्रमण कर समस्त पंजाब को अपने राज्य में मिला लिया। समुद्रगुप्त के पश्चात दक्षिण के राज्यों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी थी, अतः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने उन्हें परास्त कर अधीनता

भारत
गुप्त साम्राज्य
400 ई0
N
कश्मीर
मद्र
यौधेय
थानेसर
दिल्ली
अर्जुनायन
मथुरा
कन्नौज
सिन्ध
मालव
अयोध्या
वैशाली
कामरूप
गुर्जर
मंदसौर
प्रयाग
काशी
पाटलिपुत्र
वल्लभी
साँची
उज्जैन
समतट
अजंता
वाकाटक
मालंकायन
अ र ब
सा ग र
बं गा ल
की
खा ड़ी
वेंगी
कादम्ब
पल्लव
गंग
कांची
अंडमान
और
निकोबार
लक्षद्वीप
पांड्य
द्वीप
समूह
हि न्द म हा सा ग र
200 0 200 400
किलोमीटर
भारत की वर्तमान सीमा
गुप्त साम्राज्य की सीमा
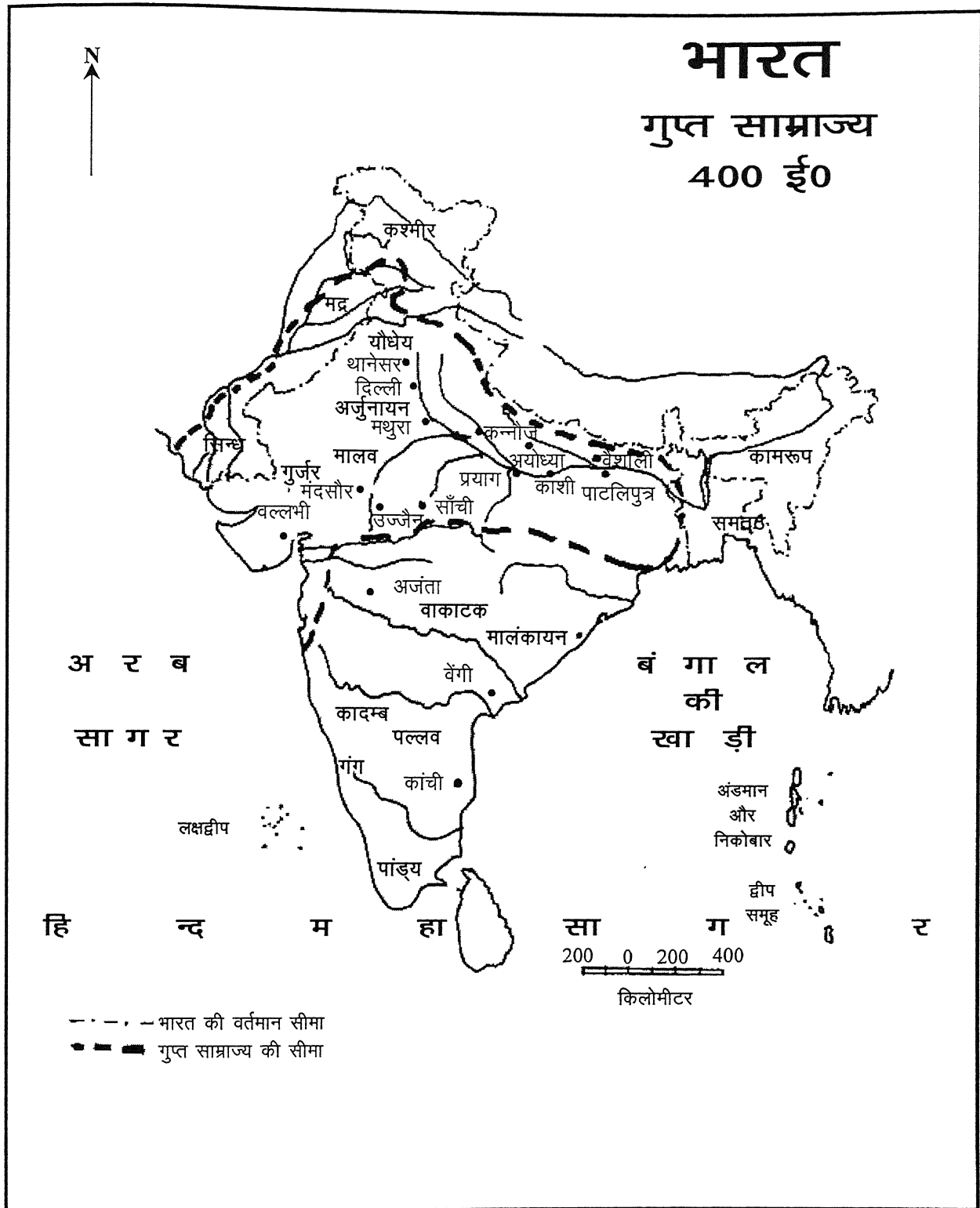
चित्र 3.5

स्वीकार करने तथा वार्षिक कर देने को बाध्य किया (पाण्डेय, 1994, पृ० 116–132)। इस प्रकार स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का साम्राज्य उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में नर्मदा नदी, सौराष्ट्र, काठियावाड़, गुजरात तक तथा पश्चिम में पंजाब से लेकर पूर्व में असम तक विस्तृत था। दक्षिण भारत के वाकाटक, महाकोशल, पल्लव, चोल, पाण्ड्य आदि राज्य भी गुप्त शासन के अधीन थे, परन्तु वे गुप्त साम्राज्य में मिलाये नहीं गये थे।

पाँचवी शदी में हूणों के प्रबल आक्रमण से गुप्त साम्राज्य क्षीण होने लगा। मध्य एशिया से हूणों ने पहले यू–ची जाति को निकाला। धीरे–धीरे हूणों का प्रसार पश्चिम-दक्षिण को होने लगा। इन्होंने शक शक्ति का ह्रास किया। बैक्ट्रिया, फारस, अफगानिस्तान तथा सीस्तान को विजित करने के पश्चात गुप्तकाल में भारत पर प्रथम बार हूणों ने कुमारगुप्त प्रथम पर आक्रमण किया। स्कन्दगुप्त ने हूणों को खदेड़ दिया। स्कन्दगुप्त (455 से 476 ई०) के बाद इतने बड़े साम्राज्य को संभालने वाला कोई गुप्त शासक नहीं हुआ। पाँचवी शताब्दी के अन्त में, हूणों ने पुनः तोरमाण के नेतृत्व में भारत पर आक्रमण किया तथा उन्होंने गान्धार, कश्मीर तथा उत्तरापथ के प्रदेशों को जीत लिया। इस आक्रमण से गुप्त साम्राज्य को बड़ा धक्का लगा। तोरमाण के उत्तराधिकारी मिहिरकुल ने भी भारत पर आक्रमण किये। किन्तु मगध नरेश बालादित्य तथा मालवा नरेश यशोवर्मन ने अलग–अलग युद्धों में मिहिरकुल को परास्त किया। मिहिरकुल की मृत्यु के पश्चात हूणों में कोई प्रतिभाशाली सम्राट नहीं हुआ। उनकी शक्ति धीरे–धीरे क्षीण होने लगी और अन्त में विलीन हो गई (थपलियाल, 2000, पृ० 23)।

छठी शताब्दी का अन्त होते–होते गुप्त साम्राज्य छिन्न–भिन्न हो गया। भारत की राजनीतिक एकता एक बार फिर समाप्त हो गयी। सम्पूर्ण भारत छोटे–छोटे राज्यों में बँट गया। दिल्ली के पास थानेश्वर राज्य, मगध में गुप्त साम्राज्य का अवशेष, कन्नौज में मौखरी वंश, पश्चिमी भारत में हूण राज्य, मालवा, बल्लभी, सिन्ध, बंगाल, नर्मदा के दक्षिण चालुक्य, गोदावरी और कृष्णा के बीच आन्ध्र, कृष्णा के दक्षिण धनकटक, चोल, पल्लव आदि राज्य थे (सिंह, सिंह एवं पटेल, 1998, पृ० 7)।

7 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में उत्तरी भारत में थानेश्वर के राजकुमार हर्षवर्धन (606 से 647 ई०) का आविर्भाव राजनीतिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण रहा। बंगाल के शासक शशांक ने कन्नौज के राजा गृहवर्धन का वध करके कन्नौज पर अधिकार कर लिया था। अतः हर्ष ने सर्वप्रथम कन्नौज पर अधिकार किया। असम के शासक भास्कर वर्मा ने हर्ष की अधीनता स्वीकार कर ली। हर्षवर्धन ने मालवा नरेश देवगुप्त पर आक्रमण कर अपनी अधीनता स्वीकार करने पर विवश किया। हर्ष ने वल्लभी नरेश ध्रुवसेन को परास्त किया। किन्तु बाद में हर्ष ने उससे मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिया। हर्षवर्धन ने शशांक को परास्त कर बंगाल विजय की। हर्ष ने सिन्ध और गुजरात को भी परास्त कर अपने राज्य में मिला लिया। इसके अतिरिक्त हर्ष ने नेपाल के शासक से मैत्री स्थापित की। हर्ष ने दक्षिण भारत पर भी आक्रमण किया, किन्तु उसे चालुक्य नरेश पुल्केशिन द्वितीय से हार का सामना करना पड़ा। हर्ष की दक्षिणी सीमा नर्मदा नदी थी। हर्षवर्धन का साम्राज्य बहुत व्यापक था। उसके साम्राज्य में पूर्वी पंजाब, सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल और उड़ीसा के क्षेत्र शामिल थे। हर्ष ने अपने शासन के अन्तिम दिनों में गंजाम के शासक पर आक्रमण कर गंजाम को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। नेपाल और कश्मीर के राज्य हर्ष के साम्राज्य के बाहर थे। हर्ष शेष उत्तरी भारत का शासक था, उसे 'सकलोत्तरापथनाथ' कहा गया है (वाशम, 1997, पृ० 55–56)। गुप्तकाल में जिस सामन्तवादी व्यवस्था का बीजारोपण हुआ था हर्ष ने उसे विकसित कर शासन व्यवस्था का अभिन्न अंग बना दिया। हर्ष की मृत्यु के बाद इसी सामन्तीय व्यवस्था के कारण उत्तरी भारत में अराजकता फैल गयी और बाद में भारत पुनः छोटी–छोटी अनेक प्रशासकीय इकाईयों (राज्यों) में विभक्त हो गया (पाण्डेय, 1994, पृ० 335)।

3.1.4 राजपूतकाल

मुसलमानों के आक्रमण के समय राजपूत राज्य के अन्तर्गत सर्वप्रथम हम उत्तर भारत के राज्यों का उल्लेख करेंगे– शाही वंश पंजाब में राज्य कर रहा था। महमूद गजनवी ने पंजाब पर आक्रमण कर इस वंश का नाश किया। मौखरी वंश कन्नौज में राज्य कर रहा था। 8 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यहाँ आयुधवंशीय राजाओं ने राज्य किया। चौहान वंश अजमेर एवं दिल्ली में शासन करता था। इस वंश के राजा पृथ्वीराज चौहान को 1192 ई० में तराइन

की लड़ाई में मुहम्मद गोरी ने हराया। कन्नौज में मौखरी और आयुधवंशीय राज्यों के बाद प्रतिहार वंश ने राज्य किया। जब प्रतिहार राजपूतों का भी ह्रास हो गया, तब यहाँ राठौर राजपूतों ने अपनी प्रतिभा स्थापित की। सेन वंश बंगाल में था। पाल वंश का राज्य बिहार में था। चन्देल वंश का प्रादुर्भाव नवीं शताब्दी में बुन्देलखण्ड के निकट हुआ था। परमार वंश का अभ्युदय 10वीं शदी में मालवा में हुआ था। 1305 ई० में अलाउद्दीन खिलजी ने परमार वंश को समाप्त कर दिया। गुजरात में चालुक्य (सोलंकी) वंश की स्थापना दक्षिण के चालुक्यों की एक शाखा द्वारा की गयी (थपलियाल, 2000, पृ० 28)।

इसी प्रकार दक्षिण भारत में भी अनेक छोटे–छोटे राजपूत राज्य थे, जैसे चालुक्य वंश, मालखण्ड का राष्ट्रकूट वंश, देवगिरि का यादव वंश, द्वारा समुद्र का होयसल वंश, काँची का पल्लव वंश और सुदूर दक्षिण के चोल, चेर एवं पाण्ड्य वंश प्रसिद्ध हैं (घोष, 2000, पृ० 70)।

इसी प्रकार भारत में अनेक छोटे–छोटे राज्य थे, जिन्हें मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा एक–एक करके परास्त किया जा सकता था। इन्हीं परिस्थितियों का लाभ उठाकर बगदाद (इराक) के खलीफा हज्जान ने अपने सेनापति मुहम्मद बिन कासिम को सिन्ध विजय के लिए 712 ई० में भेजा। बहाना यह ढूँढा गया कि सिन्ध के शासक देवल ने अरब के कुछ जहाजों को लूट लिया है, जो कि माल लेकर श्रीलंका से आ रहे थे। हज्जान ने देवल से हर्जाना माँगा, न देने पर उसने देवल को दण्डित करने के लिये युद्ध की घोषणा कर दी। मुहम्मद बिन कासिम से युद्ध में देवल की पराजय हुई और कासिम ने सिन्ध तथा बलोचिस्तान आदि क्षेत्रों पर आधिपत्य जमा लिया। कालान्तर में सिन्ध के राज्यपाल जुनैद ने भारत के आन्तरिक भागों को जीतने के लिए सेनाएं भेजी, परन्तु नागभट्ट (प्रतिहार), पुलकेशिन एवं यशोवर्मन (चालुक्य) ने इन्हें वापस खदेड़ दिया। इस प्रकार अरबियों का शासन भारत में सिन्ध प्रान्त तक सिमट कर रह गया। कालान्तर में इन्हें सिन्ध का भी त्याग करना पड़ा।

अरबों के बाद तुर्कों ने राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और सैन्य दृष्टि से निर्बल भारत पर आक्रमण किया। गजनी के शासक सुबुक्तगीन ने 986 ई० में हिन्दूशाही राजवंश के राजा जयपाल पर आक्रमण कर उसे परास्त कर दिया। इस पराजय से

उत्तर–पश्चिमी सीमान्त भाग सुबुक्तगीन के अधिकार में चला गया। इस प्रकार भारत में तुर्क साम्राज्य की स्थापना का प्रथम श्रेय सुबुक्तगीन को मिला। सुबुक्तगीन के बाद उसका पुत्र महमूद गजनवी (997–1030 ई०) गजनी का शासक बना। सर्वप्रथम महमूद गजनवी ने पंजाब को अपने साम्राज्य में मिलाया। धीरे–धीरे उसने भटिण्डा, मुल्तान, भेर राज्य, तालावाड़ी, काँगड़ा, थानेश्वर, लाहौर, कश्मीर, बुलन्दशहर, मथुरा, कन्नौज, कालिंजर, ग्वालियर तथा खोखर जाति के राज्य पर आक्रमण कर अपने साम्राज्य की अभिवृद्धि की (थपलियाल, 2000, पृ० 29)।

शिहाबुद्दीन उर्फ मुईजुद्दीन मुहम्मद गोरी (1175–1206 ई०) ने भारत में तुर्क राज्य की स्थापना की। गजनी और हिरात के मध्य स्थित छोटा पहाड़ी प्रदेश गोर पहले महमूद गजनवी के अधिकार में था किन्तु बाद में उसके उत्तराधिकारियों से गोर को मुहम्मद गोरी ने छीन लिया। मुहम्मद गोरी ने छोटे–छोटे राज्यों में बँटे और आपस में युद्ध करने वाले इन राज्यों को अपने साम्राज्य का अंग बना लिया। सर्वप्रथम उसने 1175 ई० में मुल्तान विजय की। इसके बाद गोरी ने 1178 ई० में गुजरात के अन्हिलवाड़, 1180 ई० में लाहौर एवं सिन्ध, 1192 ई० में अजमेर एवं दिल्ली के शासक पृथ्वीराज चौहान को, 1194 ई० में कन्नौज के शासक जयचन्द्र को पराजित किया। गोरी ने अपने गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक को भारत के विभिन्न प्रदेशों का प्रतिनिधि बनाया। कुतुबुद्दीन ऐबक ने 1197 ई० में गुजरात के राजा भीमदेव को परास्त किया। गोरी के सेनापति बिन बख्तियार ने बिहार और बंगाल विजय की। 1202 ई० में कालिंजर पर विजय प्राप्त की (घोष, 2000, पृ० 95–97)।

3.2 मध्यकाल

गुलाम वंश (1206 ई० से 1290 ई०) से भारतीय इतिहास के मध्यकाल का प्रारम्भ माना जाता है। मुहम्मद गोरी के गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक ने गोरी के साथ झाँसी, मेरठ, दिल्ली, रणथम्भौर और कोल प्रदेश जीते। 1197 ई० में नहरवाल तथा 1202 ई० में कालिंजर को अपने अधिपत्य में कर लिया। इल्तुतमिश (1211–36 ई०) ने गजनी और पंजाब के शासक ताजुद्दीन एलदौज को 1215 ई० में, सिन्ध के शासक कुबाचा को 1227 ई० में, 1225 ई० में बंगाल को, 1226 ई० में रणथम्भौर को, 1231 ई० में ग्वालियर, 1232 ई० में मालव

एवं भिलसा तथा 1233 ई० में कालिंजर एवं उज्जैन को अपने अधीन कर लिया। नासिरूद्दीन महसूदशाह (1246–66 ई०) ने पंजाब, सिंध, कन्नौज, रणथम्भौर व चन्देरी को विजित किया। बलबन (1266–86 ई०) ने दोआब, कटेहर तथा बंगाल के विद्रोहियों का दमन कर अपने अधीन किया।

गुलाम वंश के पश्चात खिलजी वंश (1290–1320 ई०) आया। अलाउद्दीन खिलजी (1296–1316 ई०) ने उत्तरी भारत की विजयों के अन्तर्गत गुजरात को अपने अधीन किया। दक्षिण भारत की विजयों के अन्तर्गत देवगिरि, तेलंगाना राज्य की राजधानी वांरगल, होयसल राज्य की राजधानी द्वारसमुद्र, पाण्ड्य राज्य की राजधानी मदुरा पर आक्रमण कर उनको विजित किया। अलाउद्दीन–खिलजी के शासन काल में मंगोल शासक दाऊद खाँ ने भारत पर अनेक आक्रमण किये।

खिलजी वंश के बाद तुगलक वंश (1320–1414 ई०) के शासक दिल्ली के सिंहासन पर पदारूढ़ हुए। पर देश के विभिन्न भागों के बीच एकता व एक–सूत्रता का अभाव पूरा न किया जा सका और भारत अनेक छोटी इकाइयों में विभक्त रहा। इसी समय देश की उत्तरी–पश्चिमी सीमा पर मुगलों का दबाव बढ़ रहा था। गयासुद्दीन तुगलक ने मुगलों के खिलाफ अपनी सीमाएं सुदृढ़ कीं और दक्षिण भारत में बेल्लोर एवं वारंगल तक अपने साम्राज्य को विकसित किया। मुहम्मद बिन तुगलक के समय अफगान साम्राज्य पुनः छोटे–छोटे भागों में विभक्त हो गया। उसने दक्षिण भारत में अपना राज्य अधिक सुदृढ़ करने के लिए अपनी राजधानी दिल्ली को देवगिरि (दौलताबाद) में स्थापित किया। कुछ समय में विजयनगर, खानदेश, मालवा, गुजरात, जौनपुर, तेलंगाना, गोंडवाना, बिहार एवं बंगाल आदि स्वतन्त्र हो गये (सिंह एवं श्रीवास्तव, 1973, पृ० 621)। तैमूर लंग के आक्रमण से तुगलक वंश के अन्त होने का मार्ग प्रशस्त हो गया।

3.2.1 मुगलकाल

चौदहवी एवं पन्द्रहवीं शदी में कभी–कभी यह भी स्थिति आयी कि अफगान सुल्तान नाममात्र के ही भारत के शासक रह गये और दिल्ली सल्तनत सिकुड़कर दिल्ली शहर के आस–पास ही रह गयी, खासकर कुछ सैय्यद सुल्तानों के समय। 1398 ई० में

अफगानिस्तान से खैबर दर्रे से होता हुआ तैमूर लंग ने भारत पर आक्रमण किया। तैमूर लंग के दिल्ली पहुँचने पर दिल्ली का सुल्तान भय से गुजरात भाग गया। तैमूर लंग ने अपने को दिल्ली का सुल्तान घोषित कर शीघ्र ही कश्मीर होता हुआ अफगानिस्तान वापस लौट गया। सिकन्दर लोदी ऐसा अन्तिम अफगान सुल्तान था जिसने समाप्त प्राय दिल्ली सल्तनत को जीवित करने का प्रयास किया और अफगान साम्राज्य की सीमायें पेशावर से दरभंगा तक फैल गईं और लगभग सम्पूर्ण उत्तरी भारत अफगान साम्राज्य में समाहित हो गया। इब्राहीम लोदी (चित्र 3.6) के समय देश की राजनीतिक एकता पुनः विघटित हो गयी और अधिकांश अफगान नवाब आपस में युद्धरत हो गये। इस अस्वस्थ राजनीनिक वातावरण का लाभ तैमूर के वंशज बाबर ने उठाया। जिसने काबुल और गन्धार के राज्यों पर आधिपत्य जमाने के बाद दिल्ली पर आक्रमण किया। पंजाब के शासक दौलत लोदी और चित्तौड़गढ़ के राणा साँगा ने बाबर के अभियान को यथाशक्ति असफल करने का प्रयास किया किन्तु 1526 ई० में पानीपत के युद्ध में बाबर ने इब्राहीम लोदी को परास्त कर अपने को दिल्ली का सुल्तान घोषित करके भारत में मुगल साम्राज्य की की नींव डाली। बाबर ने आगरा एवं राजस्थान सहित सम्पूर्ण उत्तर भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया (सिंह एवं श्रीवास्तव, 1973, पृ० 621–22)।

बाबर की मृत्यु के बाद उसका पुत्र हुमायूँ (1530–40 एवं 1555–56 ई०) मुगल साम्राज्य की गद्दी पर बैठा। हुमायूँ ने अपनी इच्छानुसार अपने भाइयों को काबुल, कन्धार, सम्भल, मेवात एवं अलवर की सूबेदारी दी थी। चूँकि हुमायूँ के भाई उसके विरोधी हो गये थे, इस कारण हुमायूँ की कम शक्ति का लाभ उठाकर अफगान शासक शेरशाह ने हुमायूँ पर आक्रमण कर दिया, 1540 ई० में शेरशाह सूरी ने चौसा के युद्ध में हुमायूँ को परास्त कर अपने को भारत का सम्राट घोषित कर दिया।

हुमायूँ ने फारस के शाह के साथ एक सन्धि की और उसकी सहायता से उसने 1555 ई० में सिकन्दर सूर को परास्त कर दिल्ली को विजित किया। अकबर (1556 से 1605 ई०) ने मुगल राज्य की सीमाओं का विस्तार सुदूर दक्षिण तक किया। अकबर द्वारा जीते गये प्रदेश इस प्रकार थे– मालवा, चुनार, गोंडवाना, गुजरात, बिहार, बंगाल, काबुल, कश्मीर, सिन्ध, उड़ीसा, बलूचिस्तान, कन्धार, राजस्थान में आमेर, मेड़ता, मेवाड़, रणथम्भौर,

काबुल में बाबर का राज्य
N
भारत
राजनीतिक स्थिति
1525 ई.
कश्मीर
पंजाब
(दौलतखां लोदी)
मुलतान
पानीपत
दिल्ली
दिल्ली सल्तनत
(इब्राहिम लोदी)
राजपूत संघ
(राणा सांगा)
सिंध
बिहार
बुन्देलखण्ड
मालवा
(महमूद द्वितीय)
गुजरात
गोंडवाना
बंगाल
खानदेश
बरार
उड़ीसा
अहमदनगर
बीदर
गोलकुंडा
बीजापुर
गोवा
(पुर्तगीज)
विजयनगर
100 0 100 200 300
किलोमीटर
हिन्द महासागर
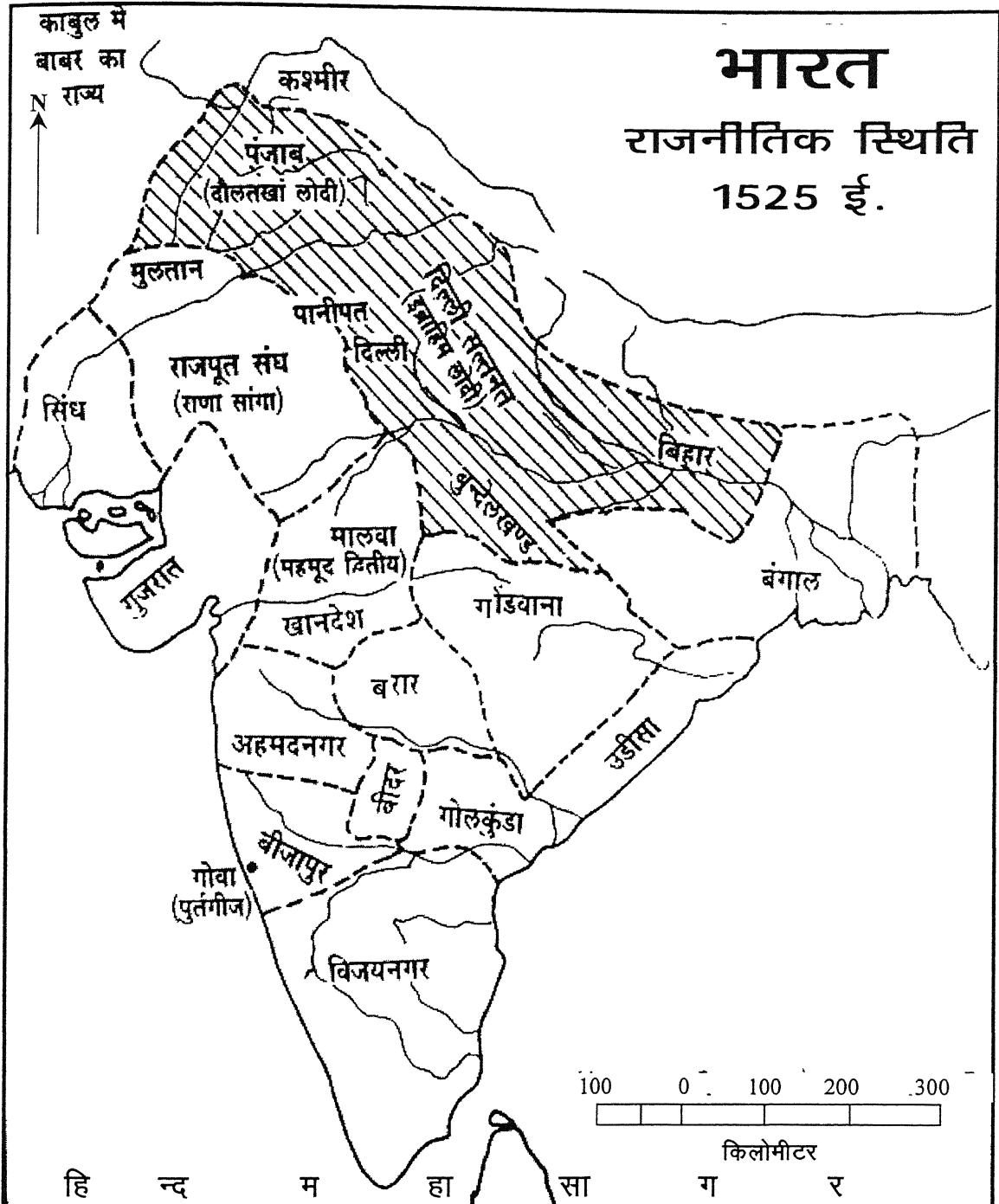
चित्र 3.6

कालिंजर, मारवाड, जैसलमेर, बीकानेर, दक्षिण भारत में खानदेश, दौलताबाद, अहमदनगर तथा असीरगढ़ (चित्र 3.7)। उत्तर भारत के सभी राजपूत शासकों ने अकबर का स्वामित्व स्वीकार किया। दक्षिण भारत में उसने गोदावरी नदी तक अपने राज्य का विस्तार किया। गुजरात, कच्छ, मध्य भारत और सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर अकबर का आधिपत्य था। पूर्व में मुगल राज्य की सीमायें गंगा के डेल्टा और पश्चिम में सिन्धु घाटी व उत्तर–पश्चिम में अफगानिस्तान तक विस्तृत थीं। उसने अपने साम्राज्य को 18 प्रान्तों में विभाजित किया। प्रत्येक प्रान्त का शासक कुछ हद तक स्वायत्त था, किन्तु वह केन्द्रीय शासन की कड़ी से आबद्ध था। अकबर के उत्तराधिकारी जहाँगीर एवं शाहजहाँ, चूँकि कला प्रेमी थे। इसलिए उन्होंने साम्राज्य विस्तार पर ध्यान नहीं दिया। औरंगजेब (1658–1707 ई०) अन्तिम महान मुगल सम्राट था, जिसने मुगल साम्राज्य की सीमाओं का विकास चरम सीमा पर पहुँचा दिया। औरंगजेब के दक्षिण अभियान बहुत ही सफल रहे तथा केरल एवं तमिलनाडु के दक्षिणी भागों को छोड़कर शेष समस्त प्रायद्वीपीय भारत मुगल राज्य में समाहित था। उत्तर, पूर्व तथा पश्चिम में राज्य की सीमायें अकबर के शासन काल के समान थीं। यद्यपि औरंगजेब के समय राज्य का विस्तार चरम सीमा पर था पर औरंगजेब की नीति अकबर के समान दूरदर्शिता की नहीं थी। धर्म सम्बन्धी उसकी कठोरता ने हिन्दुओं को असन्तुष्ट कर दिया। औरंगजेब के दक्षिण भारत के अभियान धन व जन हानि की दृष्टि से इतने मँहगे साबित हुए कि मुगल साम्राज्य की जड़ें खोखली हो गईं और उसकी मृत्यु के बाद भारत पुनः अनेक प्रशासकीय इकाइयों में विभक्त हो गया।

3.3 आधुनिक काल

औरंगजेब के कमजोर उत्तराधिकारी मुगल साम्राज्य को संगठित नहीं रख सके, मात्र 27 वर्ष में 5 मुगल सम्राट हुए। इसका परिणाम यह हुआ–पंजाब में सिखों का प्रभाव बढ़ने लगा, सरहिन्द के निकट जाटों तथा दक्षिण एवं पश्चिम सूबों में मराठा राज्य स्थापित हो गया। मराठों के आक्रमण उत्तर भारत पर होने लगे। अली मुहम्मद खां ने रूहेलखण्ड, द्वाब और कुमायूँ की पहाड़ियों में अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। सआदत अली खां अवध में स्वतन्त्र हो गया। अलीवर्दी खां बंगाल में स्वतन्त्र हो गया। निजाम–उल–मुल्क हैदराबाद में

भारत
अकबर का साम्राज्य
1605 ई.
N
फरगना
बुखारा
समरकन्द
ट्रांसआक्सियाना
चीन
फारस
वलख
काबुल
श्रीनगर
अफगानिस्तान
कलानौर
कन्धार
A
लाहौर
तिब्बत
मुल्तान
पानीपत
दिल्ली
नेपाल
अकबर का
फतेहपुर सीकरी
आगरा
भूटान
अमरकोट
अजमेर
साम्राज्य
B
रोहतास गढ
सासाराम
सोनारगांव
सूरत
असीरगढ़
गोंडवाना
दौलतबाद
अहमदनगर
गोलकुंडा
बंगाल की खाड़ी
अरब सागर
बीजापुर
पौलिगार
स्वतंत्र राज्य
A कांगड़ा राज्य
B मेवाड़-उदयपुर राज्य
100 0 100200300
किलोमीटर
हिन्द महासागर
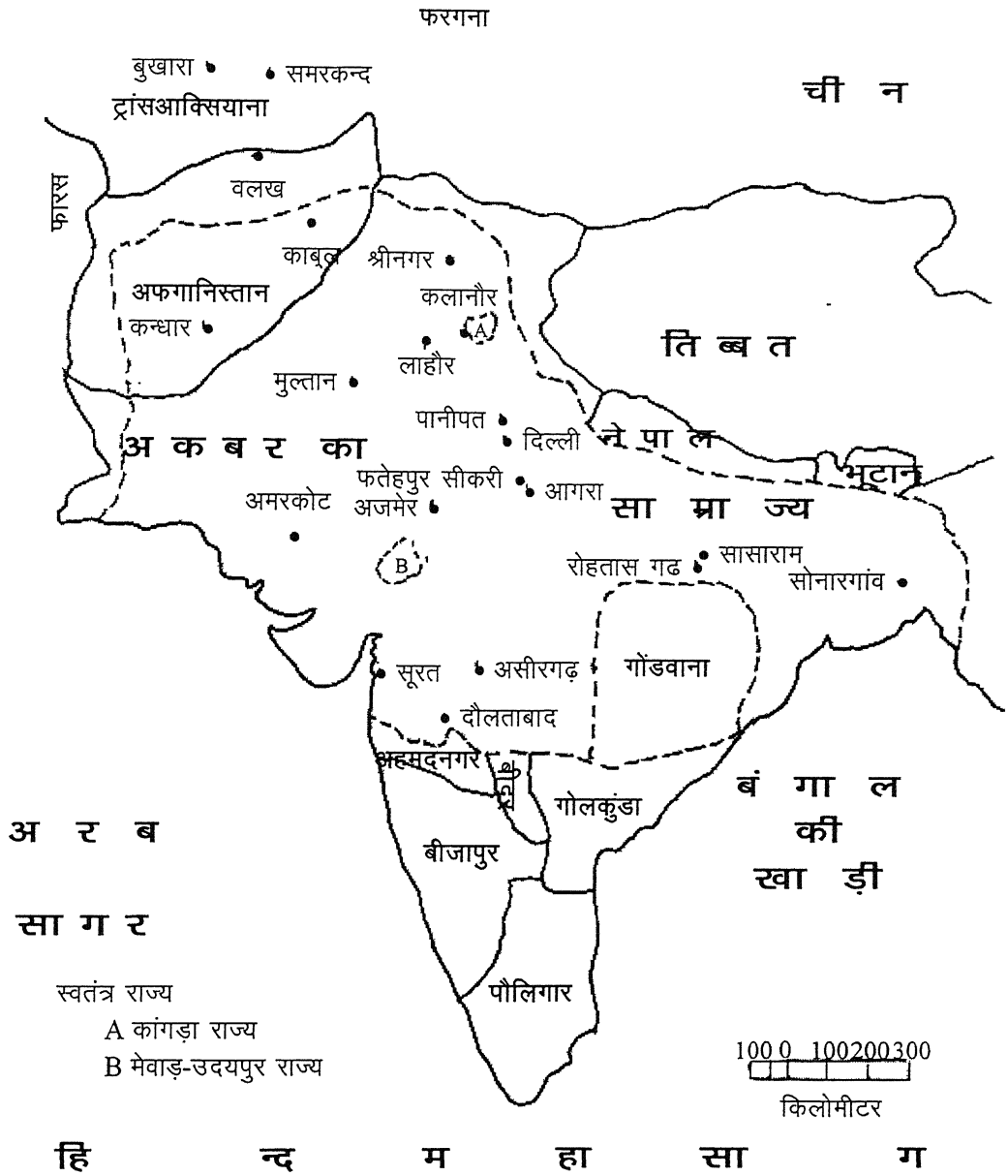
चित्र 3.7

स्वतन्त्र हो गया। इससे भारत की राजनीतिक एकता खण्डित हो गयी और यूरोपीय कम्पनियों को भारतीय देशी राज्यों में हस्तक्षेप का मौका मिल गया।

सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक भारत तथा यूरोप के बीच होने वाले व्यापार का अधिकांश भाग पुर्तगालियों के हाथ में था किन्तु शीघ्र ही डेनिस, डच, अंग्रेज तथा फ्रान्सीसी भी इस रंगमंच पर अवतरित हुए। डच लोगो ने अपने मुख्य केन्द्र नागापट्टनम, पुलीकट एवं कोचीन में बनाये। 1600 ई० में अंग्रेजों की मुख्य व्यापारिक इकाई ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना हुई। अंग्रेजों ने अपनी फैक्टरियाँ सूरत, मछलीपटनम एवं कालीकट में स्थापित कीं तथा 1639 ई० में अपना पहला किला सेंट जार्ज (चेन्नई) में बनाया। फ्रान्सीसियों के मुख्य केन्द्र पाण्डिचेरी, चन्द्रनगर व मछलीपट्टनम थे जबकि डेनमार्क के व्यापारियों ने ट्रंकेबार व हुगली तट पर श्रीरामपुर में अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित किये।

सत्रहवीं शताब्दी में राजनीतिक दृष्टि से भारत में दो तत्वों का प्रादुर्भाव हुआ। प्रथम सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में मुगल साम्राज्य के प्रति विद्रोह की आग हिन्दू राजाओं एवं कुछ असन्तुष्ट अफगान नवाबों के ह्रदय में थी एवं औरंगजेब की मृत्यु के बाद यह प्रत्यक्ष रूप से सामने आ गयी। मुगल साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ हो चुका था (चित्र 3.8)। दक्षिण में मराठा शासकों का प्रभुत्व बढ़ रहा था, शिवाजी ने औरंगजेब के खिलाफ जिस राज्य की स्थापना की थी, वह धीरे–धीरे बढ़ रहा था। देश में राजनीतिक अस्थिरता बढ़ रही थी और हम भारतीय स्वयं स्वार्थवश अपने अस्तित्व को समाप्त करने की शीघ्रता से तैयारी कर रहे थे। दूसरा महत्वपूर्ण तत्व यह था कि बाहर से आये हुये व्यापारी अपनी-अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे। पुर्तगालियों का प्रभुत्व हिन्द महासागर में जो कि सोलहवीं शताब्दी में अपने चरमोंत्कर्ष पर था, धीरे–धीरे कम हो रहा था। डच एवं फ्रान्सीसी अपना प्रभुत्व तेजी से बढ़ा रहे थे। इन विदेशी व्यापारियों में आपस में युद्ध होते रहते थे (सिंह एवं श्रीवास्तव, 1973, पृ० 624)।

3.3.1 मराठा काल

अठारहवीं शताब्दी के मध्य में भारत में तीन शक्तियों का प्राधान्य था– उत्तर तथा उत्तर–पश्चिम में पंजाब, सिन्ध, कश्मीर, सीमान्त प्रदेश व बलोचिस्तान में अफगान शक्ति का पुनरोत्थान हो रहा था, दक्षिण में निजाम की शक्ति का विकास हो रहा था और कलिंग,

भारत
मुगल साम्राज्य
1739 ई.
N
करनाल
दिल्ली
राजपूताना
अ व ध
जोधपुर
भरतपुर
आगरा
बि हा र
सिन्ध
मु ग ल सा म्रा ज्य
पटना
मा ल वा
बुन्देलखण्ड
बं गा ल
गुजरात
सूरत
मराठा
राज्य
कटक
बम्बई
पूना
अ र ब
बं गा ल
उत्तरी सरकार
की
कोल्हापुर
हैदराबाद
सा ग र
खा ड़ी
अंडमान
और
निकोबार
मैसूर
मैसूर
जिंजी
लक्षद्वीप
कर्नाटक
द्वीप समूह
ट्रावनकोर
100 0 100 200 300
किलोमीटर
हि न्द म हा सा ग र
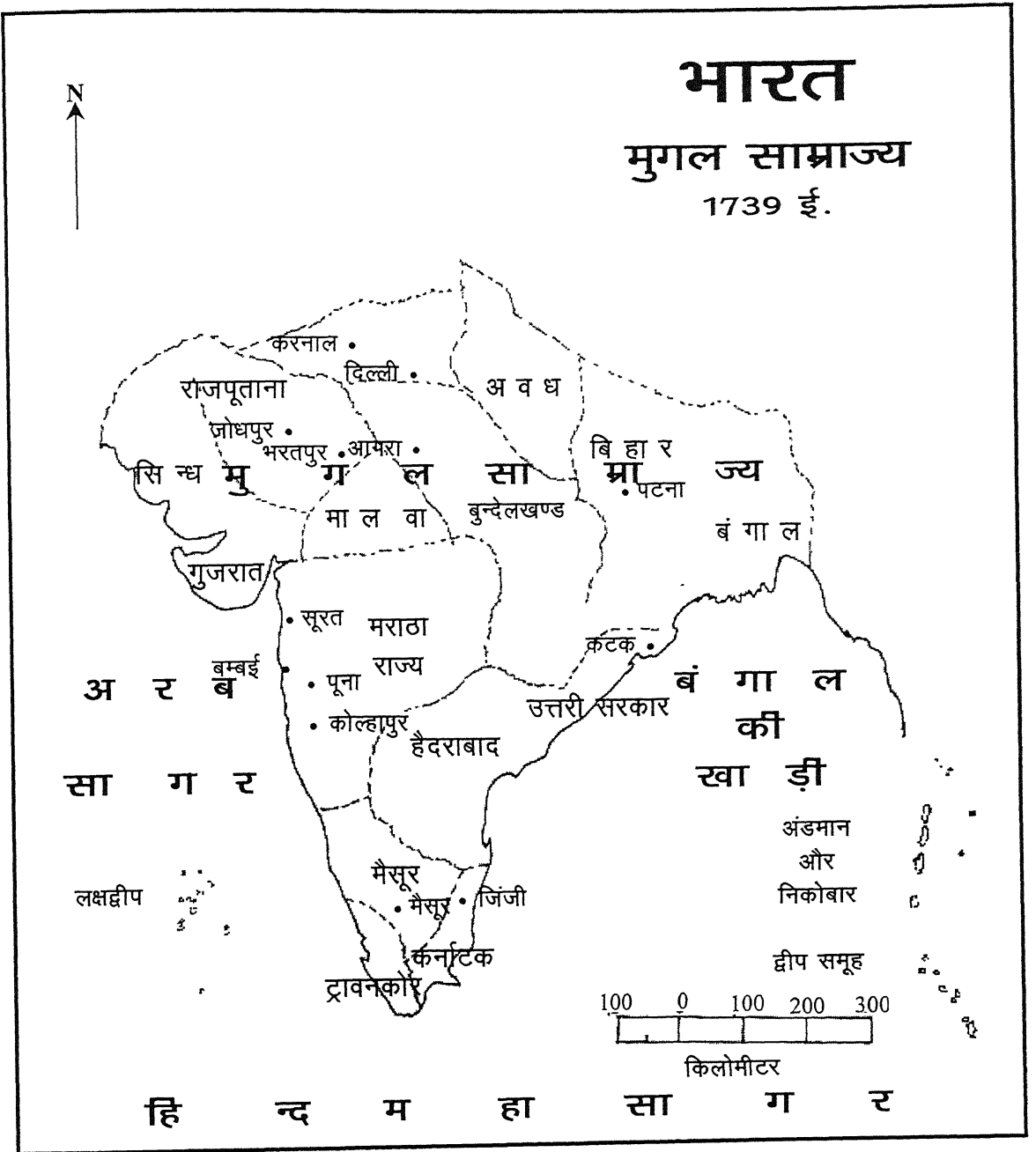
चित्र 3.8

तेलंगाना, बरार आदि का अधिकांश भाग निजाम के राज्य का अंग था। द्वितीय शक्ति के रूप में मराठा थे जो अब पश्चिमी घाट के निकटस्थ प्रदेशों तक ही सीमित न थे वरन् पेशवा, भोंसले, गायकवाड़ व होल्कर वंश के मराठों के प्रयत्न के फलस्वरूप मराठा राज्य का विकास पश्चिमी समुद्र तट के कोंकण प्रदेश से पूर्व में महानदी के डेल्टा तक और दक्षिण में तुंगभद्रा व गोदावरी नदियों से लेकर उत्तर में गंगा, यमुना व चम्बल नदियों तक था। तीसरी मुख्य शक्ति फ्रान्सीसियों की थी जो देश के तटीय क्षेत्रों में प्रायद्वीपीय भारत में थी। बंगाल में चन्द्रनगर, पूर्वी तट पर मछलीपट्टनम् एवं पाण्डिचेरी पर पहले ही फ्रान्सीसियों ने व्यापारिक कोठी स्थापित कर ली थी, शीघ्र ही दक्षिणी कर्नाटक के अर्काट तथा उत्तरी सरकार प्रदेश पर इन लोगों ने आधिपत्य जमा लिया। सन् 1751 ई० में डूप्ले ने अपनी कूटनीति से हैदराबाद को अपने प्रत्यक्ष शासन का अंग बना लिया। ठीक इसी समय अंग्रेजों ने भारतीय विदेशी व्यापार के तीन मुख्य द्वारों कलकत्ता, बम्बई व मद्रास पर अपना अधिकार जमा लिया, अतः व्यापार की दृष्टि से अंग्रेजों की स्थिति सुदृढ़ हो रही थी (सिंह एवं श्रीवास्तव, 1973, पृ० 625)।

सन् 1795 ई० में मराठा शक्ति अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गयी जब दक्षिण में तुंगभद्रा नदी, उत्तर में गंगा नदी, पश्चिम में कच्छ व पूर्व में महानदी के डेल्टा तक इनका प्रभुत्व फैला। शीघ्र ही मराठा सरदारों ने कुछ अर्द्धस्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की जैसे बड़ौदा के गायकवाड़, इन्दौर के होल्कर, नागपुर के भोंसले एवं ग्वालियर के सिन्धिया। इन मराठा सरदारों के आपसी द्वन्दों ने मराठा शक्ति व एकता को नष्ट कर दिया। दूसरी तरफ कलकत्ता, बम्बई व मद्रास का महत्व दिन–प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था और न केवल आर्थिक दशा पर ही वरन् राजनीतिक स्थिति में भी इन केन्द्रों का महत्व बढ़ रहा था। लार्ड क्लाइव की नीति व्यापार से हटकर राज्य ग्रहण करने की हुई। सर्वप्रथम सन् 1757 ई० में बंगाल में 24 परगना का क्षेत्र अंग्रेजों के अधिकार में आया। सन् 1760 ई० में अंग्रेजों ने बर्दमान, मिदनापुर एवं चटगाँव जिलों पर अधिकार किया जबकि 1765 ई० में सम्पूर्ण बंगाल एवं बिहार अंग्रेजों के शासन के अन्तर्गत आ गया। क्लाइव के उत्तराधिकारी वारेन हेस्टिंग्स व कार्नवालिस आदि ने ब्रिटिश राज्य की सीमा का काफी विस्तार किया (सिंह एवं श्रीवास्तव, 1973, पृ० 625)।

3.3.2 ब्रिटिश काल

छोटे–छोटे भारतीय राज्यों में आपसी फूट से अंग्रेजों को साम्राज्य विस्तार का अवसर मिला। परिणामस्वरूप एक सौ वर्ष से कम अवधि में ही सम्पूर्ण भारत पर अंग्रेजी कम्पनी का अधिकार हो गया। सन् 1849 ई० में पंजाब पर अधिकार होने के साथ ही सम्पूर्ण भारत पर कम्पनी शासन का प्रभुत्व स्थापित हो गया। लार्ड डलहौजी (1848–56 ई०) की हड़प नीति के कारण भारतीयों में असन्तोष फैल गया। परिणामस्वरूप प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम 1857 का अभ्युदय हुआ। लार्ड डलहौजी के समय देश अंग्रेजी साम्राज्य एवं अंग्रेजों के संरक्षण में देशी रियासतों में विभक्त था (चित्र 3.9)।

प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम यद्यपि विफल रहा किन्तु इसके प्रभाव से सम्पूर्ण देश में अभूतपूर्व एकता का विकास हुआ। सन् 1885 ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई जिसके माध्यम से भारतीयों ने स्वतन्त्रता आन्दोलन चलाया। राष्ट्र की जनता भी राष्ट्रीय आन्दोलन में उतर पड़ी। भारत छोड़ो आन्दोलन बढ़ता गया। जगह–जगह विभिन्न आन्दोलनों, विद्रोहों का ब्रिटिश सरकार ने दमन किया किन्तु वह उग्र से उग्रतर होता रहा। अब ब्रिटिश सरकार की समझ में आ गया कि भारत को स्वतन्त्र करना ही पड़ेगा। भारत के वायसराय लार्ड वेवेल (1944–47 ई०) ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच समझौता का बहुत प्रयास किया ताकि भारत को विभाजित किये बिना ही भारतीय नेताओं को सत्ता हस्तान्तरित की जा सके परन्तु मुस्लिम लीग के नेता मुहम्मद अली जिन्ना मुसलमानों के लिये पृथक मुस्लिम राष्ट्र पाकिस्तान की माँग पर डटे रहे। अन्ततः भारत के अन्तिम वायसराय लार्ड माउन्ट बेटन मार्च, 1947 ई० में भारत आये और ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम 1947 पारित किया। इस अधिनियम के अनुसार 14 अगस्त, 1947 ई० की अर्द्ध रात्रि को आर्थिक, सामाजिक, नैतिक एवं धार्मिक सभी दृष्टियों से भारत का दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन हुआ और पाकिस्तान नामक एक नये देश ने जन्म लिया। मुस्लिम बहुल जनसंख्या वाले क्षेत्रों पश्चिमी पंजाब, सिन्ध, बलूचिस्तान, पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त तथा पूर्वी बंगाल को मिलाकर पाकिस्तान (क्षेत्रफल 926969 वर्ग किमी०) बनाया गया। देश का शेष भाग 15 अगस्त, 1947 ई० को एक स्वतन्त्र राष्ट्र भारत (क्षेत्रफल 3287263 वर्ग किमी०) बना और इसके बाद पूर्ण स्वतन्त्र भारत से अंग्रेज स्वदेश वापस लौट गये।

भारत
ब्रिटिश साम्राज्य
1856 ई.
N
मेरठ
दिल्ली
नेपाल
अजमेर
ग्वालियर
बिठूर
लखनऊ
प्रयाग
(इलाहाबाद)
पटना
इन्दौर
कलकत्ता
सूरत
दमन
बम्बई
अरब
सागर
कोल्हापुर
विशाखापटनम्
मछलीपट्टम
बंगाल
की
खाड़ी
गोवा
(पुर्तगाल)
मद्रास
मैसूर
पाण्डिचेरी
(फ्रांस)
माहे
(फ्रांस)
कालीकट
कोचीन
लंका
हिन्द
महासागर
भारत में अंग्रेजी साम्राज्य
अंग्रेजों के संरक्षण में देशी रियासतें
100
0
100
200
300
किलोमीटर
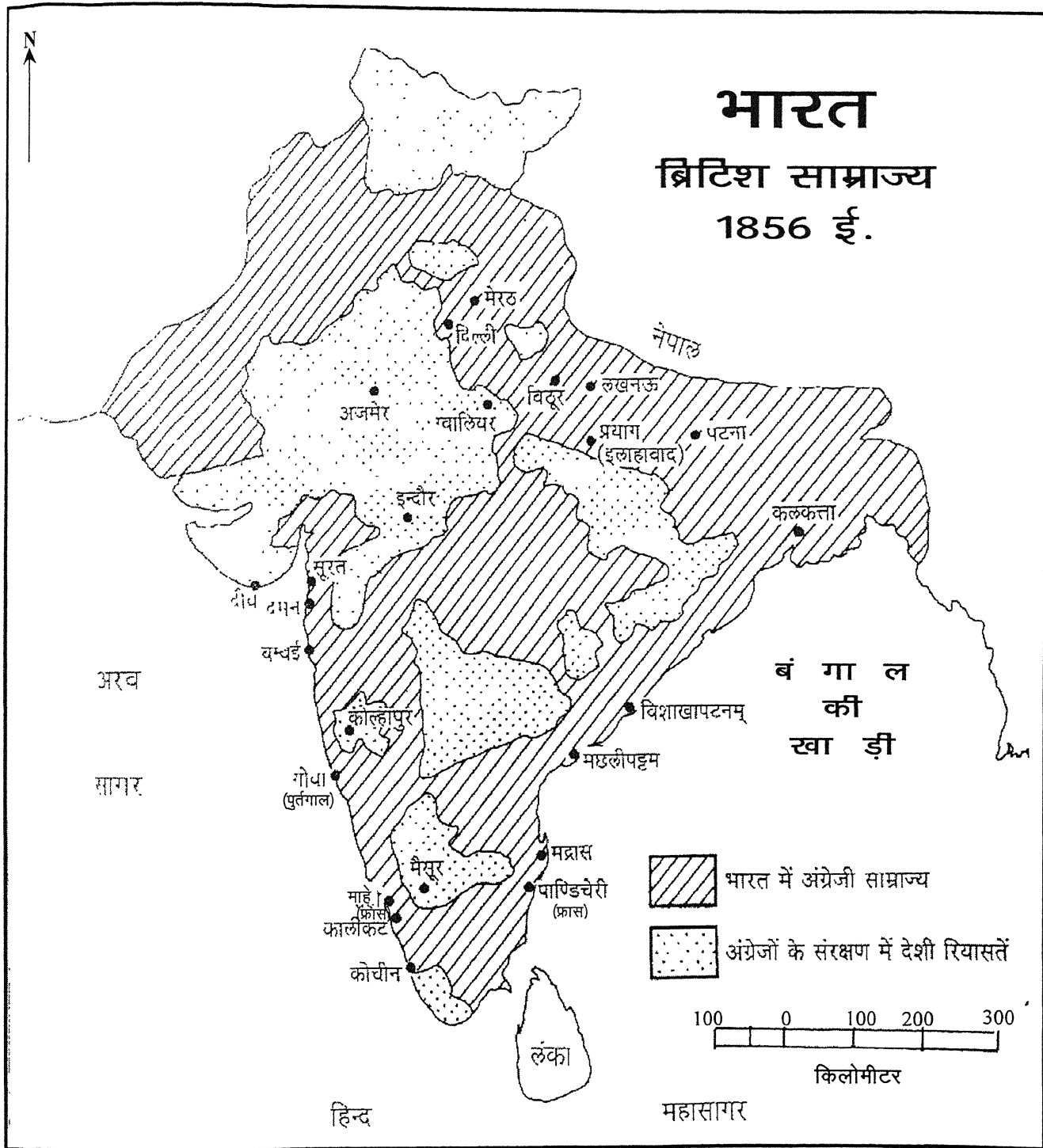
चित्र 3.9

3.3.3 स्वतंत्रता काल

विभाजन के समय देश में 552 विभिन्न आकार के स्वतन्त्र देशी राज्य विद्यमान थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सरदार पटेल के प्रयासों से देश का पुनर्गठन किया गया। 216 राज्यों का विलय करके विभिन्न प्रान्त बनाये गये, 61 राज्यों को मिलाकर 7 केन्द्र शासित राज्य बने तथा 275 छोटे राज्यों को राजस्थान, मध्य प्रदेश, केरल आदि राज्यों में मिलाया गया। स्वतन्त्र भारत के पुनर्गठन के प्रथम चरण में देश में चार वर्ग के राज्य थे –

(क) 'अ' वर्ग के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, असम, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, मद्रास (वर्तमान नाम तमिलनाडु) तथा बम्बई (वर्तमान नाम महाराष्ट्र) – राज्यपाल द्वारा शासित 9 राज्य थे।

(ख) 'ब' वर्ग के अन्तर्गत पेप्सू, मध्य भारत (वर्तमान नाम मध्य प्रदेश) मैसूर (वर्तमान कर्नाटक), सौराष्ट्र, राजस्थान, हैदराबाद तथा ट्रावनकोर–कोचीन राज्यों पर राज्य प्रमुखों का शासन था।

(ग) 'स' वर्ग के अन्तर्गत अजमेर, कच्छ, कुर्ग, दिल्ली, बिलासपुर, भोपाल, त्रिपुरा, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर एवं विन्ध्य प्रदेश राज्यों का शासन उप राज्यपाल द्वारा संचालित होता था।

(घ) 'द' वर्ग के अन्तर्गत अण्डमान व निकोबार द्वीपों का शासन केन्द्रीय सरकार द्वारा होता था।

3.3.4 राज्यों का पुनर्गठन

राज्य पुनर्गठन आयोग 1953 के गठन से पूर्व कुछ विद्वानों ने राज्यों के गठन हेतु सुझाव दिये, इनमें प्रमुख हैं–

सन् 1939 ई० में सिकन्दर ह्यात खान ने भारत को सात प्रदेशों में विभक्त किया (चित्र 3.10.A)। सन् 1930 ई० में साइमन कमीशन ने भारत को पाँच राज्यों में विभक्त करने की आवश्यकता बतायी। सन् 1941 ई० में भारत के जनगणना कमिश्नर डब्ल्यू० एम० डब्ल्यू०
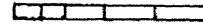
भारत
राज्य पुनर्गठन योजना
N
सिकन्दर की योजना
7
3
2
1
6
5
4
A
ईट्स की योजना
सि न्धु
ग गा
डे ल्टा
ट क्क न
B
मुखर्जी की योजना
उत्तर प्रदेश
पश्चिम प्रदेश
मध्य प्रदेश
पूर्व प्रदेश
दक्षिण प्रदेश
C
भथेजा की योजना
उत्तर भारत
मध्य भारत
पूर्व भारत
पश्चिम भारत
दक्षिण भारत
400 0 400 800 1200
किलोमीटर
D

चित्र 3.10

ईट्स (W. M. W. Yeats) ने नदी बेसिन के आधार पर देश को 4 प्रान्तों में विभाजित करने की आवश्यकता बतायी। ये 4 प्रान्त है– प्रथम **सिन्धु बेसिन** जिसके अन्तर्गत वर्तमान पाकिस्तान, पंजाब, हरियाणा, जम्मू-कश्मीर, राजस्थान, उत्तरी गुजरात, उत्तरी-पश्चिमी गुजरात, द्वितीय **गंगा बेसिन** जिसके अन्तर्गत वर्तमान उत्तरांचल, उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखण्ड, उड़ीसा तथा मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, पश्चिम बंगाल के क्षेत्र। इसमें गंगा तथा महानदी बेसिन के क्षेत्र आयेंगे। तृतीय **डेल्टा प्रदेश** के अन्तर्गत ब्रह्मपुत्र बेसिन के क्षेत इसमें वर्तमान बांग्लादेश, उत्तरी-पूर्वी पश्चिम बंगाल तथा पूर्वोत्तर भारत के राज्य सम्मिलित हैं। चतुर्थ **दकन प्रदेश** में दकन बेसिन के सभी क्षेत्र सम्मिलित हैं। इसके अन्तर्गत वर्तमान दक्षिणी गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, केरल, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु तथा दक्षिणी मध्य प्रदेश राज्य आते हैं (चित्र 3.10.B)।

बम्बई विशविद्यालय में राजनीति विज्ञान के प्रो० के० पी० मुकर्जी ने भारत को पाँच इकाइयों में विभाजित किया। ये हैं– उत्तर प्रदेश, पश्चिम प्रदेश, मध्य प्रदेश, दक्षिण प्रदेश तथा पूर्व प्रदेश (चित्र 3.10.C)। इसी प्रकार प्रो० एच० आर० भथेजा ने भारत को पांच भागों में विभक्त किया– उत्तर भारत, मध्य भारत, पूर्व भारत, पश्चिम भारत तथा दक्षिण भारत (चित्र 3.10.D) (श्रीवास्तव, 1979, पृ० 152–157)।

राज्य का उपरोक्त वर्गीकरण देश की संगठित एकता को व्यक्त नहीं करता था। भाषा, संस्कृति एवं भौगोलिक तथ्यों के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन आवश्यक समझा गया। दिसम्बर, 1953 ई० में एफ० फजल अली की अध्यक्षता में राज्य पुनर्गठन आयोग की स्थापना की गयी, जिसने भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की सिफारिश की। 1 नवम्बर, 1956 ई० को भारत सरकार ने आयोग के सुझाव पर देश में 14 राज्य एवं 6 केन्द्रशासित प्रदेशों के बनाने का निर्णय लिया (चित्र 3.11) (सारणी 3-I)।

N
भारत
पुनर्गठित
1 नवम्बर, 1956 ई.
जम्मू
और
कश्मीर
श्रीनगर
पा कि स्ता न
ची न
चण्डीगढ़
पंजाब
H
दिल्ली
उत्तर
प्रदेश
लखनऊ
ने पा ल
भूटान
असम
वर्मा
राजस्थान
जयपुर
दिसपुर
मणिपुर
इम्फाल
पटना
बिहार
मध्य
प्रदेश
भोपाल
पश्चिम
बंगाल
आगरतला
त्रिपुरा
कलकत्ता
उड़ीसा
भुवनेश्वर
बम्बई
बम्बई
अ र ब
सा ग र
बं गा ल
की
खा ड़ी
हैदराबाद
आन्ध्र प्रदेश
गोवा
मैसूर
अण्डमान
और
निकोबार
बंगलौर
मद्रास
लक्षद्वीप
मद्रास
100 0 100 200 300
किलोमीटर
केरल
द्वीप
समूह
तिरुवनन्तपुरम्
अन्तर्राष्ट्रीय सीमा
प्रान्तीय सीमा
राज्य
संघीय राज्य
पुर्तगाली क्षेत्र
H हिमाचल प्रदेश
हि न्द म हा सा ग र

चित्र 3.11

सारणी 3.I
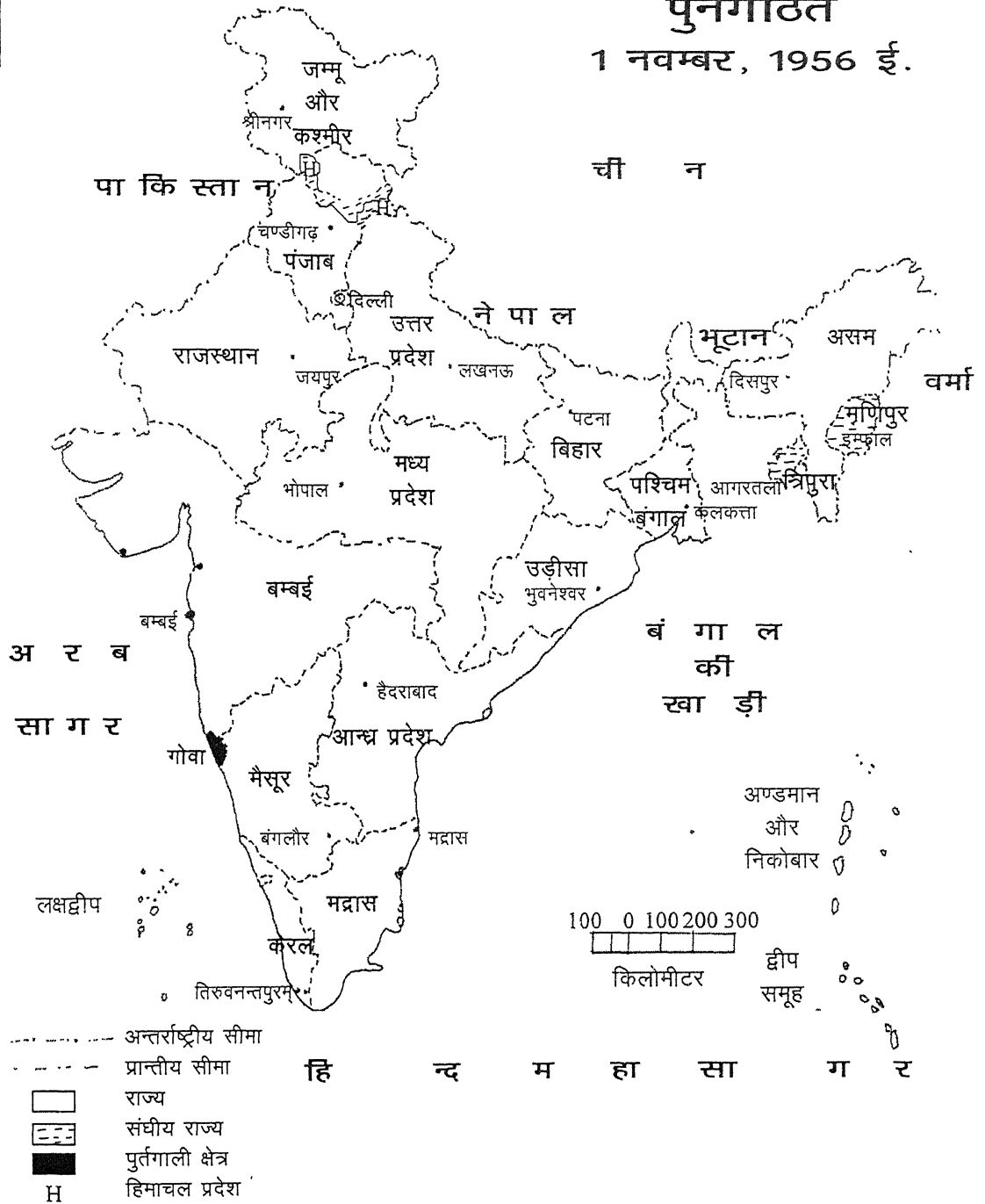
इकाई का नाम	क्षेत्रफल(वर्ग किमी0)	भाषा	राजधानी
राज्य			
आन्ध्र प्रदेश	285,546	तेलुगु	हैदराबाद
असम	220,180	असमिया	शिलांग
बिहार	227,478	हिन्दी	पटना
बम्बई	487,540	मराठी	बम्बई
जम्मू एवं कश्मीर	240,299	उर्दू	श्रीनगर
केरल	38,797	मलयालम	त्रिवेन्द्रम
मध्य प्रदेश	443,406	हिन्दी	भोपाल
मद्रास	129,939	तमिल	मद्रास
मैसूर	188,370	कन्नड	बंगलौर
उड़ीसा	155,751	उड़िया	भुवनेश्वर
पंजाब	120,733	पंजाबी, हिन्दी	चण्डीगढ़
राजस्थान	342,655	हिन्दी	जयपुर
उत्तर प्रदेश	283,728	हिन्दी	लखनऊ
पश्चिम बंगाल	86,192	बंगाली	कलकत्ता
केन्द्रशासित प्रदेश			
अण्डमान निकोबार द्वीप समूह	8,327		पोर्ट ब्लेयर
दिल्ली	1,477		दिल्ली
हिमाचल प्रदेश	28,240		शिमला
लक्षदीव, मिनिकॉय एवं 26 अमीनी दीव द्वीप समूह			कोजीकोड
मणिपुर	22,346		इम्फाल
त्रिपुरा	10,660		अगरतला

(सिंह एवं श्रीवास्तव, 1973, पृ० 641–42)

फ्रान्सीसियों द्वारा अधिकृत पाण्डिचेरी, कराईकल, माही व यनम राज्य भारत को सौंप दिये गये। 18 दिसम्बर, 1961 को गोआ, दमन व दिव राज्यों पर भारत सरकार ने पुर्तगालियों से अपने अधिकार में लेकर इन्हें केन्द्र शासित राज्य घोषित किया।

राज्यों का पुनर्गठन देश के राजनीतिक स्वरूप का एक महत्वपूर्ण चरण था परन्तु कुछ क्षेत्रीय स्वार्थों की पूर्ति के लिए देश के कुछ भागों में अशान्ति रही। भाषा एवं क्षेत्रीय भेदभाव दबे नहीं थे। बम्बई, राज्यों के पुनर्गठन के बाद देश का सबसे बड़ा राज्य था, जहॉ मुख्यतः मराठी व गुजराती भाषायें बोली जाती थीं। अतः इसे भाषा के आधार पर दो राज्यों में विभक्त करने की माँग मुखरित हुई। नागपुर के आस–पास के लोग अलग विदर्भ राज्य की माँग कर रहे थे। फलस्वरूप 1 मई, 1960 ई० को बम्बई राज्य को दो भागों–गुजरात एवं महाराष्ट्र में विभक्त कर दिया गया। बम्बई राज्य देश के मानचित्र से समाप्त हो गया एवं राज्यों की संख्या 15 हो गयी। (सिंह एवं श्रीवास्तव 1973, पृ० 644)।

भारत के उत्तर–पूर्वी पहाड़ी प्रदेश में नागा आदि जनजातियाँ रहती हैं। ये लोग अपने पृथक राज्य के लिए निरन्तर उपद्रव करते रहे थे। भारत सरकार ने अप्रैल, 1957ई० में नागा पर्वत एवं तुएनसांग सीमान्त क्षेत्र नामक इकाई की स्थापना की परन्तु विद्रोह शान्त नहीं हुआ। सन् 1961 ई० में सरकार ने पृथक् नागालैण्ड नामक राज्य की माँग को स्वीकार किया और अन्ततः देश के सोलहवें राज्य के रूप में नागालैण्ड का जन्म फरवरी, 1964 ई० में हुआ।

पंजाब भी एक द्विभाषा–भाषी राज्य था। उत्तर–पश्चिम के लोग मुख्यतः पंजाबी भाषा बोलते थे और दक्षिण–पूर्व में हिन्दी का प्रचलन था। अकाली दल पृथक् पंजाबी सूबा की मॉग कर रहा था जिसकी भाषा पंजाबी हो। सरकार ने सन् 1966 ई० में यह माँग भी स्वीकार कर ली और 3 जून 1966 ई० को पंजाब पुनर्गठन सीमा आयोग ने अपनी रिपोर्ट दी जिसके आधार पर 1 नवम्बर, 1966 ई० से इस राज्य को पंजाबी–भाषा पंजाब तथा हिन्दी–भाषा हरियाणा दो इकाइयों में विभक्त किया गया। पंजाब के पहाड़ी जिले हिमाचल प्रदेश को सौंप दिये गये। 29 जनवरी, 1970 ई० को एक निर्णय के अन्तर्गत केन्द्र शासित

चण्डीगढ पंजाब को देने एवं उसके बदले में फाजिल्का तहसील, अबोहर नगर, फिरोजपुर जिले के 114 ग्राम तथा राजस्थान के कुछ भाग हरियाणा को दिये गये।

2 अप्रैल, 1970 ई० को असम राज्य से गारो, खासी तथा जयन्तिया पहाड़ी क्षेत्रों को पृथक कर मेघालय राज्य की स्थापना की गयी। 20 जनवरी, 1972 ई० को उत्तर–पूर्वी भारत के राज्यों के पुनर्गठन के अन्तर्गत मेघालय, त्रिपुरा, मणिपुर एवं नागालैण्ड राज्यों को पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान किया गया। अरूणाचल प्रदेश एवं मिजोरम केन्द्र शासित राज्यो की श्रेणी में रखे गये। 26 अप्रैल, 1975 ई० को भारत का संरक्षण प्राप्त सिक्किम राज्य भारत के 22 वें राज्य के रूप में देश का अभिन्न अंग घोषित किया गया (चौहान एवं गौतम, 1999, पृ० 4)।

25 जून, 1986 ई० को संविधान के 53 वें संशोधन विधेयक द्वारा मिजोरम को देश का 23 वॉ राज्य घोषित किया गया। 8 दिसम्बर, 1986 ई० को संविधान के 55 वें संशोधन विधेयक तथा एक अन्य विधेयक के द्वारा अरूणाचल प्रदेश को देश का 24 वॉ राज्य घोषित किया गया। 11 मई, 1987 को संविधान के 56 वें संशोधन विधेयक द्वारा गोआ को देश का 25 वॉं राज्य घोषित किया गया (चौहान एवं गौतम, 1999, पृ० 5)

शासन की सुविधा की दृष्टि से सन् 1957 ई० को उत्तर–पूर्वी सीमान्त प्रदेश (NEFA), उत्तराखण्ड तथा लद्दाख सीमा– प्रदेश को पृथक् कर दिया गया। इन पर शासन केन्द्रीय सरकार की ओर से उन राज्यपालों द्वारा होता है, जिन राज्यों में यह क्षेत्र स्थित हैं। इनके विकास का दायित्व केन्द्रीय सरकार पर है। केवल शासकीय विचार से यह अपने राज्यों के अंग हैं। (चौहान एवं गौतम, 1999, पृ० 6)।

छत्तीसगढ़ के गठन के लिए 'मध्य प्रदेश पुनर्गठन विधेयक – 2000' लोक सभा में 31 जुलाई, 2000 को व राज्य सभा में 9 अगस्त, 2000 को पारित कर दिया गया। 1 नवम्बर, 2000 को छत्तीसगढ़ देश के 26 वें राज्य के रूप में अस्तित्व में आया। उत्तरांचल के गठन के लिए 'उत्तर प्रदेश पुनर्गठन विधेयक–2000' लोक सभा में 1 अगस्त, 2000 को व राज्य सभा में 10 अगस्त, 2000 को पारित किया गया। 9 नवम्बर, 2000 को उत्तरांचल के रूप में 27 वें राज्य का जन्म हुआ। इसी प्रकार झारखण्ड राज्य के गठन के लिए 'बिहार

पुनर्गठन विधेयक– 2000' को लोक सभा ने 2 अगस्त, 2000 को व राज्य सभा ने 11 अगस्त, 2000 को पारित किया। 15 नवम्बर, 2000 को देश का 28 वॉ राज्य झारखण्ड अस्तित्व में आया (चित्र 3.12)।

15 नवम्बर, 2000 को देश के राज्यो व संघ शासित प्रदेशों के क्षेत्रफल को सारणी **3.II** मे प्रदर्शित किया गया है :

सारणी 3-II

भारत: राज्यों व संघ शासित प्रदेशों का क्षेत्रफल

(अवरोहीं क्रम में)

देश में स्थान	राज्य / संघ शासित प्रदेश	क्षेत्रफल (वर्ग कि0मी0)
राज्य		
1.	राजस्थान	3,42,214
2.	महाराष्ट्र	3,07,762
3.	मध्य प्रदेश	2,97,085
4.	आन्ध्र प्रदेश	276,814
5.	उत्तर प्रदेश	2,36,286
6.	जम्मू एवं कश्मीर	2,22,236
7.	गुजरात	1,95,984
8.	कर्नाटक	1,91,773
9.	उडीसा	1,55,842
10.	छत्तीसगढ़	1,46,361
11.	तमिलनाडु	1,30,069
12.	बिहार	97,200
13.	पश्चिम बंगाल	87,853
14.	अरूणाचल प्रदेश	83,578
15.	असम	78,523

भारत
प्रशासकीय इकाइयाँ
15 नवम्बर, 2002 ई.
N
जम्मू और कश्मीर
श्रीनगर
हिमाचल प्रदेश
पा कि स्ता न
चीं न
चण्डीगढ
शिमला
पंजाब
देहरादून
उत्तरांचल
हरियाणा
दिल्ली
राजस्थान
जयपुर
उत्तर प्रदेश
लखनऊ
सिक्किम
गगतोक
अरुणाचल
ईटानगर
असम
बिहार
पटना
दिसपुर
मेघालय
शिलांग
नागालैण्ड
कोहिमा
मणिपुर
इम्फाल
म्यांमार
गाधीनगर
गुजरात
झारखण्ड
राँची
पश्चिम बंगाल
अगरतला
त्रिपुरा
आईजोल
मिजोरम
भोपाल
मध्य प्रदेश
कोलकाता
छत्तीसगढ़
रायपुर
उड़ीसा
भुवनेश्वर
दीव
दमन
दादर और नगर हवेली
मुबई
महाराष्ट्र
बंगाल की खाड़ी
अ र ब सा ग र
हैदराबाद
यनम (पाण्डिचेरी)
पणजी
गोवा
आन्ध्र प्रदेश
कर्नाटक
अंडमान और निकोबार द्वीप समूह
बंगलौर
चेन्नई
पाण्डिचेरी
लक्षद्वीप
माहे (पाण्डिचेरी)
तमिलनाडु
करैकाल (पाण्डिचेरी)
केरल
100 0 100 200 300
किलोमीटर
तिरुवनन्तपुरम्
अन्तर्राष्ट्रीय सीमा
प्रान्तीय सीमा
राजधानी
प्रान्तीय मुख्यालय
हिन्द महासागर

चित्र 3.12

16.	झारखण्ड	76,677
17.	उत्तरांचल	58,125
18.	हिमाचल प्रदेश	55.673
19.	पजाब	50,362
20.	हरियाणा	44,322
21.	केरल	38,864
22.	मेघालय	22,489
23.	मणिपुर	22,352
24.	मिजोरम	21,087
25.	नागालैण्ड	16,527
26.	त्रिपुरा	10,477
27.	सिक्किम	7,298
28.	गोवा	3,702
केन्द्रशासित प्रदेश		
1.	अण्डमान निकोबार द्वीप समूह	8,249
2.	दिल्ली	1,483
3.	पाण्डिचेरी	492
4.	दादर व नागर हवेली	492
5.	चण्डीगढ़	114
6.	दमन व दीव	112
7.	लक्षद्वीप	32
योग	भारत	**32,87,263**

(सिंह, 2002, पृ० 2.15–2.16)

सन्दर्भ ग्रन्थ

चन्द्र, विपिन, 1996 : **भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष**, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली।

चौहान, वीरेन्द्र सिंह एवं गौतम, अलका, 1999 : **भारत**, रस्तोगी पब्लिकेशन्स, मेरठ।

घोष, शंकर, 2000 : **यूनिक**, प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद।

गुप्त, मानिक लाल, 2000 : **ऐतिहासिक मानचित्रावली**, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

पाण्डेय, रामनिहोर, 1994 : **प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास**, प्रमानिक पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद।

शर्मा, रामशरण, 1995 : **प्राचीन इतिहास**, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली।

सिंह, अरूणेश, 2002 : **भारतीय अर्थव्यवस्था : एक झलक**, ज्ञान भारती पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, इलाहाबाद, अध्याय 2 पृ० 15–16।

सिंह, जगदीश, सिंह कामेश्वरनाथ एवं पटेल, रामबरन, 1998 : **भारत का भूगोल**, ज्ञानोदय प्रकाशन, गोरखपुर।

सिंह, लेखराज एवं श्रीवास्तव, रूद्र प्रकाश, 1973 : **भारत का बृहत् भूगोल**, रामनारायण लाल बेनीप्रसाद, इलाहाबाद।

Srivastava, Rudra Prakash, 1979 : Territorial and Functional structure of states in India, University of Allahabad, Allahabad.

सरकार, सुमित, 1996 : **आधुनिक भारत**, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली एवं पटना।

थपलियाल, हरिप्रसाद, 2000 : **भारत की ऐतिहासिक मानचित्रावली,** हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन्स प्रा० लि० वाराणसी।

वाशम, ए० एल०, 1997 : **अद्‌भुत भारत,** शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी आगरा।

अध्याय – 4

प्रादेशिकवाद के प्रकार

भारत की स्वतन्त्रता इसकी जनता के लिए एक ऐसे युग की शुरुआत थी, जो एक नये दर्शन से अनुप्राणित थी। सन् 1947 ई० में देश ने अपने आर्थिक पिछडापन, भयंकर गरीबी, निरक्षरता, महामारी, भीषण सामाजिक विषमता और अन्याय के उपनिवेशवादी विरासत से उबरने के लिए अपनी लम्बी यात्रा की शुरूआत की। नवोदित भारत की बुनियादी रूपरेखा राष्ट्रवाद, धर्म निरपेक्षता और लोकतन्त्र सम्बन्धी मूल्य, तीव्र आर्थिक विकास के लक्ष्य एवं उग्र सुधारवादी परिवर्तन के उद्देश्यों से अनुप्राणित थी। चूँकि भारत में अत्यधिक क्षेत्रीय, भाषाई, जातीय, और धार्मिक विभिन्नतायें विद्यमान हैं। इसलिए देश की बहुतेरी अस्मिताओं को स्वीकार करते एवं जगह देते हुए तथा देश के विभिन्न भागों एवं लोगों के अनेक समुदायों को भारतीय संघ में पर्याप्त स्थान देकर भारतीयता को और भी विकसित किया जाना जरूरी है। पश्चिमी राजनीतिक यह भविष्यवाणी करते रहे कि न तो स्वतन्त्रता, न ही लोकतन्त्र और न समाजवाद भारत में लम्बे समय तक जीवित रह पायेगा और कभी न कभी भारतीय राजनीतिक व्यवस्था ढह जायेगी, भारत संघ जीवित नहीं बचेगा और यह राष्ट्र–राज्य अपने भाषाई और जातीय टुकड़ों में बिखर जायेगा। उन लोगों का यह तर्क है कि भारत की असंख्य जातियॉ, धर्म, भाषाई और जनजातीय विभिन्नतायें और उसके ऊपर से इसकी गरीबी, सामाजिक तंगहाली और असमानता, सम्पत्ति की बढती हुई विषमता, कठोर और श्रेणीगत सामाजिक ढाँचा, विशाल बेरोजगारी और असंख्य सामाजिक एवं आर्थिक समस्यायें इस देश की एकता और इसके विकास सम्बन्धी प्रयासों को निश्चित ही समाप्त कर देंगे। सन् 1977 के बाद जब से क्षेत्रीय दलों का उदय हुआ, यह अटकलें लगायी जाने लगीं कि भारत के विघटन की शुरुआत हेतु उपयुक्त परिस्थितियों का निर्माण हो चुका हैं। साम्प्रदायिक, भाषाई एवं जातिगत हिंसा, नक्सल विद्रोह, कश्मीर, उत्तर–पूर्व, पंजाब और उससे पहले तमिलनाडु में चलने वाले पृथकतावादी आन्दोलनों के रूप में भारत में प्रादेशिकवाद उभर कर सामने आया। भूमि सुधारों की अपर्याप्तता और ग्रामीण इलाकों में बडे पैमाने पर भूमिहीन किसानों की मौजूदगी, उद्योगों और राष्ट्रीय आय की धीमी विकास दर, जनसंख्या की ऊँची विकास दर को रोकने में असमर्थता, व्यापक

असमानता, जातिगत शोषण, महिलाओं के विरुद्ध भेदभाव, निष्क्रिय शिक्षा व्यवस्था, पर्यावरण में बढता प्रदूषण, शहरों में बढ़ती आबादी, मानवाधिकारों का हनन, राजनीति में गुटबन्दी, दलों की अस्त–व्यस्त स्थिति, बढ़ती राजनीतिक अशान्ति, अलगाववादी मॉगों और उनके आन्दोलन, प्रशासनिक पतन और यहॉ तक कि अराजकता, पुलिस की अक्षमता, भ्रष्टाचार और निष्ठुरता का उच्च स्तर एवं राजनीति का अपराधीकरण आदि मोर्चों पर भारत को अभी असफलता मिली है (चन्द्र, 2002, पृ० 1 से 7)। इन सभी कारणों से प्रादेशिकवाद को प्रोत्साहन मिलता रहा है। वर्तमान अध्याय में उपर्युक्त तथ्यों पर विचार करते हुए प्रादेशिकवाद के विभिन्न प्रकारों की विवेचना का प्रयास किया गया है।

प्रादेशिकवाद के प्रकार

प्रादेशिकवाद को सामान्यतः निम्न प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–
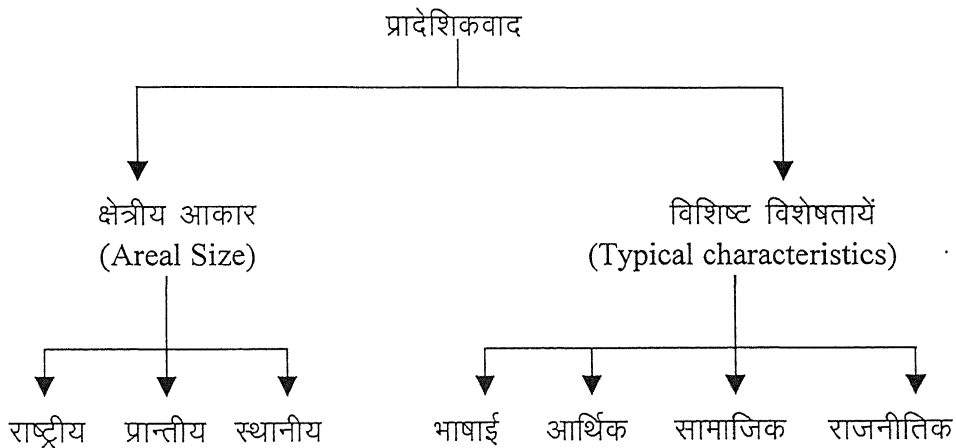
4.1 क्षेत्रीय आकार

क्षेत्रीय आकार पर आधारित प्रादेशिकवाद में प्रदेश एवं प्रान्त के हितों को अधिक महत्व दिया जाता है तथा कई तरह की सुविधाओं, यथा संसाधन विकास कार्यों एवं विकास योजनाओं हेतु धन के आबंटन, केन्द्रीय सहायता के आबंटन आदि में अधिकाधिक स्थान प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है, चाहे इससे राष्ट्र को भले ही हानि हो। क्षेत्रीय आकार पर आधारित प्रादेशिकवाद को तीन प्रमुख प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है–

4.1.1 राष्ट्रीय स्तरीय प्रादेशिकवाद

जब देश के अन्दर लोग अपने प्रदेश को राष्ट्रीय हित से अधिक महत्व देते हैं, तो उसे राष्ट्रीय स्तरीय प्रादेशिकवाद का नाम दिया जा सकता है। राष्ट्रीय स्तरीय प्रादेशिकवाद देश की एकता एवं सम्प्रभुता हेतु गम्भीर खतरा उत्पन्न करता है। भारत में यह प्रवृत्ति इसलिए और भी बढी क्योकि लोकतन्त्र की व्यवस्था के फलस्वरूप स्पर्धात्मक एवं विद्वेषात्मक राजनीति को बढ़ावा मिला। आर्थिक क्षेत्र में भी प्रतियोगिता बढ़ी और जो राष्ट्रीय एकता धरोहर के रूप में मिली थी, उसकी राष्ट्रीय भावना धीरे-धीरे कमजोर होने लगी। राष्ट्रीय नेतृत्व कमजोर हुआ तथा प्रान्तों के व्यक्तित्व में अभिवृद्वि हुई है। यह प्रवृत्ति राष्ट्रीय व्यक्तित्व की कमजोरी का द्योतक है। सन् 1977 ई० के पश्चात् भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों का आविर्भाव हुआ। उदाहरणार्थ, राष्ट्रीय दलों के स्थान पर पंजाब में अकाली दल, कश्मीर में नेशनल कान्फ्रेंस एवं पी० डी० पी०, गोवा में महाराष्ट्रवादी गोमान्तक पार्टी, तमिलनाडु एवं पाण्डिचेरी में द्रविड मुनेत्र कड़गम व आल इण्डिया अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम, आन्ध्र प्रदेश में तेलगुदेशम्, उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी एवं बहुजन समाज पार्टी, बिहार में राष्ट्रीय जनता दल, झारखण्ड में झारखण्ड मुक्ति मोर्चा, महाराष्ट्र में शिवसेना, असम में असम गण परिषद एवं पूर्वोत्तर भारत में उभरते क्षेत्रीय दल आदि ने राष्ट्रीय स्तर पर प्रादेशिकवाद को प्रोत्साहन दिया है (जैन, 1997, पृ० 278-285)।

राष्ट्रीय स्तर पर प्रादेशिकवाद के रूप में धरती पुत्र आन्दोलन 1950 के दशक में सामने आया। यह आन्दोलन एक राज्य से दूसरे राज्य में आने वाले प्रवासी मजदूरों और भाषायी अल्पसंख्यक समुदायों की हैसियत से सम्बन्धित रहा है। कई राज्यों में इस बात के लिए आन्दोलन आयोजित किये गये हैं कि सरकार अपने हस्तक्षेप द्वारा स्थानीय निवासियों के लिए रोजगार और नौकरियों की गारंटी करे और बाहरी लोगों को इसमें प्रवेश करने से रोके। वस्तुतः धरती-पुत्र के दर्शन के पीछे मूल विचार यह है कि एक राज्य उस खास भाषाई समूह का है जो वहाँ के निवासी हैं, शेष जितने भी लोग वहाँ रहते हैं एवं जिनकी मातृभाषा वहाँ की राजभाषा से भिन्न है, वे सभी बाहरी घोषित कर दिये जाते हैं। चाहे ये बाहरी लोग लम्बे समय से उस राज्य में रह रहें हों या निकट अतीत में वहाँ आये हों, पर उन्हें धरती पुत्र नहीं माना जाता। स्वतन्त्रता के पश्चात् नियोजन और आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप,

खासकर शहरों में, आर्थिक अवसर बड़े पैमाने पर विकसित होने लगे। परन्तु देश के विभिन्न भागों में इन आर्थिक अवसरों का विकास असमान तरीके से हुआ। इसलिए उन तक पहुँच भी असमान रूप से हुई। तब उन राज्यों के स्थानीय लोगों और धरती–पुत्रों के लिए बाहरी लोगों के मुकाबले रोजगार एवं शैक्षणिक अवसरों में प्राथमिकता देने की बात उठायी जाने लगी, जहाँ ये अवसर उपलब्ध हुए थे। आर्थिक संसाधनों और अवसरों के लिए यह संघर्ष अक्सर साम्प्रदायिकता, जातिवाद और भाई-भतीजावाद का रास्ता अपना लेता है। साथ ही साथ, भाषा के प्रति वफादारी और प्रादेशिकवाद का योजनाबद्ध दुरूपयोग भी बाहरी लोगों को उस राज्य के आर्थिक जीवन से बाहर करने के लिए किया जाता रहा है। संविधान की अस्पष्टता का लाभ उठाते हुए कई राज्यों ने नौकरियाँ आरक्षित कर दीं या राज्य की नौकरियों तथा शैक्षणिक संस्थाओं में भर्ती के लिए राज्य के निवासियों को प्राथमिकता दी जाने लगी। ऐसे मामलों में निवास की न्यूनतम अवधि निश्चित कर दी जाती है। ऐसे आरक्षण के पक्ष में सबसे प्रमुख तर्क यह दिया जाता है कि सम्बन्धित राज्य के स्थनीय लोग सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़े होने के कारण वहाँ के आगे बढ़े हुए प्रवासी समुदायों के साथ स्पर्धा की स्थिति में नहीं हैं। तकनीकी कालेजों और विश्वविद्यालयों में पिछड़े हुए स्थानीय छात्र दूसरे राज्य से आये विकसित छात्रों द्वारा दबा दिये जा सकते हैं। राज्य के पिछड़े निवासियों के लिए राज्य प्रशासन की नौकरियों और उच्च शिक्षण संस्थानों में आरक्षण, राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से अस्वागत होते हुए भी इनका एक तर्क समझा जा सकता है। लेकिन प्रवासी विरोधी आन्दोलनों के लिए ऐसी कोई दलील नहीं मानी जा सकती है। ये उग्रवादी प्रवासीविरोधी और धरती–पुत्र आन्दोलन ज्यादातर शहरों के आस–पास विशेष रूप से असम, आन्ध्र प्रदेश में तेलंगाना, कर्नाटक, महाराष्ट्र और उड़ीसा में फैले। इन्होनें प्रवासियों को परेशान किया और यहाँ तक कि उनके खिलाफ हिंसात्मक कार्यवाही की (चन्द्र, 2002, पृ० 175–178)।

4.1.2 प्रान्त स्तरीय प्रादेशिकवाद

जब किसी राज्य में किसी क्षेत्र विशेष के लोग अपने क्षेत्र के लिए सामाजिक–आर्थिक–राजनीतिक रूप से विशेष माँग करते हैं तो वह प्रादेशिक स्तरीय प्रादेशिकवाद कहलाता है। जन्म भूमि से प्रेम अथवा किसी क्षेत्र, उसकी भाषा और संस्कृति के

प्रति प्रेम प्रादेशिकवाद नहीं होता है। वह राष्ट्रभक्ति और राष्ट्रप्रेम के साथ सुसंगत होता है। एक व्यक्ति अपनी अलग क्षेत्रीय पहचान के प्रति सचेत और गौरवान्वित हो सकता है। अपने को पूर्वांचल या बुन्देलखण्ड या तेलंगाना या विदर्भ क्षेत्र का होने का अभिमान भी बिना किसी दूसरे क्षेत्र के लोगों के प्रति अनादर अथवा शत्रुता की भावना के और अपने भारतीय होने पर भी उतना ही अभिमान और गौरव महसूस करते हुए हो सकता है। प्रादेशिकवाद का मामला तब हमारे सामने आता है जब एक क्षेत्र के हितों को पूरे देश अथवा दूसरे क्षेत्रों या राज्यों के विरुद्ध पेश करने की कोशिश की जाती है और ऐसे तथा कथित हितों के आधार पर संघर्ष को प्रोत्साहित करने की कोशिश की जाती है। (चन्द्र, 2002, पृ० 165–166)। उदाहरणार्थ असम में बोडो आन्दोलन, आन्ध्र प्रदेश का तेलंगाना क्षेत्रीय आन्दोलन, पश्चिमी बंगाल में गोरखालैण्ड आन्दोलन आदि। ये सभी क्षेत्र राज्य के अन्दर अधिक स्वायत्तता अथवा विशेषाधिकार की माँग करते रहें हैं।

4.1.3 स्थानीय प्रादेशिकवाद

स्थानीय अथवा क्षेत्र स्तरीय प्रादेशिकवाद में क्षेत्रीय हितों को अधिक महत्व दिया जाता है इसके अन्तर्गत ब्लाक, तहसील एवं जिला स्तरीय प्रादेशिकवाद को सम्मिलित किया जा सकता है। इस प्रकार के प्रादेशिकवाद में जनता खुलकर भाग नहीं लेती बल्कि राजनीतिक नेता एवं प्रशासनिक अधिकारी सुप्रशासन के नाम पर ब्लाक, तहसील एवं जिलों का विभाजन करके लोगों को खुश करने के लिए नये ब्लाक, तहसील एवं जिला बनाने का प्रयास करते हैं। इसके पीछे जो छिपा तथ्य है वह है गरीबी, बेरोजगारी, भूख, अशिक्षा, जातीयता, बाह्य आक्रमणों से असुरक्षा आदि असफलताओं को छिपाने के लिए कभी कभी राजनेता एवं प्रशासक स्थानीय माँगों को उठाकर लोगों का सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। उन्हें यह बताने का प्रयास किया जाता है कि छोटे प्रशासनिक इकाइयाँ बनाकर उनकी आर्थिक समस्याओं का बेहतर समाधान ढूँढ़ा जा सकता है। राजनीतिज्ञों के इन नारों से गुमराह होकर कभी कभी स्थानीय लोग भी ऐसी माँगे कर बैठते हैं।

स्थानीय स्तर से शुरू होकर प्रादेशिकवाद प्रान्त एवं राष्ट्रीय स्तर पर पहुँचता है। स्थानीय प्रादेशिकवाद अपेक्षाकृत कम राष्ट्रीय एकता हेतु खतरनाक होता है, प्रान्तीय

प्रादेशिकवाद अपेक्षाकृत कुछ अधिक नुकसानदेह और राष्ट्रीय स्तरीय प्रादेशिकवाद राष्ट्रीय एकता को सर्वाधिक क्षति पहुँचाता है। राष्ट्रीय स्तरीय प्रादेशिकवाद का विकास स्थानीय प्रादेशिकवाद से ही होता है। यदि स्थानीय प्रादेशिकवाद पर अंकुश लगा दिया जाये तो राष्ट्रीय स्तरीय प्रादेशिकवाद पर काबू पाया जा सकता है।

4.2. विशिष्ट विशेषताओं के आधार पर प्रादेशिकवाद

अपने क्षेत्र अथवा राज्य को विकसित करने के लिए विशेष प्रयास करने या गरीबी दूर करने, भाषा को विकसित करने एवं सामाजिक न्याय दिलाने की कोशिश को प्रादेशिकवाद के रूप में परिभाषित नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार के सकारात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति पर आधारित थोड़ी अतर्क्षेत्रीय स्पर्धा काफी स्वस्थ चीज हो सकती है। विशिष्ट विशेषताओं के आधार पर प्रादेशिकवाद का मामला तब हमारे सामने आता है जब एक प्रान्त या क्षेत्र के नागरिक, भाषा, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक हितों को पूरे देश अथवा दूसरे राज्यों या क्षेत्रों के विरुद्ध पेश करने की कोशिश करते हैं तथा ऐसे हितों के आधार पर संघर्ष को प्रोत्साहित करने की कोशिश की जाती है। विशिष्ट विशेषताओं के आधार पर प्रादेशिकवाद को निम्न चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

4.2.1 भाषाई प्रादेशिकवाद

भारत में विभिन्न भाषायें बोली जाती हैं। जिनमें से हिन्दी, बांग्ला, तेलगु, मराठी, तमिल, उर्दू, गुजराती, कन्नड़, मलयालम, उड़िया, पंजाबी एवं असमिया को एक प्रतिशत से अधिक जनसंख्या बोलती है (चित्र 4.1)। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत का क्षेत्रीय विभाजन सैनिक, प्रशासनिक और राजनीतिक सुविधा की दृष्टि से किया गया था। बंगाल प्रेसीडेन्सी में बिहार, असम और उड़ीसा के क्षेत्र सम्मिलित थे। अक्टूबर 1905 ई० में गवर्नर जनरल की एक उद्घोषणा के द्वारा बंगाल प्रेसीडेन्सी से पृथक करके पूर्वी बंगाल का निर्माण किया गया। ज्ञातव्य है कि यद्यपि नये प्रान्त का निर्माण राजनीतिक आधार पर किया गया था, परन्तु मध्य प्रान्त से कुछ उड़िया– भाषी क्षेत्रों को बंगाल में सम्मिलित करने के समर्थन में भाषायी सिद्धान्त का भी प्रयोग किया गया था, क्योंकि उड़ीसा उस समय बंगाल प्रेसीडेन्सी में सम्मिलित था। Prof. J. R. Siwach (Dynamics of India Government and Politics) का

भारत
भाषायी प्रारूप
1991
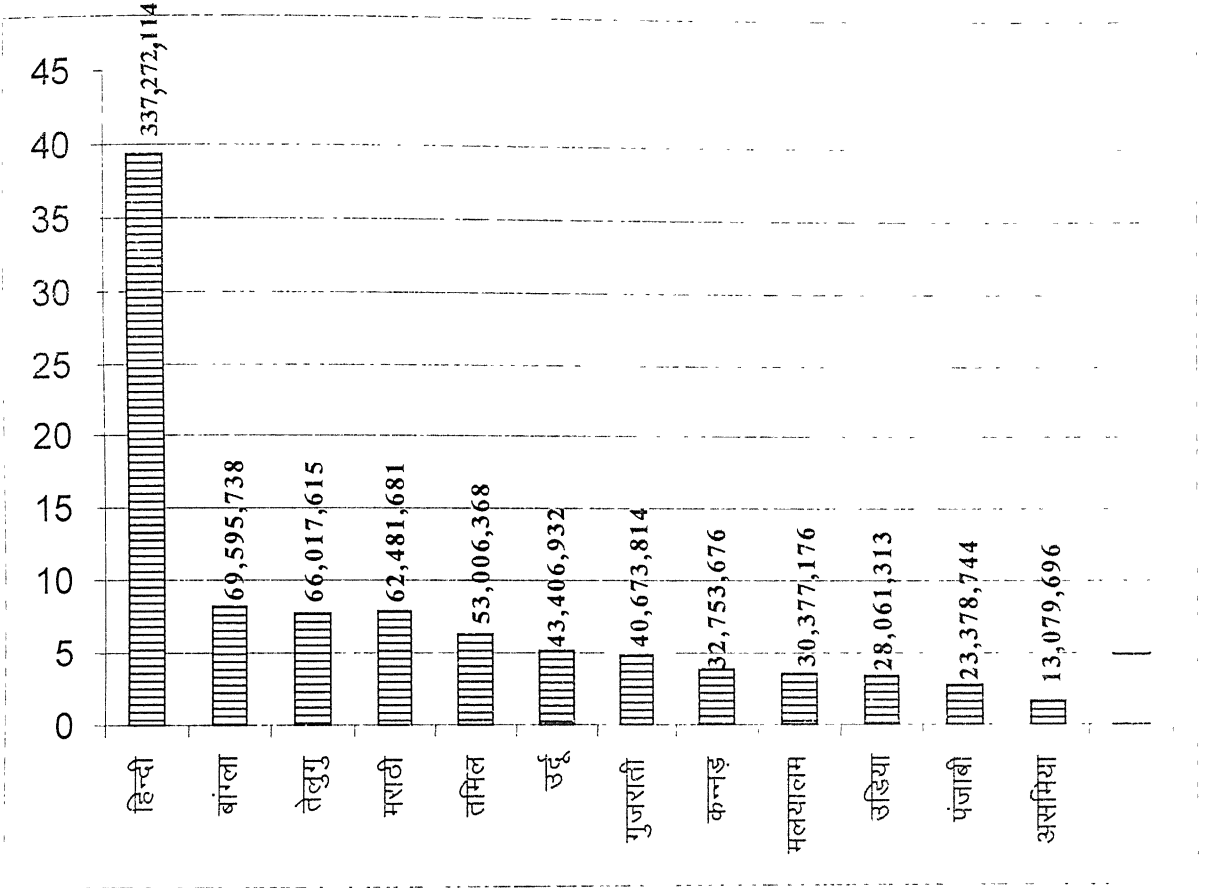
चित्र 4.1

मत है कि "बंगाल के विभाजन के उपरान्त आबद्धकारी शक्ति के रूप में भाषा का महत्व स्वीकार किया गया और इसी आधार पर सन् 1911 ई० में बंगाल का विभाजन निरस्त कर दिया गया। परन्तु जब राजनीतिक कारणों से सन् 1912 ई० में बिहार, उड़ीसा और असम को बंगाल से पृथक किया गया तो उनकी सीमाओं के निर्धारण में पुनः भाषायी सिद्धान्त का अनुसरण किया गया। "असम, बिहार और उड़ीसा के पृथक प्रान्त के रूप में अस्तित्व में आने (1912 ई०) के अगले ही वर्ष (1913 ई०) आन्ध्र महासभा की स्थापना की गयी। इसका उद्देश्य मद्रास प्रेसीडेन्सी से पृथक करके एक तेलगु भाषी राज्य के रूप में आन्ध्र प्रदेश की स्थापना था। माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार के दौरान भी भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन पर विचार किया गया। रिपोर्ट में यह भी स्वीकार किया गया कि भाषायी आधार पर प्रदेशों के निर्माण से प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों को अपनी कार्यवाही को स्थानीय भाषा में सम्पादित करने में आसानी होगी।

जहाँ तक भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के विचार के प्रति कांग्रेस के रुख का प्रश्न है, वह अस्थिर रहा है। बंगाल के विभाजन (1905 ई०) का विरोध और विभाजन की समाप्ति (1911 ई०) का समर्थन करके पहले तो कांग्रेस ने भाषायी सिद्धान्त के प्रति सहमति व्यक्त की, परन्तु सन् 1908 ई० में इसने एक कमेटी का गठन कर दिया, जबकि इस समय तक औपचारिक रूप से बंगाल और बिहार का विभाजन नहीं हुआ था। औपचारिक रूप से इस प्रश्न का कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन (1917 ई०) में सर्वप्रथम विचार किया गया। कांग्रेस की तत्कालीन अध्यक्षा ऐनी बीसेण्ट ने इस विचारधारा का खुलकर विरोध किया। बाल गंगाधर तिलक ने भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का समर्थन किया। सन् 1918 ई० तक महात्मा गाँधी भी भाषायी पुनर्गठन के सिद्धान्त से लगभग सहमत हो चुके थे, क्योंकि उनका मानना था कि लोक-संगठन बनाने के लिए कांग्रेस के लिए यह उपयुक्त होगा कि लोगों की भाषायी संवेदनाओं का उपयोग करें। कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन (1920 ई०) में भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के सिद्धान्त को आधिकारिक रूप से स्वीकार कर लिया गया। नेहरू रिपोर्ट (1928 ई०) में भी इसका समर्थन किया गया। सन् 1946 ई० में जारी अपने चुनाव घोषणा–पत्र में कांग्रेस ने सत्ता में आने की स्थिति में भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का मंतव्य प्रकट किया।

अन्तरिम चुनावों में कांग्रेस को भारी सफलता प्राप्त हुई। अब भाषायी आधार पर पुनर्गठन के समर्थक कांग्रेस पर दबाब डालने लगे। उस समय विभिन्न प्रान्तों में आन्तरिक भाषायी विवाद थे, जैसे मध्य प्रान्त में हिन्दी और मराठी–भाषा क्षेत्रों के निवासियों के मध्य, बरार में महाविदर्भ और संयुक्त महाराष्ट्र के मध्य, बम्बई में एक ओर महाराष्ट्र और गुजरात समर्थकों के मध्य। दक्षिण भारत में एक ओर आन्ध्र प्रदेश और तमिलनाडु समर्थकों के मध्य विवाद की स्थिति थी तो दूसरी ओर तमिलनाडु और केरल के समर्थकों के मध्य। इन सब विवादों को मददेनजर रखते हुए पं० जवाहर लाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल, जय प्रकाश नारायण, के० एम० मुंशी जैसे वरिष्ठ कांग्रेसी नेताओं ने तात्कालिक रूप से इस पर निर्णय स्थगित रखना ही उचित समझा, क्योंकि इस विषय पर कोई भी निर्णय लेने से और विवाद पैदा होने की सम्भावना थी। महात्मा गांधी और डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने भी इस बिन्दु पर भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का विरोध किया।

क्रमशः आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक तथा महाराष्ट्र के भाषायी आधार पर पुनर्गठन के समर्थकों का दबाव बढ़ने लगा। अन्ततः 27 नवम्बर, 1947 ई० को पं० जवाहर लाल नेहरू ने भाषायी आधार को स्वीकार कर लिया। तदोपरान्त 17 जून, 1948 ई० को संविधान सभा के अध्यक्ष डा० राजेन्द्र प्रसाद ने भाषायी प्रदेश आयोग की नियुक्ति की। इलाहाबाद उच्च न्यायालय के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश श्री एस० एन० धर की अध्यक्षता में गठित इस आयोग के अन्य सदस्य थे– सर्व श्री डा० पन्नालाल (अवकाश प्राप्त आई० सी० एस० अधिकारी) तथा जगत नारायण लाल (सदस्य, संविधान सभा) जबकि श्री बी० सी० बनर्जी (महालेखा परीक्षक, बिहार) को आयोग का सचिव बनाया गया। आयोग के नौ सहयोगी सदस्य भी बनाये गये सर्व श्री रामकृष्ण राजू, टी० ए० रामलिंगम, नारायण मेनन, टी० सुब्रहयमण्यम, के० एम० मुंशी, आर० आर० दिवाकर, एच० वी० पाटस्कर, टी० एल० सियोडे तथा गोपाल श्रीवत्स। आयोग ने भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के विचार से असहमति प्रकट की। स्वाभाविक था कि धर आयोग की रिपोर्ट से भाषायी आधार पर पुनर्गठन के समर्थक सन्तुष्ट न हुए। भाषायी पुनर्गठन पर धर आयोग के विचारानुसार "पूर्णतः या अंशतः भाषायी आधार पर राज्यों का गठन भारत राष्ट्र के दीर्घकालीन हित में नहीं है। अतएव इसे क्रियान्वित नहीं किया जाना चाहिए। नये प्रान्तों की स्थापना में भाषा की समरूपता को अन्य कारकों की

भाँति एक कारक के रूप में मान्यता दी जा सकती है, परन्तु इसे निर्णायक अथवा मुख्य तत्व नहीं माना जा सकता। यदि भारत का अस्तित्व ही कायम नहीं रहता है तो भारत की भाषायी समस्याओं के निराकरण से कुछ प्राप्त नहीं होगा।"

ऐसी स्थिति में दक्षिण भारत के कांग्रेस जनों ने कार्य समिति से इस विषय पर पुनर्विचार करने का आग्रह किया अपने जयपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने इस विषय पर विचार हेतु उच्च स्तरीय जे० वी० पी० समिति (जिसके सदस्य थे– पं० जवाहर लाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल और पट्टाभि सीतारमैया) की नियुक्ति की। इस समिति ने भी विस्तृत विचार–विमर्श के उपरान्त भाषायी आधार पर पुनर्गठन की माँग को निरस्त कर दिया।

जिस समय भारत का संविधान लागू हुआ, भारत में श्रेणी 'क' के 9 राज्य, श्रेणी 'ख' के 8 राज्य, श्रेणी 'ग' के 10 राज्य तथा श्रेणी 'घ' का एक राज्य था। सरकार के नकारात्मक दृष्टिकोण के बावजूद पृथक् आन्ध्र प्रदेश की स्थापना के लिए आन्दोलन जोर पकड़ने लगा। जुलाई, 1952 ई० में आन्ध्र के विधान सभा सदस्यों की बैठक आयोजित की गयी, बावजूद इसके कि विभिन्न राजनीतिक दलों ने अपने सदस्यों पर इस प्रकार की किसी बैठक में भाग लेने के लिए प्रतिबन्ध लगा रखा था। सन् 1952 ई० के अन्तिम महीनों में पृथक आन्ध्र की स्थापना की माँग को लेकर पोट्टी श्रीरमुलु ने आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिया और 56 दिनों के अनशन के उपरान्त उनकी मृत्यु हो गयी। तदुपरान्त आन्दोलन हिंसक होने लगा। अन्ततः 19 दिसम्बर, 1952 ई० को प्रधानमन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू ने पृथक आन्ध्र प्रदेश की स्थापना की घोषणा कर दी। न्यायमूर्ति वांचू को नये राज्य के सीमांकन का दायित्व सौंपा गया। 1 अक्टूबर, 1953 ई० को आन्ध्र प्रदेश औपचारिक रूप से नया प्रदेश बन गया। यह भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का पहला चरण था।

आन्ध्र प्रदेश की स्थापना से, जैसा कि स्वाभाविक था, भाषायी आधार पर पृथक् राज्यों की स्थापना की माँग करने वालों को पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त हुई। देश के कई भागों से इस तरह की माँगें आने लगीं। इन माँगों की जाँच पड़ताल करने और नये राज्यों की सीमा–निर्धारण के लिए सरकार द्वारा एक आयोग की नियुक्ति की गयी जिसकी औपचारिक घोषणा तत्कालीन गृहमन्त्री डॉ० कैलाश नाथ काटजू ने की। न्यायमूर्ति श्री एफ० फजल अली

को इसका अध्यक्ष और श्री हृदय नाथ कुंजरू तथा श्री के० एम० पन्निकर को इस "राज्य पुनर्गठन आयोग" का सदस्य बनाया गया।

समग्र रूप से आयोग की राय थी कि सिर्फ भाषायी आधार पर राज्यों का पुनर्गठन भारत के राष्ट्रीय हित में नहीं है, क्योंकि राष्ट्र की एकता और अखण्डता तथा वित्तीय एवं प्रशासकीय सुविधायें भी महत्वपूर्ण हैं। परन्तु इसके बावजूद व्यवहार में, आयोग ने जितने भी राज्यों की संस्तुति की, उनमें पंजाब और हरियाणा को छोड़कर सभी राज्य भाषायी दृष्टि से समरूप थे। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में 16 राज्य और 3 संघ–शासित क्षेत्र की संस्तुति की। इसके अतिरिक्त आयोग ने राज्यों की पूर्व विद्यमान श्रेणियों (क, ख, ग, घ) के समाप्ति की भी संस्तृति की। सरकार ने आयोग की सभी संस्तुतियों को यथावत स्वीकार नहीं किया। आयोग की संस्तुति 16 राज्य और 3 संघ–शसित प्रदेश की स्थापना की थी, जबकि सरकार ने अन्ततः 14 राज्य (आन्ध्र प्रदेश, असम, बम्बई, जम्मू–कश्मीर, केरल, मध्य प्रदेश, मद्रास, मैसूर, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, बिहार उत्तर प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल) तथा 6 संघ–शासित (अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, लक्षद्वीप मिनीकॉय तथा अमीनदिवी द्वीप) की स्थापना की।

परन्तु पुनर्गठन की प्रक्रिया यहीं समाप्त नहीं हुई। आयोग द्वारा बम्बई के विभाजन की माँग से असहमति के कारण जनवरी, 1956 ई० में महाराष्ट्र में बड़े पैमाने पर दंगे हुए। परिणामतः 'राज्य पुनर्गठन अधिनियम 1956' के अन्तर्गत बम्बई के विभाजन का प्रावधान किया गया और सन् 1960 ई० में बम्बई का महराष्ट्र और गुजरात में विभाजन कर दिया गया। सन् 1962 ई० में असम से अलग करके नागालैण्ड की स्थापना की गयी। सन् 1972 ई० में असम को पुनः विभाजित करके मेघालय की सृष्टि हुई। सन् 1972 ई० में ही अरूणांचल प्रदेश और मिजोरम को केन्द्र शासित प्रदेश बनाया गया। सन् 1987 ई० से ये दोनों राज्य बन चुके हैं। सन्त फतेह सिंह की आत्म–दाह की धमकी के उपरान्त सन् 1966 ई० में पंजाब का (पंजाबी भाषा–भाषी राज्य) तथा हरियाणा (हिन्दी भाषा–भाषी राज्य) के रूप में विभाजन कर दिया गया। चण्डीगढ़ को एक संघ शासित क्षेत्र बना दिया गया। सन् 1966 ई० के अन्त तक संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित 14 भाषाओं (वर्तमान में 18 भाषायें) में से 12 भाषाओं (उर्दू और संस्कृत को छोड़कर क्योंकि इन दोनों भाषाओं का क्षेत्र

सम्पूर्ण देश में है एवं इनके बोलने वाले एक जगह संग्रहीत नहीं है) में से प्रत्येक पर आधारित एक राज्य बन चुका था। इस प्रकार यह माना जा सकता है कि सन् 1966 ई० तक भाषायी आधार पर भारत के पुनर्गठन की प्रक्रिया काफी हद तक पूरी हो चुकी थी।

राज्य पुनर्गठन की सिफारिशों के विश्लेषण से दो नतीजे निकलते हैं– पहला यह कि यद्यपि आयोग ने बढ़ती हुई प्रादेशिक चेतना को पहचान लिया फिर भी आयोग इन आयामों को पहचानने में नाकाम रहा, जिसके कारण अलग–अलग प्रादेशिक आन्दोलन पैदा हुए। दूसरी बात यह है कि दूसरे दशक के मध्य से राज्यों के भाषायी आधार पर पुनर्गठन करने की माँग करके कांग्रेस भी उसकी अनेक शाखाओं–प्रशाखाओं के विस्तार को ऑकने में नाकाम रही।

भाषा प्रादेशिकवाद का एक प्रमुख तत्व माना जाता है। यहाँ तक कि प्रादेशिकवाद के वर्गीकरण में एक प्रकार भाषाई प्रादेशिकता (Linguistic Regionalism) को अलग से महत्व दिया जाता है। इसी भाषाई प्रादेशिकता के ज्वलन्त उदाहरण हैं। असम एवं बंगाल के मध्य भाषायी दंगे तथा तमिलनाडु में हुए आन्दोलन इत्यादि। यह प्रादेशिकता भाषा के माध्यम से लोगों को एकत्रित करती है। इससे सम्पूर्ण भाषा एक इकाई के रूप में संगठित होकर दूसरी भाषायी इकाइयों के सामने आता है। उदाहरणार्थ, जब अंग्रेजी का बहिष्कार करके हिन्दी को तेजी से लागू करने के प्रयास किये गये तो कुछ क्षेत्रों खासकर दक्षिण भारत में उग्र हिन्दी विरोधी आन्दोलन प्रारम्भ हो गये। इससे वैमनस्यता बढ़ती है। किन्तु केवल भाषा ही इस वैमनस्यता का कारण हो, ऐसी बात नहीं है, इसके पीछे आर्थिक पिछड़ापन भी महत्वपूर्ण कारक है। भाषा से प्रादेशिकवाद को बल अवश्य ही मिलता है किन्तु यह भी नहीं है कि एक भाषा-भाषी क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं होता है जैसे, आन्ध्र एवं तेलंगाना में भाषा एक ही है फिर भी यहाँ पृथक राज्य की माँग की जा रही है। अतः अन्दरूनी तौर पर भी आपस में तनाव हो सकता है जैसा कि तेलंगानावासियों ने कहा था कि उनका शोषण किया जा रहा था (जैन, 1997, पृ० 281)।

अप्रैल, 1963 ई० में तत्कालीन गृहमन्त्री श्री गुलजारी लाल नन्दा ने संसद में यह घोषणा की कि संघ के कार्यालयों में हिन्दी के अधिकाधिक प्रयोग के लिए हर सम्भव उपाय

किए जायेंगे। गृहमन्त्री के इस आश्वासन ने अहिन्दी भाषा–भाषी क्षेत्रों को चौकन्ना कर दिया। जून, 1963 ई० में द्रविण मुनेत्र कड़गम (D. M. K.) ने हिन्दी साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रत्यक्ष संघर्ष का आहवान किया ताकि "दक्षिण भारत के लोगों को दोयम दर्जे का नागरिक बनाने के षडयंत्र को नेस्तनाबूद किया जा सके"। प्रकारान्तर से आन्दोलन आन्ध्र प्रदेश और पश्चिम बंगाल में फैल गया (चित्र 4.2)। तब से आज तक समय–समय पर तमिलनाडु में हिन्दी विरोधी आन्दोलन होता रहा है। दक्षिण में हिन्दी विरोधी आन्दोलन की प्रतिक्रिया उत्तर के हिन्दी भाषा–भाषी प्रदेशों में हुई। इसके बावजूद हिन्दी विरोधी आन्दोलन जारी रहा।

केन्द्र सरकार द्वारा सन् 1983 ई० में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों के विषय में सुझाव देने के लिए गठित सरकारिया आयोग ने अपनी रिपोर्ट में यह स्वीकार किया है कि भाषाई आन्दोलन से भारत की राजनीतिक व्यवस्था के विकास में काफी विवाद और कटुता पैदा हुई है। आयोग ने भारतीय राजनीति में भाषा के कार्य–भाग पर कड़ा दृष्टिकोण अपनाते हुए कहा कि भाषा का राजनीतिकीकरण राष्ट्र के लिये घातक है। आयोग का मानना है कि राजभाषा के विकास की प्रक्रिया में अंग्रेजी सहित भारत की विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं के रूप, शैली तथा अभिव्यक्ति को बरकरार रखना जरूरी है। आयोग ने त्रि–भाषा सूत्र को कड़ाई से लागू करने की भी सिफारिश की है।

4.2.2 आर्थिक प्रादेशिकवाद

देश की एकता और अखण्डता सर्वोपरि होती है। किसी भी देश का विकास उसकी एकता और अखण्डता पर निर्भर करता है। देश के विभिन्न भागों के बीच पाया जाने वाला आर्थिक असन्तुलन और आर्थिक शोषण पारस्परिक मतभेदों को बढ़ावा देने में प्रभावशाली कारक रहा है। देश के कुछ राज्यों की आर्थिक स्थिति अच्छी है, जबकि उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखण्ड जैसे कुछ राज्य आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक पिछड़े हुए हैं। एक राज्य विशेष के आर्थिक संसाधनों पर दूसरे राज्य के लोगों के आधिपत्य का घोर विरोध किया जा रहा है। उदाहरणार्थ, बिहार तथा झारखण्ड में गठित बिहार बचाव मोर्चा इस बात की माँग कर रहा है कि बिहार में जो भी सार्वजनिक या निजी उपक्रम खनिज उत्पादन का व्यापार कर रहे हैं, उनके मुख्य कार्यालय बिहार राज्य के अन्तर्गत स्थित होने चाहिए। राज्य के बाहर इनके

भारत
हिन्दी भाषा विरोधी आन्दोलन
N
पा कि स्ता न
ची न
पंजाब
ने पा ल
भूटान
असम
नागालैण्ड
म्यां मा र
पश्चिम बंगाल
उडीसा
बं गा ल की खा ड़ी
अ र ब सा ग र
आन्ध्र प्रदेश
कर्नाटक
तमिलनाडु
केरल
लक्षद्वीप
अंडमान और निकोबार द्वीप समूह
100 0 100 200 300
किलोमीटर
हि न्द म हा सा ग र
अन्तर्राष्ट्रीय सीमा
प्रान्तीय सीमा
राजधानी
आन्दोलन प्रभावित क्षेत्र
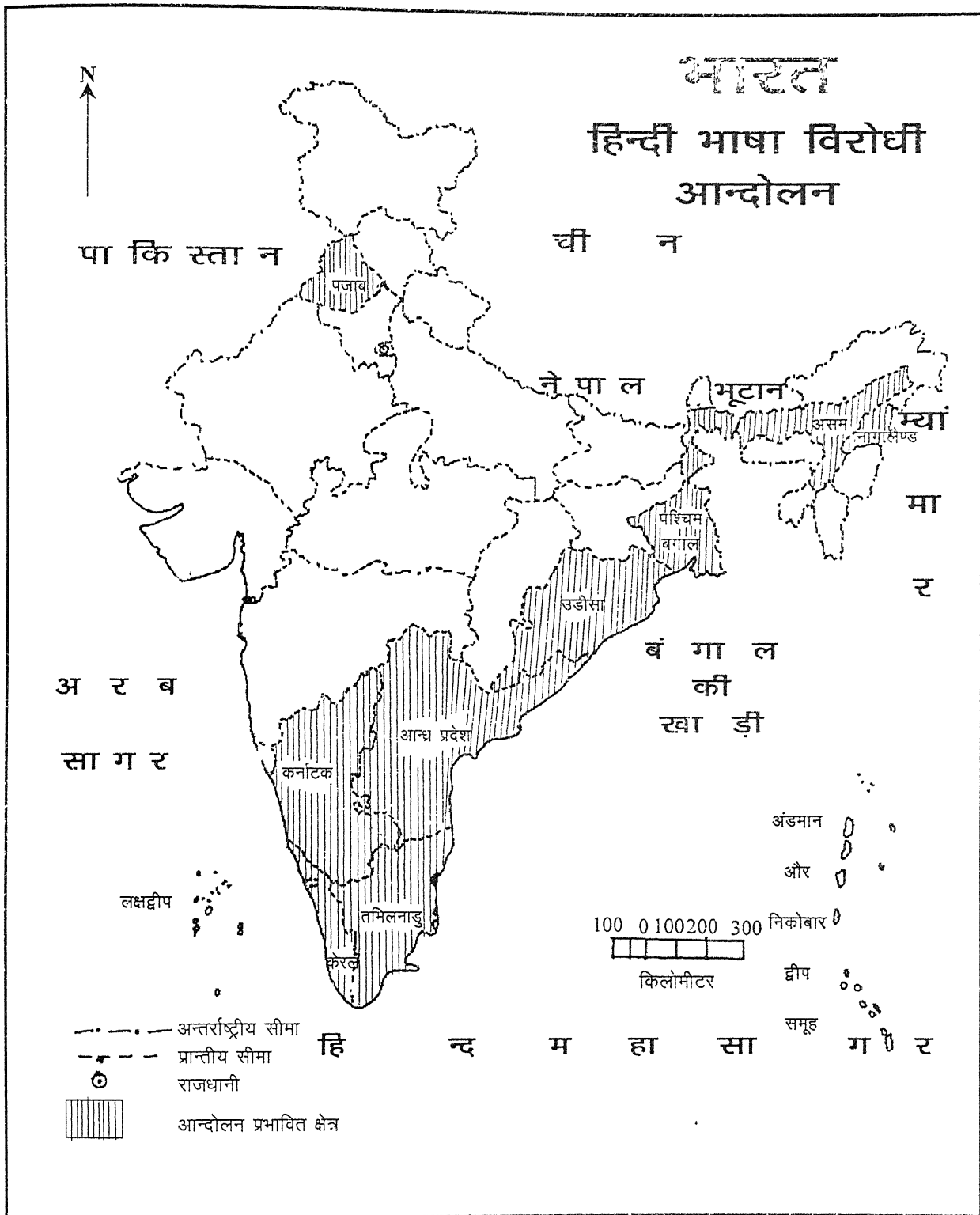
चित्र 4.2

मुख्यालय होने से बिहार वालों के लिए रोजगार का अवसर खत्म हो जाता है। इसी प्रकार हिमाचल प्रदेश में 'पहाड़ी समाज' नामक संगठन विदेशियों के विरुद्ध आन्दोलन कर रहा है। उनका कहना है कि स्थानीय निवासियों को विदेशियों के हाथ कोई सम्पत्ति नहीं बेचना चाहिए (सईद, 1996, पृ० 370)।

सन् 1966 ई० में बाल ठाकरे द्वारा स्थापित शिवसेना द्वारा महाराष्ट्रियों के हितों के संरक्षण का मुद्दा उठाया गया। शिवसेना द्वारा इस सम्बन्ध में तीन सूत्रीय कार्यक्रम रखा गया—

(क) महाराष्ट्रियों को सिर्फ महाराष्ट्रियों द्वारा स्थापित होटलों में ही जाना चाहिए।

(ख) उन्हें मकान की खरीद/बिक्री या किराये पर देना सिर्फ आपस में ही करना चाहिए।

(ग) उन्हे सिर्फ महाराष्ट्रियों को ही अपने प्रतिष्ठान में रोजगार देना चाहिए।

शिवसेना का यह आन्दोलन मुख्य रूप से आर्थिक क्षेत्र में दक्षिण भारतीयों के बढ़ते हुए प्रभुत्व के विरुद्ध उन्मुख था। सन् 1981 ई० में महाराष्ट्र में दक्षिण भारत के रहने वालों के विरुद्ध शिवसेना के नेतृत्व में हिंसात्मक घटनायें हुईं। उसने केरलवासियों, कर्नाटकवासियों तथा तमिल लोगों को महाराष्ट्र से निकालने की माँग की। इसी प्रकार कर्नाटक में यह माँग की जा रही है कि केरलवासी और तमिल लोग कर्नाटक राज्य को छोड़कर चले जायें।

साठ के दशक के अन्तिम वर्षों में आन्ध्र प्रदेश, जिसका निर्माण सन् 1963 ई० में मद्रास राज्य को विभाजित करके किया गया था कि तेलुगु जनमानस द्वारा इस आधार पर आन्दोलन किया गया कि आन्ध्र प्रदेश की अपेक्षाकृत समुन्नत जनसंख्या द्वारा उनका शोषण किया जा रहा है। उल्लेखनीय है कि पूर्वकाल में तेलंगाना क्षेत्र के निंवासियों को सन्तुष्ट करने के लिए मुल्की नियम (Mulki rules) का निर्माण किया गया था। सन् 1968 ई० में उच्चतम न्यायालय ने इन नियमों को विभेदकारी मानते हुए निरस्त कर दिया। इसके विरोध में के० रंगा रेड्डी के नेतृत्व में तेलंगाना क्षेत्र के सभी मन्त्रियों ने त्याग पत्र दे दिये। अन्ततः सन् 1973 ई० में आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने इन नियमों को पुनर्परिभाषित किया। इसके

तहत उसी व्यक्ति को "मुल्की" (स्थानीय निवासी) माना जाता था, जिसका जन्म या तो हैदराबाद राज्य में हुआ हो और यदि वह बाहर से आया हो तो उसे हैदराबाद राज्य में निवास करते हए न्यूनतम 15 वर्ष हो गये हों और वह स्थायी रूप से वहीं बसने का निर्णय ले चुका हो। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत से लोग इन नियमों से मिलने वाले लाभों से वंचित हो गये। अन्ततः तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी के इस आश्वासन पर कि "मुल्की नियमों" को धीरे–धीरे समाप्त किया जायेगा, तेलंगाना आन्दोलन समाप्त हुआ।

बोडो आन्दोलन आर्थिक प्रादेशिकवाद का एक दूसरा उदाहरण है। 2 मार्च, 1987 ई० से औपचारिक रूप से प्रारम्भ बोडो आन्दोलन के मूल में यह एहसास रहा है कि पहाड़ी और मैदानी जनजातियों में संख्यात्मक दृष्टि से सबसे बड़ी होने के बावजूद बोडो जनजाति गरीबी और उपेक्षा की शिकार है। बोडो लोगों का यह विश्वास तब और बढ़ जाता है जब वे यह देखते हैं कि मेघालय, मिजोरम और नागालैण्ड में पर्वतीय जनजातियो ने अत्यधिक उन्नति की है।

आर्थिक दृष्टि से अखिल भारतीय स्तर पर 30 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या गरीबी की रेखा से नीचे जीवन–यापन कर रही हैं, जबकि बोडो समुदाय की 90% से अधिक जनसंख्या गरीबी की रेखा के नीचे जीवन–यापन कर रही है। इस समुदाय का तीन–चौथाई से अधिक भाग ऐसे दूर–दराज के भागों में रहता है, जिनके लिए बिजली, सिंचाई, संचार, रेल आदि कल्पना से अधिक और कुछ नहीं है। स्वतन्त्रता के बाद आदिवासियों के हित संवर्द्धन के जो भी प्रयास किये गये, वे सभी पर्वतीय आदिवासियों के लिये थे, मैदानी आदिवासी उससे प्रायः अहूते रहे। मैदानी जनजातियों के विषय में मात्र यह निर्णय लिया गया कि ब्रह्मपुत्र घाटी में "जनजातीय बेल्ट" की स्थापना की जाये ताकि इन क्षेत्रों में गैर–आदिवासियों के अतिक्रमण को रोका जा सके।

तीव्र आर्थिक विकास के निमित्त चलाया गया एक और उदाहरण गोरखालैण्ड आन्दोलन था। सुभाष घीसिंग के नेतृत्व वाले "गोरखालैण्ड नेशनल लिबरेशन फ्रण्ट" (GNLF) की मुख्य माँग थी : सन् 1950 ई० की भारत–नेपाल सन्धि के अनुच्छेद को निरस्त किया जाये, क्योंकि यह नेपाल मूल के नेपालियों और भारतीय मूल के नेपालियों में कोई

विभेद नहीं करता तथा ऐसी स्थिति में नेपाली मूल के नेपालियों को भी भारत में वही सब सुविधायें प्राप्त हैं जो भारतीय मूल के नेपालियों को है। वार्ता के अनेक दौरों के उपरान्त अन्ततः सन् 1988 ई० में "दार्जिलिंग हिल कांउसिल" की स्थापना का निर्णय लिया गया जिसे स्थानीय सामाजिक और आर्थिक प्रशासन में व्यापक स्वायत्तता प्रदान की गयी इसके 2/3 सदस्य निर्वाचित और 1/3 नामांकित होंगे। झारखण्ड एवं उत्तरांचल में आदिवासी अपने आर्थिक हितों पर गैर–आदिवासियों द्वारा अधिकार किये जाने से चिन्तित हैं।

वस्तुतः इस प्रकार के आन्दोलन मूलतः उन्हीं क्षेत्रों में विकसित हुए हैं जहाँ कोई विशिष्ट समुदाय जनसंख्या की दृष्टि से बहुमत में है परन्तु आर्थिक क्षेत्र में पिछड़ा हुआ है। साठ के दशक में भारत के विभिन्न भागों में 'भूमिपुत्र के सिद्वान्त' के आधार पर तमाम आन्दोलन चलाये गये। इस तरह के आन्दोलनों में सम्बन्धित क्षेत्र के निवासियों को यह अहसास कराया गया कि वे अपेक्षाकृत अलाभकारी आर्थिक स्थिति में हैं एवं गैर स्थानीय लोग उनके संसाधनों का दोहन कर उनका शोषण कर रहे हैं। इन आन्दोलनों द्वारा क्षेत्र के मूल निवासियों के हितों के संरक्षण एवं उनके साथ विशिष्ट व्यवहार की माँग की जाती रही है। दूसरे शब्दों में शिक्षा सरकारी व्यवसाय आदि के क्षेत्रों में स्थानीय एवं मूल निवासियों को प्राथमिकता देने की माँग की गई।

एक मजबूत राष्ट्रीय सरकार ही क्षेत्रीय विषमताओं को दूर करने के लिए आर्थिक एवं अन्य कदम उठा सकती है, खासकर जबकि इनमें केन्द्रीय संसाधनों और निवेशों के आबंटन, उद्योगों के स्थान निर्धारण तथा निजी क्षेत्र द्वारा निवेश के लिए निर्देशों एवं प्रलोभनों का प्रश्न जुड़ा हो। पिछड़े राज्यों में आर्थिक विकास की दर और श्रमिकों की बहुलता तथा गरीब इलाकों से श्रमिकों के अभाव वाले क्षेत्रों की तरफ प्रवाह को प्रोत्साहित करना शक्तिशाली केन्द्रीय हस्तक्षेप के बिना सम्भव नहीं है। जनजातियों को समाप्त होने से बचाने तथा समाज के गैर–जनजातीय तबकों द्वारा उनको शोषण से बचाने तथा जनजातीय लोगों को अपने तरीकों और रफ्तार से विकसित होने देने के लिए मजबूत राष्ट्रीय सरकार एवं स्पष्ट नीति की आवश्यकता है। सिर्फ शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार ही संसाधनो के लिए युद्धतत्पर राज्यों के बीच मध्यस्थता के योग्य हो सकती है (चन्द्र, 2002, पृ० 183)।

4.2.3 सामाजिक प्रादेशिकवाद

सामाजिक प्रादेशिकवाद का उद्‌भव तब होता है जब किसी क्षेत्र अथवा राज्य को यह महसूस होता है कि उसके ऊपर सांस्कृतिक वर्चस्व या भेदभाव आरोपित करने की कोशिश की जा रही है। सेलिग एस० हैरिसन नामक अमरीकी विद्वान एवं पत्रकार ने सन् 1960 ई० में अपनी प्रसिद्ध कृति **'इंडिया– द मोस्ट डेनजरस डिकेड्स'** में भारतीय एकता पर बहुत बड़े खतरे की बात कही है। उनके अनुसार "राष्ट्रीय सरकार और क्षेत्रों के बीच संघर्ष का एक वास्तविक खतरा क्षेत्रों द्वारा अपनी अलग सांस्कृतिक पहचान के लिए दबाव डालने के कारण पैदा हो रहा था।" परन्तु पं० जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में, "दरअसल भारत देश भारतीय सांस्कृतिक विभिन्नता को न केवल अपने अन्दर समाहित करने बल्कि उन्हें गौरव का वस्तु बनाने में काफी सफल रहा है।" भारत के विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों की अपनी पूर्ण सांस्कृतिक स्वायत्तता रही है और अपनी सांस्कृतिक महत्वाकांक्षाओं की सन्तुष्टि पूरी तरह उनके अधिकारों के अन्दर ही है (चन्द्र 2002, पृ० 166–167)।

साम्प्रदायिक प्रादेशिकवाद, प्रादेशिकवाद का वह प्रकार है, जिसमें प्रादेशिकवादी आन्दोलन एक विशेष सम्प्रदाय के लोगों द्वारा चलाया जाता है। इस श्रेणी के प्रादेशिकवाद में भाषा का तत्व भी सहायक हो सकता है, परन्तु इसके बावजूद इस श्रेणी के प्रादेशिकवाद में सम्प्रदाय का तत्व भाषा के तत्व पर हावी रहता है। अकाली दल द्वारा पंजाब में चलाया गया उग्रवादी आन्दोलन इसका एकमात्र उदाहरण है। पंजाब में अकाली दल द्वारा चलाये गये आन्दोलन की गहरी ऐतिहासिक जड़ें हैं, परन्तु तात्कालिक रूप से इसका ऐतिहासिक सन्दर्भ सन् 1972 ई० से लिया जा सकता है जब अक्टूबर, 1972 ई० में अकाली दल की कार्यकारिणी समिति ने सरदार कपूर सिंह के नेतृत्व में अकालियों की मुख्य माँगों के सुसज्जित निर्माण के लिए एक उप–समिति का निर्माण किया। 17 अक्टूबर, 1973 ई० को अकाली दल द्वारा इस समिति की संस्तुतियों को 'आनन्दपुर साहिब' प्रस्ताव के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

केन्द्र सरकार को अकाली दल की धार्मिक माँगों पर कोई विशेष आपत्ति नहीं थी, परन्तु आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव की राजनीतिक माँगों, खासकर खालसा की प्रभुता की

स्थापना एवं स्वायत्तता पर्याप्त विवादास्पद सिद्ध हुईं। जहाँ तक चण्डीगढ़ के हस्तान्तरण का प्रश्न था आकली दल चण्डीगढ़ को तो लेना चाहता था, परन्तु उसके बदले में पंजाब के हिन्दी–भाषी क्षेत्र को हरियाणा को हस्तांतरित नहीं करना चाहता था। इसी प्रकार रावी–व्यास नदी के जल के बँटवारे के प्रश्न पर हरियाणा और राजस्थान ने कठोर दृष्टिकोण अपनाया। इस मामले को सन् 1981 ई० में न्यायाधिकरण द्वारा निर्णय कर दिया गया, जिसे पंजाब ने स्वीकार नहीं किया। 24 जुलाई, 1985 ई० को पंजाब समझौता सम्पन्न हआ, जिसके तहत चण्डीगढ़ पंजाब को मिलना था और इसके बदले में हरियाणा को पंजाब के 70,000 वर्ग किमी. के हिन्दी–भाषी क्षेत्र हस्तांतरित किये जाने थे, परन्तु यह समझौता कभी भी अपनी मूल भावना में आज तक लागू नहीं किया जा सका है।

व्यक्तिगत अस्मिता और पहचान बरकरार रखने के निमित्त चलाया गया आन्दोलन गोरखालैण्ड आन्दोलन था, जिसका संचालन सुभाष घीसिंग के नेतृत्व वाले "गोरखालैण्ड नेशनल लिबरेशन फ्रण्ट" द्वारा किया गया। ऑल बोडो स्टूडेन्ट यूनियन (A B S U) द्वारा बोडोलैण्ड नाम से एक पृथक राज्य की स्थापना को लेकर चलाया गया आन्दोलन सामाजिक प्रादेशिकवाद का एक नमूना है। सामाजिक प्रादेशिकवाद का एक उदाहरण बोडो आन्दोलन है बोडो लोग जब यह देखते हैं कि लुसाई पर्वत श्रेणियों में मिजो, नागा पर्वत श्रेणियो में नागा और मेघालय में खासी, जयन्तिया और गारो आदिवासी जातियाँ अपनी पृथक पहचान स्थापित करने में सफल हुए है तो उन्हें विभेद-पूर्ण व्यवहार के कारण तीव्र असंतोष एवं आक्रोश होता है। असम के ही करबी एलांग और उत्तरी कछार पर्वत श्रेणियों में आदिवासी स्वायत्तशासी जिला परिषदों के कारण कमोवेश रूप से स्वायत्तता प्राप्त कर सके हैं, परन्तु इस प्रक्रिया में बोडो जैसे आदिवासी समूहों को कोई सहभागिता नहीं प्राप्त हो सकी है। इस विभेद-पूर्ण व्यवहार से बोडो जनजाति में सामाजिक प्रादेशकिवाद का जन्म हुआ।

उल्लेखनीय है कि बोडो एक जाति न होकर एक जातीय परिवार है जिसके अन्तर्गत कोच कछारी, मेच, लाल्लुंग, दिमासो, गारो एवं घटिया इत्यादि जनजातियां सम्मिलित हैं। ऑल बोडो स्टूडेन्ट यूनियन के अनुमान के अनुसार (1993) असम में कुल मिलाकर 65 लाख जनजातीय आबादी है, जिसमें से लगभग 40 लाख बोडो हैं। इस प्रकार संख्यात्मक दृष्टि से

तो बोडो असम का सबसे बड़ा आदिवासी समूह है ही, यह मैदानी जनजातियों का भी सबसे बड़ा समूह है। अधिकांशतः इनका निवास स्थल ब्रह्मपुत्र नदी का उत्तरी किनारा है।

यद्यपि आन्दोलन का प्रारम्भ एक पृथक राज्य की माँग के साथ हुआ था, परन्तु आन्दोलन अन्ततः निम्नलिखित तीन माँगो पर संकेन्द्रित हो गया–

(A) ब्रह्मपुत्र के उत्तरी तट पर बोडो समुदाय के लिए एक पृथक होमलैण्ड की स्थापना,

(B) ब्रह्मपुत्र के दक्षिणी तट पर मैदानी जनजातियों के लिए जिला परिषद की स्थापना, तथा

(C) कर्बी–एलांग की बोडो–कछारी जनजाति को संविधान की छठी अनुसूची में सम्मिलित किया जाना।

अन्ततः 20 फरवरी, 1993 ई० को केन्द्र सरकार, असम सरकार और ऑल बोडो स्टूडेन्ट यूनियन के मध्य हुए त्रिपक्षीय समझौते द्वारा यह निर्णय लिया गया कि बोडो बाहुल्य क्षेत्रों के प्रशासन के लिए "बोडो स्वायत्त परिषद्" का गठन किया जायेगा। इसके बावजूद भी बोडो आन्दोलनकारी पुनः आन्दोलन की धमकी दे रहे हैं क्योंकि वे परिषद् के अधिकार क्षेत्र में और अधिक गाँवों को सम्मिलित करने की माँग कर रहे हैं, जिसके लिए राज्य सरकार सहमत नहीं है। झारखण्ड आन्दोलन भी सामाजिक प्रादेशिकवाद का एक विशिष्ट नमूना है, जहाँ आदिवासी अपनी सांस्कृतिक अस्मिता पर गैर–आदिवासियों द्वारा आक्रमण से चिन्तित हैं।

सन् 1979 ई० में प्रारम्भ असम आन्दोलन भी एक सामाजिक आन्दोलन का एक नमूना है। इसके मूल में ऑल असम स्टूडेन्ट यूनियन (A A S U) और ऑल असम गण संग्राम परिषद (A A G S P) की यह माँग थी कि असम से विदेशियों को बाहर निकाला जाये। विदेशी किसे माना जाये? इस बिन्दु पर सरकार और उपर्युक्त दोनों संगठनों में मत–वैभिन्न था। सरकार सन् 1971 ई० को आधार वर्ष (Cut off Year) बनाना चाहती थी, जबकि आन्दोलनकारी सन् 1951 ई० को। बाद में सरकार सन् 1967 ई० को आधार वर्ष

मानने को तैयार हो गई, परन्तु आन्दोलन जारी रहा। हिंसात्मक घटनाओं के मध्य सन् 1983 ई० में असम विधान सभा के चुनाव हुए। अंततः 15 अगस्त, 1985 ई० को केन्द्र सरकार, राज्य सरकार और आन्दोलनकारियों के मध्य त्रि–पक्षीय असम समझौते पर हस्ताक्षर हुए, जिसके तहत 1 जनवरी, 1966 ई० को आधार तिथि मानी गयी। यह भी प्राविधानित किया गया कि 1 जनवरी, 1966 ई० से 24 मार्च, 1971 ई० के मध्य जो विदेशी असम में आये हैं उनके नाम मतदाता सूची में आगामी 10 वर्षों के लिए निकाल दिये जायेंगे। इसके अतिरिक्त जो विदेशी असम में 25 मार्च, 1971 ई० को या इसके बाद आये हैं, उन्हें राज्य से निष्कासित कर दिया जायेगा। पूरे अन्दोलन की पृष्ठभूमि में मुख्य कारण यह था कि आन्दोलनकारियों की दृष्टि में असम में बड़ी संख्या में नेपाली, संथाल, बंगाली, बिहारी, पंजाबी, तथा बांग्लादेशी मुस्लिमों के आ जाने के कारण असम के मूल निवासियों की अस्मिता खतरे में पड़ गयी थी।

4.2.4 राजनीतिक प्रादेशिकवाद

जब राजनीतिक कारणों से क्षेत्र विशेष के लोग राजनीतिक एवं आर्थिक सुविधाओं हेतु अपने क्षेत्र के लिये अधिक माँग करते हैं, तो उसे राजनीतिक प्रादेशिकवाद कहा जा सकता है। भारत में अधिकतर प्रादेशिकवाद राजनीति से जुड़ा हुआ होता है। जिसे राजनीतिक दलों का पोषण प्राप्त होता है। वास्तव में कोई भी प्रादेशिकवाद का आन्दोलन राजनीतिक दलों के समर्थन के बिना चलाया जाना संभव नहीं होता है। यह राजनीतिक दल एवं नेता ही हैं जो ऐसे आन्दोलनों को जन्म देते हैं, उनका पोषण करते हैं एवं उन्हें अपने गंतव्य उद्देश्य तक ले जाने में सहयोग करते हैं। इन आन्दोलनों के पीछे उनके व्यक्तिगत एवं राजनीतिक स्वार्थ होते हैं। इसे कुछ इस प्रकार समझा जा सकता है। सुभाष घीसिंग जिन्हें गोरखालैण्ड आन्दोलन में मुखिया के रूप में काफी प्रसिद्धि मिली, पश्चिम बंगाल की राजनीति में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखते थे। ज्योति वसु आदि मूर्धन्य राजनीतिक नेताओं के सामने उनका कोई महत्व नहीं था। परन्तु गोरखालैण्ड आन्दोलन के दौरान उन्हें जो प्रसिद्धि मिली उसके तहत वे गोरखालैण्ड हिल कौसिंल के चेयरमैन बन गये एवं यदि कहीं अलग राज्य का निर्माण होता तो वे निसन्देह उसके प्रथम मुख्यमंत्री भी बन जाते। इसी तरह बहुत से राजनीतिक दलों के नेता हैं जो अपने राजनीतिक कद को ऊँचा करने के लिए एवं

राजनीतिक स्वार्थों हेतु सदा प्रादेशिकवाद के आन्दोलनों को परोक्ष रूप में एवं कभी–कभी प्रत्यक्ष रूप में समर्थन देते रहे हैं। इस प्रकार राजनीतिक प्रादेशिकवाद वास्तव में प्रादेशिकवाद का सबसे निकृष्टतम एवं भयानक रूप है जिस पर अंकुश लगाना सबसे दुष्कर कार्य है। इस पर नियन्त्रण किये बिना प्रादेशिकवाद को रोके जाने में भी काफी कठिनाई आती रहेगी।

सन्दर्भ ग्रन्थ

चन्द्र, विपिन, 2002: **आजादी के बाद का भारत**, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

जैन, एस० एन०, 1997 : **भारतीय संविधान शासन और राजनीति,** राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

सईद, एस० एम०, 1996 : **भारतीय राजनीतिक व्यवस्था,** सुलभ प्रकाशन, लखनऊ।

अध्याय–5

प्रादेशिकवाद का स्थानिक प्रतिरूप

प्रादेशिकवाद का स्वरूप उदार से उग्र हो सकता है। दूसरे शब्दों में इसका स्वरूप इतना उदार हो सकता है कि वह कई समान राष्ट्रों को अपनी बाहों में समेट ले और सदा राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए क्रियाशील हो। इसके विपरीत इसका स्वरूप इतना उग्र हो सकता है कि वह अपने क्षेत्र को ही सर्वोपरि मानकर अपने हितों के सम्मुख राष्ट्रीय हितों की बलि चढ़ाने में जरा भी संकोच न करे। इन दोनों अतिरेकताओं के बीच प्रादेशिकवाद के अनेक स्वरूप हो सकते हैं। प्रादेशिकवाद की भावना विभिन्न क्षेत्रों के लोगों में अथवा एक ही क्षेत्र के सभी लोगों में समान न होकर अलग–अलग होती है। उदाहरणार्थ, भारत के उत्तरी क्षेत्र के लोग अपनी प्रादेशिक विरासत के सम्बन्ध में जितना अधिक जागरूक हैं, उतनी जागरूकता मध्य भारत के क्षेत्र के लोगों में नहीं देखी जाती है अथवा उनकी वह जागरूकता दक्षिणी क्षेत्र के लोगों की उग्र जागरूकता के सामने फीकी लगती है। उसी प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि दक्षिण क्षेत्र के सभी लोगों में अपनी प्रादेशिक विरासत के प्रति समान सचेतता है। विभिन्न लोगों में यह सचेतता कम या अधिक, उदार या उग्र हो सकती है। (मुकर्जी, 2001, पृ० 425)।

भारतीय राजनीति में प्रादेशिकवाद की प्रवृत्ति के अनेक रूप हैं, जिसमें भारतीय संघ से पृथक् होने की माँग अपने लिए पृथक् राज्य की माँग, क्षेत्रीय भाषाई विवाद, अन्तर्राज्यीय विवाद, क्षेत्रीय आर्थिक टकराव, राजनीतिक नेतृत्व और क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का अस्तित्व प्रमुख हैं, परन्तु इनमें से आज प्रादेशिकवाद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष पृथक् राज्य की माँग है जो भारतीय राजनीति को प्रभावित कर देश की एकता एवं अखण्डता को खतरा उत्पन्न कर रहा है, जिस पर विचार करना अति आवश्यक है।

पिछले कुछ वर्षों से देश में कम से कम दस–बारह नए राज्यों की माँग उठने लगी हैं यह माँग मुख्यतः बड़े राज्यों में उठ रही है। जैसे पश्चिम बंगाल में गोरखालैण्ड की माँग, असम में बोडोलैण्ड, महाराष्ट्र में विदर्भ, आन्ध्र प्रदेश में तेलंगाना, मध्य प्रदेश में बुन्देलखण्ड

तथा उत्तर प्रदेश में हरित प्रदेश की माँग आदि। वर्तमान अध्याय में प्रादेशिकवाद के स्थानिक प्रतिरूप के विश्लेषण का प्रयास किया गया है।

5.1 भारतीय संघ से अलग होने की माँग

भारतीय संघ से अलग किये जाने की माँग, प्रादेशिकवाद की सर्वाधिक गम्भीर अभिव्यक्ति है। वस्तुतः यह देश की एकता और अखण्डता के मूल सिद्धान्तों एवं विचारधारा को ध्वस्त कर देने के समान है। भारतीय संघ से अलग होने की माँग देश के निम्न भागों में देखी जा रही है।

5.1.1 जम्मू–कश्मीर

विभाजन के समय भारत में दो प्रकार की शासन प्रणालियाँ काम कर रहीं थीं : प्रान्तीय व्यवस्था और देशी रियासत। प्रान्त ब्रिटिश भारत के नाम से जाने जाते थे और उनका शासन सीधे ब्रिटिश संसद के हाथों में था। देशी रियासतों की संख्या 562 थी और वे ब्रिटेन के राजवंश द्वारा शासित थे। 15 अगस्त, 1947 ई० को सत्ता का हस्तान्तरण करते समय ब्रिटिश सरकार ने इसके लिए दो प्रकार के तरीके अपनाये। ब्रिटिश भारत का द्विराष्ट्रवाद के सिद्धान्त के आधार पर भारत और पाकिस्तान के रूप में विभाजन कर दिया गया जबकि देशी रियासतों का भाग्य 12 मई, 1946 ई० के कैबिनेट मिशन ज्ञापन की व्यवस्थाओं के अनुरूप तय किया गया। इस ज्ञापन के अनुसार इन सभी देशी रियासतों (जम्मू–कश्मीर, जूनागढ़ तथा हैदराबाद को छोड़कर) ने भारत या पाकिस्तान में विलय को मान लिया। देशी रियासतों पर द्विराष्ट्रवाद का सिद्धान्त लागू नहीं किया गया यानि साम्प्रदायिक आधार पर उनका विभाजन नहीं किया गया। ब्रिटिश संसद द्वारा 3 जून, 1947 ई० को पारित योजना में इसे स्पष्ट कर दिया गया था। कश्मीर के महाराजा ने 15 अगस्त, 1947 ई० तक भारत या पाकिस्तान में से किसी एक में विलय का अनुमोदन नहीं किया। उन्होंने पाकिस्तान के साथ एक समझौता अवश्य किया जिसे यथास्थिति समझौता (स्टैंडस्टिल एग्रीमेंट) कहते हैं। समझौता वार्ता के लिए पर्याप्त समय न होने के कारण भारत के साथ उनका इस तरह का कोई समझौता न हो सका। इधर पाकिस्तान कश्मीर पर कब्जा करने के लिए लालायित हो उठा। उसने एक पक्षीय रूप से इस समझौते को भंग कर दिया और

कश्मीर को आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति रोक दी। कश्मीर पर पाकिस्तान में विलय के लिए अधिक दबाव बढ़ाने के उद्देश्य से 'जिहाद' और 'इस्लाम खतरे में है' के नारों के साथ कश्मीर पर कबाइली हमला किया गया। पाक सेना ने न केवल उनका मार्गदर्शन किया, बल्कि इन हमलावरों को हथियार, गोलाबारूद और परिवहन सुविधायें उपलब्ध करायीं (शर्मा, 1999, पृ० 6)।

जम्मू–कश्मीर राज्य में मुस्लिम धर्म के लोग बहुसंख्यक में हैं। उत्तर भारत के इस राज्य का क्षेत्रफल 86,024 वर्ग मील है और इसको, 'पृथ्वी का स्वर्ग' कहा जाता है। परन्तु दुर्भाग्यवश भारत विभाजन के बाद से कश्मीर, भारत और पाकिस्तान के बीच तनाव और शत्रुतापूर्ण सम्बन्धों का कारण रहा है। कश्मीर पर पाकिस्तान के समर्थन से कबायलियों के आक्रमण से कुछ ही समय पूर्व पाकिस्तान ने महाराजा हरि सिंह से रियासत के, पाकिस्तान में विलय के लिए एक अन्तिम प्रयास किया था। परन्तु महाराजा हरि सिंह ने जल्दबाजी में कोई निर्णय लेने से इनकार कर दिया। इसके तुरन्त बाद 22 अक्टूबर 1947 ई० को कश्मीर पर कई ओर से आक्रमण शुरू किया गया। पाकिस्तान के सीमा प्रान्त के ये कबायली अच्छी तरह प्रशिक्षित थे और पाँच दिनों में आक्रमणकारी श्रीनगर से केवल 25 (40 कि०मी०) मील दूर बारामूला तक पहुँच गये। आक्रमण से घबराए हुए महाराजा हरि सिंह ने भारत में तुरन्त विलय की प्रार्थना की। महाराजा ने केन्द्र को विलय स्वीकार करके तुरन्त सेनायें भेजने के लिए कहा ताकि आक्रमण करने वालों को भगाया जा सके। महाराजा हरि सिंह ने माना कि उनके सामने केवल दो विकल्प थे या तो आक्रमणकारियों को यह छूट दे दी जाये कि वे कश्मीर की जनता की लूट-मार करें या फिर कश्मीर का भारत में विलय किया जाये। महाराजा की प्रार्थना को भारत ने 27 अक्टूबर, 1947 ई० को स्वीकार करके आक्रमण का सामना करने के लिए सेना को हवाई जहाजों के द्वारा कश्मीर भेज दिया। राज्य के विलय की प्रार्थना स्वीकार करते हुए भारत ने यह कहा कि आक्रमणकारियों को खदेड़ देने के बाद विलय के प्रश्न पर राज्य की जनता की इच्छा पूछी जायेगी। पाकिस्तान ने कश्मीर के विलय को स्वीकार नहीं किया। पाकिस्तान के तत्कालीन प्रधानमन्त्री लियाकत अली खान ने तो कहा कि कश्मीर का भारत में विलय राज्य की जनता पर एक धोखा था जो कि एक बुजदिल महाराजा ने भारत सरकार की आक्रामक सहायता से किया था। उल्लेखनीय है कि

पाकिस्तान ने आक्रमण किया और उसने भारत को आक्रामक कहना शुरू कर दिया (खन्ना एवं अरोड़ा, 1997, पृ० 89–90)।

भारत पाकिस्तान के साथ सीधा युद्ध नहीं चाहता था। 1 जनवरी, 1948 ई० को भारत ने यह मामला संयुक्त राष्ट्र संघ में उठाया। जनवरी, 1949 ई० में संयुक्त राष्ट्र संघ ने 'युद्ध विराम रेखा' के माध्यम से युद्ध बन्द करवाया। युद्ध विराम रेखा के फलस्वरूप कश्मीर राज्य का दो-तिहाई क्षेत्र जहाँ 4/5 जनसंख्या निवास करती थी, भारत के नियन्त्रण में आया तथा युद्ध विराम रेखा पर संयुक्त राष्ट्र पर्यवेक्षकों की नियुक्ति की गयी। इसके पश्चात् पाकिस्तान जातीय, राजनीतिक आर्थिक आदि तथ्यों के आधार पर अपना अधिकार प्रस्तुत करने लगा। संयुक्त राष्ट्र संघ ने इसके सम्बन्ध में अनेक प्रयत्न किये, किन्तु अन्त में निराशा ही हाथ लगी। जनमत संग्रह का भी प्रश्न आया किन्तु कार्यान्वित नहीं हुआ। भारत में कश्मीर का कानूनी विलय होने के कारण किसी प्रकार का जनमत संग्रह युक्तिसंगत नहीं लगता (सक्सेना, 1997, पृ० 316)।

कश्मीर के पाकिस्तान में विलय की माँग के समर्थन में, पाकिस्तान सरकार ने समय–समय पर कई तर्क दिये हैं। पहला, दो राष्ट्रों के सिद्धान्त के आधार पर पाकिस्तान का तर्क है कि कश्मीर में मुसलमानों की काफी अधिक जनसंख्या होने के कारण उसका स्वाभाविक स्थान पाकिस्तान में है। ब्रिटिश भारत के विभाजन का आधार यही था कि मुस्लिम बहुसंख्या वाले प्रान्तों को मिलाकर, पाकिस्तान का निर्माण हुआ, इसलिए कश्मीर को पाकिस्तान का ही अंग होना चाहिए। दूसरा, यह तर्क दिया गया कि पाकिस्तान में बहने वाली तीन नदियों सिन्धु, झेलम और चिनाव का उद्‌गम कश्मीर में है। पाकिस्तान की कृषि सिंचाई पर निर्भर करती है इसलिए भी कश्मीर को पाकिस्तान का अंग होना चाहिए। यदि कश्मीर में कोई अमैत्रीपूर्ण सरकार बनती है, जो पाकिस्तान में पानी नहीं आने देगी, तो उसकी अर्थव्यवस्था बर्बाद हो जायेगी। इसलिए इनके उद्‌गम को भारत में नहीं रहने दिया जा सकता। तीसरे, चूँकि पाकिस्तान और जम्मू–कश्मीर की आर्थिक निर्भरता एक दूसरे पर थी इसलिए कश्मीर को पाकिस्तान से अलग रखने पर, दोनों की अर्थव्यवस्था संकट में पड़ जायेगी। चौथे, भौगोलिक तौर पर कश्मीर पाकिस्तान के अधिक निकट एवं अभिगम्य है। पाकिस्तान का तर्क है कि कश्मीर की काफी लम्बी सीमा पाकिस्तान के साथ मिलती है।

जबकि केवल तीस मील (50 कि० मी०) का एक टुकड़ा कश्मीर को भारत के साथ जोड़ता है, इसलिए भी कश्मीर को पाकिस्तान में होना चाहिए। अन्तिम, पाकिस्तान की सैनिक शक्ति के लिए कश्मीर बहुत उपयोगी है। न केवल पाकिस्तान सेना में बड़ी संख्या में कश्मीरी जवान थे बल्कि पाकिस्तान की सुरक्षा की रणनीति भी कश्मीर को पाकिस्तान के अंग के रूप में रखने की है। कश्मीर को भारत में छोड़ना पाकिस्तान के लिए खतरनाक है (खन्ना एवं अरोड़ा, 1997, पृ० 96–97)।

भारत ने दो राष्ट्रों के सिद्धान्त को कभी नहीं माना। भारतीय नेताओं ने यह कभी भी स्वीकार नहीं किया कि हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए अवश्य ही दो राज्य होने चाहिए। भारत की प्रतिबद्धता धर्म–निरपेक्ष नीति के प्रति है। विभाजन के समय धर्म के आधार पर जनसंख्या की अदला–बदली का कोई विचार नहीं था। परन्तु पाकिस्तान में अधिकतर अल्पसंख्यकों को अपने घर और सम्पत्ति छोड़कर भारत आना पड़ा था। भारत धर्म को राज्य का आधार नहीं मानता है। भारतीय नेताओं ने देश का विभाजन हिंसा को रोकने के लिए स्वीकार किया था, धर्म के आधार पर नहीं। इसलिए कश्मीर को बहुसंख्यक लोगों के धर्म के आधार पर पाकिस्तान का भाग नहीं बनाया जा सकता। पाकिस्तान का यह तर्क कि उसकी तीन मुख्य नदियों का उद्‌गम कश्मीर में है, स्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तव में केवल झेलम कश्मीर से निकलती है। सिन्धु और सतलज का उद्‌गम तिब्बत में होता है। इसके अतिरिक्त यह घ्यान देने योग्य है कि देशों की सीमायें कभी भी नदियों के स्रोत के आधार पर तय नहीं की जातीं। यूरोप में अनेक ऐसी नदियाँ हैं जो कि विभिन्न देशों में होकर बहती हैं। इसलिए पाकिस्तान के दावे का कोई महत्व नहीं है। पारस्परिक आर्थिक निर्भरता, कश्मीर और पाकिस्तान के दावे को उचित नहीं ठहरा सकती। पाकिस्तान और भारत की एक दूसरे पर आर्थिक निर्भरता, कश्मीर और पाकिस्तान की पारस्परिक निर्भरता से, कहीं अधिक है। वास्तव में यह तर्क भी निराधार है क्योंकि संसार के सभी देशों की एक दूसरे पर निर्भरता बढ़ रही है। इसी प्रकार पाकिस्तान का यह तर्क कि कश्मीर की अधिकतर सीमा पाकिस्तान के साथ लगती है इसलिए उसे पाकिस्तान का भाग होना चाहिए, यह भी तर्क संगत नहीं है। अगर पाकिस्तान की यह बात मान भी ली जाये तो बहुत सारे देश अपनी स्वतन्त्रता खो बैठेंगे। पाकिस्तान का यह कहना कि उसकी रक्षा के लिए बहुत से सैनिक कश्मीर से लिये

जाते हैं, भी अर्थहीन है क्योंकि पाकिस्तान की एक मजबूत सेना है जिसका कोई भी सम्बन्ध कश्मीर की सीमित आबादी से नहीं हो सकता (खन्ना एवं आरोड़ा, 1997, पृ० 96–97)।

6 फरवरी, 1954 ई० को कश्मीर की संविधान सभा ने भारत में इस राज्य के विलय का अनुमोदन कर दिया। 14 मई, 1954 ई० को भारत के राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 370 की कानूनी व्यवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए एक राजाज्ञा प्रसारित करके कश्मीर को भारतीय संघ का एक अभिन्न अंग बना दिया। 19 नवम्बर, 1954 ई० को राज्य के संविधान का प्रारूप तैयार किया गया तथा इसे स्वीकार भी कर लिया गया। इस प्रकार कश्मीर को भारत का अविच्छिन्न भाग बना दिया गया। 26 जनवरी, 1957 ई० को भारत ने इस राज्य के विलय को कानूनी रूप दे दिया और इस अधिनियम को अटल बना दिया गया। 20 जनवरी, 1960 ई० को यह राज्य भारत के सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र में आ गया। अतः सुरक्षा की दृष्टि से कश्मीर का क्षेत्र अब दोनों विरोधी देशों के लिए अति महत्व का क्षेत्र बन गया है। यदि सैनिक दृष्टि से देखा जाये तो जम्मू–कश्मीर को तनाव के स्थल के रूप में ही परिवर्तित कर दिया गया है, क्योंकि यहाँ दोनों विरोधी सेनायें एक दूसरे के सामने हैं। मई, 1999 ई० में कारगिल सेक्टर में पाकिस्तान के आक्रामक रुख से भी हमें पाकिस्तान के इरादे की झलक मिल जाती है। सन् 1954 ई० तक दोनों देशों के लिए कश्मीर राष्ट्रीय एकता का प्रतीक बन गया और यदि अब किसी ने भी खाली करने की बात को स्वीकार कर लिया तो यह उस देश के विघटन का कारण बन सकता है (श्रीवास्तव, 2000, पृ० 56–57)।

यदि इस समस्या पर गम्भीरता से विचार किया जाये तो यह कहा जा सकता है कि जो मूल तत्व है वह दोनों राष्ट्रों के मध्य अविश्वास का है। यदि इसको समूल रूप से नष्ट कर दिया जाये तो कश्मीर समस्या एक गौण स्थान प्राप्त कर लेगी और यदि ऐसा नहीं किया जा सका तो समस्या ज्यों की त्यों बनी रहेगी। भारत हमेशा इस बात पर बल देता रहा है कि दोनों देशों से सम्बन्धित सभी समस्याओं को एक साथ सुलझाने का प्रयास किया जाये। दूसरी ओर पाकिस्तान हमेशा यह कहता रहता है कि वह कश्मीर की समस्या को एक अलग प्रश्न के रूप में ही लेता है। दोनों देशों को यह समझ लेना चाहिए कि विदेशी हस्तक्षेप से केवल युद्ध की सम्भावनायें ही बढ़ेंगी। इससे चिरस्थायी शान्ति की स्थापना कदापि नहीं की जा सकती। यह अधिक अच्छा होता यदि दोनों देशों को अपने अपने विकास

के लिए एवं आर्थिक क्षेत्र में क्रान्ति के लिए पर्याप्त समय व अवसर प्रदान कर दिया जाता ताकि आन्तरिक सुरक्षा, राष्ट्रीय परिपक्वता तथा आर्थिक विकास द्वारा उनकी आशंकाओं एवं भय को समाप्त किया जा सके (Rao, 2000, p. 28)।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 370 के तहत कश्मीर को विशेष राज्य का दर्जा दिया गया है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 3 के अनुसार संसद राज्यों के नाम, क्षेत्रफल, सीमाओं में परिवर्तन कर सकती है किन्तु कश्मीर के मामले में भारतीय संसद असहाय सी है। अनुच्छेद 370 की उपस्थिति देश की एकता में बाधक तो है ही वरन् अप्रत्यक्ष रूप से अन्य राज्यों को भी पृथक् अस्तित्व प्राप्त करने के लिये प्रेरित करता है। आम धारणा है कि यदि संविधान निर्माताओं ने धारा 370 का निर्माण करके जम्मू–कश्मीर को भारतीय संघ में विशेष स्थिति न प्रदान की होती तो आज वहाँ पाकिस्तान समर्थक तत्वों को खुलकर खेलने का मौका न मिलता और विद्रोह जैसी स्थिति न होती। स्थिति की गम्भीरता को तत्कालीन जनसंघ एवं जम्मू प्रजा परिषद ने समझा और धारा 370 को तत्काल रद्द करने के लिये सन् 1953 ई० में जबरदस्त आन्दोलन छेड़ा। फलतः पं० जवाहर लाल नेहरू के रुख और धारा 370 को खत्म करने की माँग से शेख अब्दुल्ला उग्र हो गये और उन्होंने भारतीय संघ से कश्मीर को अलग करने की धमकी दे डाली। परिणामस्वरूप तत्कालीन केन्द्र सरकार ने शेख अब्दुल्ला को गिरफ्तार करके कश्मीर की सत्ता बख्शी गुलाम मुहम्मद को सौंप दी। तत्पश्चात् नेतृत्व बदलता रहा परन्तु अनुच्छेद 370 ज्यों का त्यों बना रहा। इस अनुच्छेद के कारण कश्मीर और शेष भारतीय प्रदेशों के बीच एक ऐसी अपारदर्शी अभेद्य दीवार खड़ी हो गयी जिसके कारण वहाँ के लोगों के बीच सामान्य आवाजाही और आदान–प्रदान कभी नहीं हो सकता। कश्मीरियों के लिये शेष भारतीय प्रदेशों के लोग 'हिन्दुस्तान' से आने वाले पर्यटक मात्र बन कर रह गये और यहाँ निवास, सम्पत्ति बनाने के कानून से वंचित कर दिये गये। शेष भारत के लोगों के लिये कश्मीर का महत्व सैरगाह से ज्यादा कभी नहीं बन सका। इस धारा के तहत कश्मीर राज्य का पृथक् ध्वज तथा अपना पृथक् संविधान भी है। कुछ वर्ष पहले तक तो कश्मीर में राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री भी हुआ करते थे, किन्तु धीरे–धीरे इन पदों को समाप्त कर दिया गया। धारा 370 के अन्तिम भाग में यह उल्लेख है कि जब भी कश्मीर की विधान सभा चाहे, तो भारत के राष्ट्रपति इस व्यवस्था को अपने अनुदेश से तुरन्त

समाप्त कर सकते हैं। वास्तव में अनुच्छेद 370 के कारण कश्मीर को स्वायत्तशासी कहा जा सकता है (सिंह, 1999, पृ० 387–388)।

स्वायत्तता का मुद्दा जम्मू–कश्मीर के क्षेत्रीय राजनीतिक दल नेशनल कान्फ्रेंस और केन्द्र सरकार के बीच हमेशा विवाद का विषय रहा है। कश्मीर की स्वायत्तता का अर्थ है, उसे भारतीय संघ के नियमों और निर्देशों से मुक्त करके स्वयं के कानून बनाने की अनुमति देना। दूसरे शब्दों में कश्मीर को एक स्वतन्त्र राज्य घोषित कर दिया जाये। दूसरी ओर, भारतीय संविधान की प्रस्तावना में स्पष्ट रूप से घोषित किया गया है सभी भारतीय नागरिक, भारतीय संघ की एकता, अखण्डता और सम्प्रभुता की रक्षा के लिए वचनबद्ध हैं। अतः कश्मीर की स्वायत्तता का प्रश्न भारतीय संविधान की मूल भावनाओं के विरूद्ध है और देश की सम्प्रभुता के साथ छल है। नवम्बर, 1996 ई० में कश्मीर के तत्कालीन मुख्यमंत्री फारूक अब्दुल्ला ने स्वायत्तता के विषय पर दो पृथक् समितियों के गठन की घोषणा की। एक समिति राज्य के अन्दर क्षेत्रीय स्वायत्तता पर विचार करने के लिए बनाई गई एवं दूसरी समिति भारत के संविधान के अन्तर्गत जम्मू–कश्मीर को अधिकतम स्वायत्तता देने के लिए गठित की गई। इन दोनों समितियों का गठन करते समय मुख्यमन्त्री ने कहा था कि इनकी रिपोर्टों पर व्यापक बहस करायी जायेगी। जनता के बीच, बुद्धिजीवियों के समक्ष और विधानमण्डल के दोनों सदनों –विधान-सभा एवं विधान-परिषद में व्यापक विचार–विमर्श के बाद एक सर्वसमर्थन बनाकर इन रिपोर्टों को केन्द्र सरकार के पास भेजा जायेगा। लेकिन राज्य ने इस प्रक्रिया से गुजरे बिना केन्द्र एवं राज्य सरकार के सम्बन्धों पर पुनर्विचार के लिए बनी राज्य स्वायत्तता समिति की रिपोर्ट न केवल केन्द्र सरकार सन् 2000 ई० में भेज दी, बल्कि इसकी सिफारिशों को लागू करने की माँग को लेकर विद्रोही तेवर भी दिखाना शुरू कर दिया।

शुरूआत मुख्यमन्त्री के अत्यन्त निकट समझे जाने वाले तत्कालीन लोक निर्माण मन्त्री अली मोहम्मद सागर ने की। उन्होंने कहा कि फैसला केन्द्र सरकार को करना है कि वह आतंकवादियों की माँग आजादी को मानती है या नेशनल कांफ्रेंस की माँग अधिकतम स्वायत्तता को। खुद मुख्यमन्त्री डॉ० फारूक अब्दुल्ला ने कहा, "सन् 1953 ई० में अधिकतम स्वायत्तता माँगने के कारण ही केन्द्र सरकार ने उनके वालिद शेख मुहम्मद अब्दुल्ला को गिरफ्तार कर लिया था और अब वे भी इसी माँग को लेकर गिरफ्तार होने को तैयार हैं।"

साथ ही मुख्यमन्त्री के मुद्दे पर केन्द्र सरकार तथा नेशलन कांफ्रेंस हमेशा से ही अपने–अपने तरीकों से लाभान्वित होने का प्रयास करते रहे हैं। स्वायत्तता एक ऐसा भावनात्मक मुद्दा है, जिससे मतदाताओं का ध्रुवीकरण होता है। संघ परिवार अपनी शैली के अनुरूप डॉ० फारूक अब्दुल्ला को देशद्रोही कहने लगा है और उनकी स्वायत्तता की मॉग को आजादी से भी ज्यादा खतरनाक बताकर उनकी सरकार को बर्खास्त कर जेल भेजने की मॉग करने लगा है। कांग्रेस का कहना है कि दोनों 'नूरा कुश्ती' लड़कर जनता को बेवकूफ बनाने की कोशिश कर रहे हैं। इस मुद्दे के नाम पर इन्हें अपनी–अपनी राजनीति चमकाने का मौका मिल गया है (अख्तर, 2000, पृ० 6)।

राज्य में आतंकवादी गतिविधयाँ बढ़ रहीं हैं, विदेशी आतंकवादियों ने बड़ी संख्या में घुसपैठ करके स्थानीय आतंकवादियों का नेतृत्व संभाल लिया है, राज्य आर्थिक रूप से दीवालिया हो गया है, विकास कार्य ठप्प पड़े हैं, भ्रष्टाचार सारी हदें पार कर गया है और आम आदमी को फिलहाल स्थिति सुधरने की कोई उम्मीद नजर नहीं आ रही है। इस संकटकाल में यदि राजनीतिक दल 'स्वायत्तता लूँगा' और 'नहीं दूँगा' जैसे युद्धघोषों में लगे रहते हैं, जो जनता के लिए जले पर नमक छिड़कने से कम नहीं है।

राज्य स्वायत्तता समिति की रिपोर्ट में माँग की गई है कि सन् 1953 ई० से पूर्व की उस स्थिति को बहाल किया जाये, जब केन्द्र के पास केवल तीन विषय रक्षा, विदेश मामले और दूरसंचार ही थे। मुख्यमंत्री का पदनाम वापस प्रधानमन्त्री किया जाये और राज्यपाल को सदर–ए–रियासत कहकर सम्बोधित किया जाये। उच्चतम् न्यायालय, निर्वाचन आयोग और नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के अधिकार क्षेत्र से जम्मू–कश्मीर को बाहर रखा जाये। सन् 1953 ई० के बाद जो लगभग 300 कानून राज्य में लागू हुए हैं, उन्हें वापस लिया जाये। जम्मू–कश्मीर का राज्यपाल विधानसभा चुनाव के लिए अधिसूचना तो जारी करता है, लेकिन मतदान नहीं कर सकता क्योंकि वह यहाँ का स्थायी नागरिक नहीं है (खाती, 2000, पृ० 6)।

स्वायत्तता का मुद्दा चुनावी राजनीति में अवश्य भारी उलटफेर करने की क्षमता रखता है, लेकिन इसे पूरी तरह राजनीतिक दलों पर छोड़ना कश्मीर और राष्ट्र के हित में नहीं है, क्योंकि यह मुद्दा सिर्फ इसी राज्य तक सीमित रहने वाला नहीं है। इसका असर देशव्यापी है।

सन् 1967 ई० में जब देश के कई राज्यों में संयुक्त विधायक दल की मिली जुली सरकारे बनीं तो पहली बार मुख्यरूप से स्वायत्तता की माँग उठाई गई थी। पूर्व प्रधानमन्त्री पी० वी० नरसिंह राव ने कहा था कि कश्मीर को आजादी से कम कुछ भी दिया जा सकता है। लेकिन यदि कश्मीर को स्वायत्तता मिल जाती है और शेष राज्यों की स्थिति पूर्ववत् ही रहती है तो क्या यह राज्यों तथा केन्द्र के बीच विवाद का एक स्थाई मुद्दा नहीं बन जायेगा ? शेष राज्य इस स्थिति को किस तरह स्वीकार करेंगे। स्वायत्तता राजनीति का नहीं, राष्ट्रनीति का सवाल है (अख्तर, 2000, पृ० 6)।

सामाजिक–सांस्कृतिक रूप में कश्मीर के तीन पृथक् भाग किये जाते हैं– प्रथम लद्दाख क्षेत्र –बौद्ध बाहुल्य, द्वितीय कश्मीर घाटी मुस्लिम बाहुल्य तथा तृतीय जम्मू क्षेत्र – हिन्दू बाहुल्य (चित्र 5.1)। इनमें से तीनों इकाइयाँ भौगोलिक क्षेत्र के रूप में हैं (चौहान, 1995, पृ० 281)। अभी भी जम्मू में दो लाख मतदाता ऐसे हैं, जो लोक सभा में तो वोट देते हैं, लेकिन उन्हें विधानसभा में वोट देने का अधिकार नहीं है। यानि वे भारत के नागरिक तो हैं लेकिन जम्मू–कश्मीर के नागरिक नहीं हैं। ये वे लोग हैं, जो विभाजन के कुछ समय बाद पाकिस्तान से भारत आये थे। केन्द्र तथा प्रत्येक राज्य में 5 वर्ष बाद चुनाव होता है, लेकिन जम्मू–कश्मीर में 6 वर्ष बाद चुनाव होता है। जम्मू–कश्मीर राज्य को 3 भागों में बांटने की बात की जा रही है। जम्मू (क्षेत्रफल 26,293 वर्ग किमी०), कश्मीर (15,853 वर्ग किमी०) तथा लद्दाख (59,241 वर्ग किमी०)। लद्दाख को केन्द्रशासित प्रदेश बनाने की माँग की जा रही है (वैद्य, 2002, पृ० 8)।

1950 के दशक के आरम्भ से लेकर आज तक कश्मीर कई प्रमुख समस्याओं से ग्रस्त रहा है जिसके परिणामस्वरूप जम्मू और कश्मीर के लोगों का न केवल राज्य के शासकों बल्कि समूचे भारत से ही विलगाव बढ़ता जा रहा है। वहाँ अच्छे और मजबूत प्रशासन का अभाव रहा है। सरकार और उसके विभिन्न विभाग भ्रष्टाचार और भाई भतीजावाद में डूबे रहे हैं। सन् 1951 ई० में हुए पहले चुनाव से लेकर आज तक हुए ज्यादातर चुनावों में तिकडम और चुनावी धांधलियाँ बड़े पैमाने पर होती रही हैं जिनके परिणामस्वरूप जनता के बीच चुनावी प्रक्रिया और सम्पूर्ण राजनीतिक प्रणाली के प्रति अनास्था पनपी। इसलिए उन्हें संविधानेतर रास्तों को अपनाने में कोई हिचकिचाहट नहीं हुई।

जम्मू और कश्मीर
प्रशासकीय इकाइयाँ
N
चीन
गिलगित
जनजाति राज्य क्षेत्र
चिलास
गिलगित वजारत
पाकिस्तान
लद्दाख
कुपवाड़ा
बारामूला
कारगिल
मुजफ्फराबाद
श्रीनगर
लेह
बड़गाम
पुलवामा
पुंछ
अनन्तनाग
चीन
राजौरी
उधमपुर
मीरपुर
जम्मू
कठुआ
हिमाचल प्रदेश
50 0 50 100
किलोमीटर
अन्तर्राष्ट्रीय सीमा
प्रान्तीय सीमा
जनपद सीमा
जनपद मुख्यालय
प्रान्तीय मुख्यालय
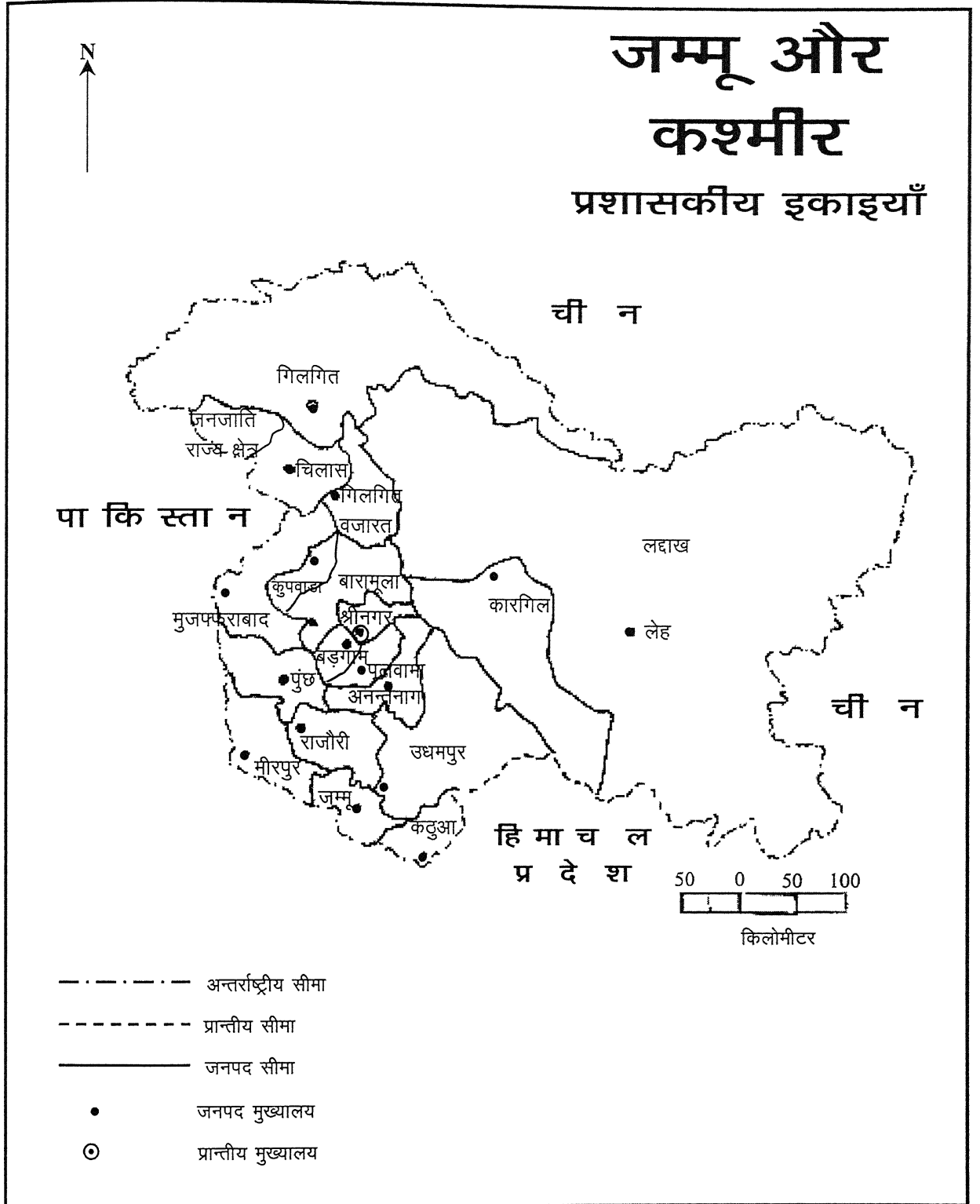
चित्र 5.1

वैसे भी यहाँ शुरू से ही लोकतन्त्र बहुत ही अपरिपक्व तरीके से सक्रिय रहा है तथा राज्य में राजनीति और प्रशासन ने निरंकुश स्वरूप ग्रहण कर लिया था। समय बीतने के साथ–साथ जैसे–जैसे पाकिस्तान समर्थित विद्रोह बढ़ता रहा है वैसे–वैसे कश्मीर में मानवाधिकारों का हनन भी बढ़ता गया है। पाकिस्तान द्वारा सैनिक खतरे और तोड़–फोड़ के मद्देनजर कश्मीर में भारतीय सैनिकों की व्यापक भूमिका एक आवश्यकता रही है, परन्तु इसका अर्थ नागरिक अधिकारों पर आधारित राजनीति की सक्रियता समाप्त होने के रूप में कीमत की अदायगी भी रही है।

कश्मीर करीब–करीब हमेशा ही राजनीतिक अस्थिरता से ग्रस्त रहा है जिसका कारण और परिणाम दोनों ही बार–बार केन्द्रीय हस्तक्षेप और राजनीतिक तिकड़मबाजी, अकुशल और भ्रष्ट नेताओं के एक गुट की जगह दूसरे गुट की स्थापना, सरकारों की बर्खास्तगी और राष्ट्रपति शासन लागू करने के रूप में सामने आया है। इसका परिणाम यह हुआ कि राज्य की जनता केन्द्र समर्थित सभी शासकों को कठपुतली और राज्यपाल को केन्द्र सरकार का एजेंट मानती है।

जम्मू और कश्मीर का भारत में विलय अपरिवर्तनीय है, हालांकि पाक अधिकृत कश्मीर पर भारत का अधिकार पुनः सम्भव नहीं दिखता। जहाँ आतंकवाद और विद्रोह के खिलाफ कठोर कदम उठाना आवश्यक है वहीं आम जनता के नागरिक अधिकारों और मानवाधिकारों पर भी आँच नहीं आनी चाहिए। तनावपूर्ण भारत–पाक सम्बन्ध जम्मू और कश्मीर के ऊपर अपना गहरा और काला साया बनाये रखेगा। परन्तु इसी कारण से यह ज्यादा जरूरी हो जाता है कि कश्मीर में एक साफ, मजबूत और जनवादी सरकार प्रदान की जाये जो पुलिस, सेना और अर्द्धसैनिक बलों की ज्यादतियों से मुक्त हो। हाल के चुनाव से पी०डी०पी० एवं कांग्रेस के सहयोग से मुफ्ती मुहम्मद सईद के नेतृत्व में एक नई सरकार का गठन हुआ है। जिससे राज्य की जनता में कुछ नई उम्मीदें जगी हैं। देखना है कि यह सरकार कश्मीर समस्या के समाधान हेतु कैसा कारगर कदम उठा पाती है। स्थानीय स्वायत्तता की सीमा एक विवादास्पद मुद्दा है जिसका समाधान राज्य के लोगों की भावनाओं और भारत के संघीय संवैधानिक ढांचे को ध्यान रखते हुए करना होगा। इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह है कि राज्य में जनवादी प्रक्रिया किस प्रकार आम जनता की सम्पूर्ण

भागीदारी से विकसित होती है। कश्मीर समस्या का समाधान करना मुश्किल नहीं होगा यदि दो महत्वपूर्ण मानदण्डों को ध्यान में रखा जाये। कोई भी लोकतन्त्र अपने किसी अंग को खुद से अलग होने की इजाजत आसानी से नहीं देगा और कोई भी लोकतन्त्र अपने किसी भी हिस्से की जनता की इच्छाओं को लम्बे समय तक नजरअंदाज करने में समर्थ भी नहीं हो सकता है (चन्द्रा, 2000, पृ० 427–428)।

5.1.2 खालिस्तान

भारतीय संघ से अलग किये जाने की माँग सर्वप्रथम सिख बहुसंख्यक भूतपूर्व राज्य पेप्सू द्वारा प्रस्तुत की गयी थी। सन् 1956 ई० में राज्यों के पुनर्गठन के उपरान्त द्विभाषी पंजाब राज्य का गठन किया गया था। इसके गठन से असन्तुष्ट होकर अकाली नेता मास्टर तारा सिंह ने पंजाबी भाषी पृथक् राज्य के गठन की माँग की। उल्लेखनीय है कि यद्यपि इस माँग द्वारा भाषायी आधार पर पृथक् राज्य के गठन की माँग की गयी थी, तथापि इस माँग का मुख्य उद्देश्य सिखों के लिए ही पृथक् राज्य का गठन करना था। इस माँग के प्रतिरोध में आर्य समाज के नेताओं ने बृहत् पंजाब के गठन की माँग प्रस्तुत की। इस माँग में बृहत् पंजाब में पंजाब, हिमाचल प्रदेश तथा पेप्सू के क्षेत्रों को सम्मिलित माना गया था। 20 वीं शताब्दी के पांचवें तथा छठवें दशक में इन दोनों समुदायों ने अपनी–अपनी माँगों के समर्थन में आन्दोलनात्मक रुख अपनाये रखा। अनेक हिंसक घटनाओं के विपरीत भी जब इस आन्दोलन में किसी भी पक्ष को सफलता नहीं मिली तो अकाली नेता सन्त फतेह सिंह ने पृथक् पंजाबी राज्य के गठन के लिये 25 सितम्बर, 1966 ई० को आत्मदाह करने की घोषणा की। तत्कालीन पंजाब राज्य का विभाजन किया गया। लगभग 41 प्रतिशत क्षेत्र, जिसमें एक करोड़ पन्द्रह लाख की आबादी थी, नवगठित पंजाब राज्य में सम्मिलित किया गया। 35.8 प्रतिशत क्षेत्र, जिसमें 75 लाख की आबादी थी और जो प्रमुख रूप में हिन्दी भाषी थी में हरियाणा राज्य का गठन किया गया। शेष बचे हुए क्षेत्र, जिसकी जनसंख्या 71 लाख थी, हिमाचल प्रदेश में सम्मिलित कर दिया गया। चण्डीगढ़ किसी भी राज्य को नहीं दिया गया और उसे केन्द्र शासित इकाई के रूप में संघीय क्षेत्र में अन्तर्गत रखा गया। इसी समय चण्डीगढ़ के विषय में यह भी निश्चय किया गया कि जब पंजाब फाजिल्का एवं अबोहार के भूभाग हरियाणा को देगा तो चण्डीगढ़ पंजाब को दे दिया जायेगा।

पंजाब का गठन तो हो गया, परन्तु जैसा कि प्रायः होता है, सभी सिख नेता सन्तुष्ट नहीं थे। इनमें उग्रवादी तत्व अब यह कहने लगे कि उन्हें पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त सिख राज्य स्थापित करके सन्तोष मिलेगा। यह मॉग निश्चय ही अतिवादी थी और भारत के संविधान की व्यवस्थाओं में इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता था। सन्त फतेह सिंह अकाली दल में उग्रवादी तत्वों का नेतृत्व कर रहे थे। अपनी नई मॉग के समर्थन में विदेशी समर्थन की प्राप्ति के लिए वे अकाली दल के तत्कालीन महासचिव डॉ० जगजीत सिंह के साथ कई देशो का भ्रमण किये। उनके इस कृत्य को सम्पूर्ण अकाली दल का समर्थन प्राप्त नही था। कुछ समयोपरान्त दल विरोधी नीति को अपनाने के आरोप में सन्त फतेह सिंह को अकाली दल से बहिष्कृत कर दिया गया।

यद्यपि सिखों के एक वर्ग ने सम्पूर्ण स्वायत्तता युक्त पृथक सिख राज्य की मॉग की थी, तथापि वे इस बात को भली–भाँति जानते थे कि इस माँग को पूरा करना सम्भव नहीं है। इस दिशा बोध के कारण अकाली दल ने यह मॉग प्रस्तुत की कि राज्यों और केन्द्र के सम्बन्धों पर पुर्नविचार किया जाये और सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो, जिससे राज्य को अधिक स्वायत्तता और शक्तियाँ मिलें। तमिलनाडु, पश्चिमी बंगाल तथा जम्मू–कश्मीर भी इस समय राज्यों को अधिक अधिकार दिये जाने की माँग कर रहे थे। पंजाब भी उनके साथ हो लिया और केन्द्र पर दबाव डालने लगा। 28 अगस्त, 1977 ई० में अकाली दल द्वारा अमृतसर में आयोजित सामान्य अधिवेशन में आनन्दपुर साहब प्रस्ताव का अनुमोदन करते हुए, यह माँग की गयी कि प्रतिरक्षा, विदेश मामले एवं नीति, संचार, रेलवे, मुद्रा के विषयों के अतिरिक्त सारे विषय केन्द्र द्वारा राज्यों को दिये जाने चाहिये। अकाली नेतृत्व ने यह माँग भी की कि डलहौजी (जिला गुरूदासपुर), चण्डीगढ़, पिन्जौर, नालागढ़ क्षेत्र, शाहाबाद एवं गुहला ब्लाक (जिला करनाल), सिरसा, तोहाना तहसीलें एवं हिसार जिला का रतिया ब्लाक, कालका, अम्बाला, ऊना तहसील (जिला होशियारपुर) और राजस्थान के गंगा नगर जिले की छः तहसीलें पंजाब को दिये जायें। परन्तु सन् 1977 ई० में अकाली दल द्वारा पंजाब में सत्ता ग्रहण करने के उपरान्त इस माँग को पूरा करवाने के लिये अधिक जोर नहीं डाला गया। किन्तु सन 1980 ई० में पंजाब में कांग्रेस की सरकार बनने पर पुनः सिखों के लिये अलग देश खालिस्तान की माँग दुहरायी जाने लगी। अभी तक अकाली दल द्वारा ही इस माँग को

उठाया जा रहा था, परन्तु अब पंजाब में कांग्रेस का एक गुट भी इस मॉग को बुलन्द करन वालो में शामिल हो गया। मार्च, 1981 ई० में सिखों के 54 वें शिक्षा अधिवेशन मे खालिस्तान के गठन को समर्थन देने का प्रस्ताव स्वीकार किया गया। अप्रैल, 1981 ई० में अकालियों की एक उपशाखा ने विश्व सिख अधिवेशन का आयोजन किया और इसमें स्पष्ट शब्दों में स्वतन्त्र खालिस्तान राज्य की स्थापना करवाने का संकल्प लिया। सिखों का उदारवादी वर्ग इस अतिवादी मॉग का समर्थक नहीं था, परन्तु यह लोग आतंक एवं भय के कारण अपनी बात को स्पष्ट और प्रभावी ढग से नही कह पा रहे थ। अलगाववादियों ने एक सूत्रीय मॉग प्रस्तुत करते हुए कहा कि भारतीय संघ में सिखो के साथ द्वितीय श्रेणी का व्यवहार किया जा रहा है और तुरन्त कार्यवाही करके सिखों को सम्मान और समानता दी जानी चाहिए। इसी सन्दर्भ में आनन्दपुर साहब प्रस्ताव को लागू किये जाने की मॉग को लेकर आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया गया। यह आन्दोलन प्रारम्भ के कुछ दिनों तक तो शान्तिपूर्ण रहा, किन्तु खालिस्तान की माँग को अनुचित बताने का दोषी बनाते हुए पंजाब केसरी नामक समाचार पत्र के सम्पादक लाला जगत नारायण की हत्या कर दिये जाने से मामला गम्भीर दिखायी देने लगा। इस आतंकवादी मामले के सम्बन्ध में सन्त जरनैल सिंह भिण्डरावाला की गिरफ्तारी के लिए वारण्ट जारी किये जाने से गतिरोध बढ़ गया। भिण्डरावाला ने अमृतसर के मेहता चौक स्थित गुरूद्वारा में शरण ले ली। धार्मिक संरक्षण की नीति के अनुसार गुरूद्वारा में पुलिस अथवा सैनिक बल प्रवेश नहीं कर सकते थे। प्रतिरोध के उपरान्त भिण्डरावाला ने पुलिस के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। उसके अनुयायी उग्र हो गये और विरोध स्वरूप पुलिस बल पर हमला करने लगे। पुलिस ने आत्मरक्षार्थ गोली चलाई, जिसके कारण दस व्यक्ति मारे गये और अनेकानेक घायल हुए। इसका विरोध और अपनी माँगों को मनवाने की प्रक्रिया को जारी रखते हुए भिण्डरावाला की रिहाई के लिए पंजाब में "असहयोग आन्दोलन" छेड़ दिया गया। इस आन्दोलन के दौरान प्रदर्शन आदि का कार्यक्रम चलता रहा। खलिस्तान समर्थक दल ख़ालसा के पॉच सदस्य सितम्बर, 1981 ई० में भारतीय वायु सेवा के विमान को अपहृत करके लाहौर ले जाने मे सफल हुए। उन्होंने भिंण्डरावाला और खालसा दल के अन्य सदस्यों के साथ–साथ खालिस्तान समर्थक बन्दियों को रिहा करने की शर्त पेश की।

आतंक और उत्तेजना को दृष्टिगत करते हुए, 15 अक्टूबर, 1981 ई० में भिण्डरावाला को रिहा कर दिया गया और भारत सरकार ने स्पष्ट शब्दों में यह कहा कि वह किसी भी दशा में पृथक्तावाद को स्वीकार नहीं करेगी। सिखों के हितों के विषय में विचार करने के लिए प्रधानमन्त्री के विशेष प्रतिनिधि के रूप में सरदार स्वर्ण सिंह ने अकाली नेतृत्व से बातचीत शुरू की। किन्तु बातचीत की प्रक्रिया द्वारा किसी समझौते पर पहुँचने के बजाय अकाली नेताओं ने यह स्पष्ट किया कि "आनन्दपुर साहब प्रस्ताव" को लागू किये जाने से कुछ भी कम उन्हें स्वीकार नहीं है। केन्द्र सरकार यह जानती थी कि पंजाब का मामला उसके निकटवर्ती राज्यो–हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान से भी सम्बन्धित है। अतः वह आनन्दपुर साहब प्रस्ताव की माँग को स्वयं स्वीकार करने की अवस्था में नहीं है। इन राज्यों ने अपनी–अपनी समस्याओं को पंजाब की माँगों के सन्दर्भ में केन्द्र के सामने रखना शुरू किया। अकाली दल की माँगों का मामला उलझता गया। गतिरोध–प्रतिरोध चलता रहा।

पंजाब में आन्दोलन का प्रारम्भ प्रमुख रूप से शहरों में रहने वाले मध्यवर्गीय सिखों के नेतृत्व में उनकी आकांक्षाओं पर आधारित आन्दोलन था। अपने आन्दोलन के लिए साम्प्रदायिक समर्थन को व्यापक रूप में प्राप्त करने के लिए अकाली दल ने अपनी माँगों में धार्मिक विषयों का समावेश करना प्रारम्भ कर दिया। राष्ट्रीय स्तर पर यह प्रचार किया जाने लगा कि हिन्दू बहुसंख्यक केवल सिखों को ही नहीं, वरन् सभी अल्पसंख्यकों को हिन्दू सांस्कृतिक धारा में विलीन करना चाहते हैं। सिखों को इस सन्दर्भ में अधिक खतरा है। वे सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से हिन्दू धर्म और संस्कृति के अधिक निकट हैं। सिख नेतृत्व ने इस बात पर जोर दिया कि सिखों के सामाजिक और सांस्कृतिक अस्तित्व को बनाये रखने के लिए उनका पृथक राज्य होना चाहिए। इस राज्य की राजनीतिक सत्ता सिखों के पास होनी चाहिए। इसके साथ ही यह भी विचार अभिव्यक्त किया गया कि सिख धर्म में राजनीति और धर्म एक–दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। सिख गुरूओं द्वारा धर्म की रक्षा और विस्तार के लिए राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना प्रत्येक सिख का धार्मिक कर्त्तव्य निर्धारित किया गया है। सन् 1960 ई० तक पंजाब के सिख कृषकों का एक बड़ा वर्ग कांग्रेस का साथ देता रहा था। किन्तु इसके उपरान्त कांग्रेस की अनेक कृषि सम्बन्धी नीतियों से भूमिधारी कृषक वर्ग कांग्रेस से क्षुब्ध होने लगा। पंजाब में यह वर्ग सिख बाहुल्य था और

धार्मिक आधार पर पहले से ही अकाली दल के प्रति सहानुभूति रखता था। शीघ्र ही अकाली दल ने काग्रेस की नीतियों को सिख किसानों के साथ भेदभाव पूर्ण बताना शुरू कर दिया। व्यापक तौर पर जन समर्थन की अपेक्षा करते हुए अकाली दल ने पंजाब में आन्दोलन को तीव्र कर दिया क्योंकि अकाली दल को केवल सिख समुदाय का समर्थन मिलता है। अतः अकाली दल के लिए यह आवश्यक था कि वह किसी भी प्रकार सिखों की धार्मिक भावना को उग्र बनाये रखे। उल्लेखनीय है कि जब कभी भी अकाली दल को पंजाब में अपनी शक्ति कम होने का आभास मिला वह तुरन्त धर्म सम्बन्धी उग्रवादिता को उभारता रहा है। इसी सन्दर्भ में, सन् 1980 ई० में सत्ता से बाहर अकाली दल ने पंजाब के लिए अधिक जल दिये जाने के विवाद को उठाया। पंजाबी भाषा क्षेत्रों को राज्य के साथ जोड़ने और केन्द्र द्वारा राज्य को अधिक से अधिक अधिकार दिये जाने पर जोर दिया।

उपरोक्त सन्दर्भों में पंजाब में आन्दोलन चलता रहा। स्वर्ण मन्दिर से अराजक तत्वों की सफाई के सन्दर्भ में की गयी, जून, 1984 ई० की कार्यवाही के उपरान्त हिंसा का विषम चक्र प्रारम्भ हो गया जिसकी परिणति भारत की तत्कालीन प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी की हत्या से हुई। नये प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी ने अकाली नेता सन्त हरचन्द सिंह लोगोंवाल से जुलाई, 1985 ई० में पंजाब समझौता किया किन्तु कुछ समय उपरान्त जब समझौता लागू किये जाने की प्रक्रिया में था, सन्त लोगोंवाल की हत्या कर दी गयी। तत्पश्चात् पंजाब में चुनाव कराये गये। जिसमें अकाली दल को बहुमत मिला। सुरजीत सिंह बरनाला मुख्यमन्त्री बने, लेकिन वे जब हिंसक गतिविधयों को रोकने में नाकाम रहे तो 11 मई, 1987 ई० को पंजाब में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। मार्च, 1988 ई० में संविधान में 59 वाँ संशोधन करके वहाँ आपात स्थिति लागू करने का प्रावधान कर दिया गया। आतंकवादियों द्वारा स्वर्ण मन्दिर को अपना अभ्यारण्य बनाते हुए अपनी कार्यवाहियों को जारी रखने के कारण मई, 1988 ई० में वहॉ पुलिस कार्यवाही कर उसे आतंकवादियों से मुक्त करा दिया गया। आतंकवादी कार्यवाहियों के पीछे विदेशी प्रोत्साहन व सक्रियता के पर्याप्त प्रमाण उपलबध हैं। 16 दिसम्बर, 1989 ई० को विश्वनाथ प्रताप सिंह की राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने पंजाब समस्या के समाधान की दिशा में अपनी पहली कोशिश के तौर पर राष्ट्रीय सहमति बनाने के लिये सभी राजनीतिक दलों की बैठक की। इसमें निर्णय लिया गया कि पंजाब समस्या का हल संविधान

के दायरे के अन्दर होना चाहिए एवं राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के सवाल पर कोई समझौता नहीं किया जायेगा (सिंह, 1999, पृ० 362)।

खालिस्तान समर्थकों ने भारत सरकार पर दबाव डालने के लिए अनेक स्तरीय आतंकवाद का सहारा लिया। हालांकि पंजाब में 100 से अधिक आतंकवादी संगठन एवं समूह कार्यरत रहे है। इनमे से मुख्यतः बब्बर खालसा, खालिस्तान कमांडो फोर्स, खालिस्तान लिबरेशन फोर्स, भिंडरवाले टाईगर फोर्स आफ खालिस्तान, सिख स्टूडेन्ट फेडरेशन, ऑल इण्डिया सिख स्टूडेन्ट फेडरेशन, दमदमी टक्साल और खालिस्तान नेशलन आर्मी प्रमुख हैं। इनमें से अधिकांश संगठनों के मुख्यालय पाकिस्तान में हैं, जहाँ इन्हें भारत के विरुद्ध आधुनिक अस्त्र–शस्त्रों की ट्रेनिंग और आतंकवादी तकनीकी में प्रशिक्षण दिया जाता रहा है। वर्तमान समय में पंजाब में आतंकवाद को कुचल दिया गया। वहॉ पुनः शान्ति स्थापित हो गयी है। विदेशों में स्थित सिख उग्रवादी संगठनों को प्रोत्साहन उत्तरोत्तर कम होता जा रहा है। राज्य की जनता का अकाली दल की उग्र नीतियों के प्रति समर्थन कम हुआ है। इससे सत्ता परिवर्तन के उपरान्त काग्रेस पार्टी पुनः सत्ता में आयी है। कुल मिलाकर पंजाब में विलगाववाद एवं आतंकवाद अवसान की स्थिति में है एवं राज्य आर्थिक प्रगति एवं शान्ति के पुराने मार्ग पर पुनः प्रतिस्थापित हो गया है।

5.1.3 द्रविड़नाड की माँग

भारतीय संघ से अलग द्रविड़नाड की स्थापना की माँग सन् 1960 ई० में द्रविड मुनेत्र कड़गम नामक दल ने की थी। इसके लिए आन्दोलनात्मक कार्यवाही शुरू करते हुए यह मॉग की गयी कि द्रविड़नाड को आन्ध्र प्रदेश, केरल, मैसूर तथा मद्रास राज्य के भाग दे दिये जायें (चित्र 5.2) और द्रविड़ गणराज्य की स्थापना हो। सौभाग्यवश इस मॉग को अधिक समर्थन नहीं मिला और द्रविड मुनेत्र कड़गम दल में फूट पड़ गयी। इस दल के अधिकांश सदस्य नये द्रविड़ गणतन्त्र की स्थापना की पृथकतावादी नीति से सहमत नहीं हुए और उन्होंने अपनी मूल माँग को संशोधित करते हुए इस तथ्य पर जोर दिया कि इन प्रदेशों की स्वायत्तता के विषय में संवैधानिक संशोधनों द्वारा कुछ प्रावधान कर दिये जायें। इन सदस्यों ने द्रविड़ मुनेत्र कडगम दल को छोड़ते हुए ई० एम० एस० कामथ के नेतृत्व में एक

भारत
द्रविड़नाड
N
पाकिस्तान
चीन
नेपाल
भूटान
म्यांमार
बंगाल की खाड़ी
अरब सागर
द्रविड़नाड
आन्ध्र प्रदेश
कर्नाटक
तमिलनाडु
केरल
लक्षद्वीप
अंडमान और निकोबार द्वीप समूह
100 0 100 200 300
किलोमीटर
हिन्द महासागर
अन्तर्राष्ट्रीय सीमा
प्रान्तीय सीमा
राजधानी
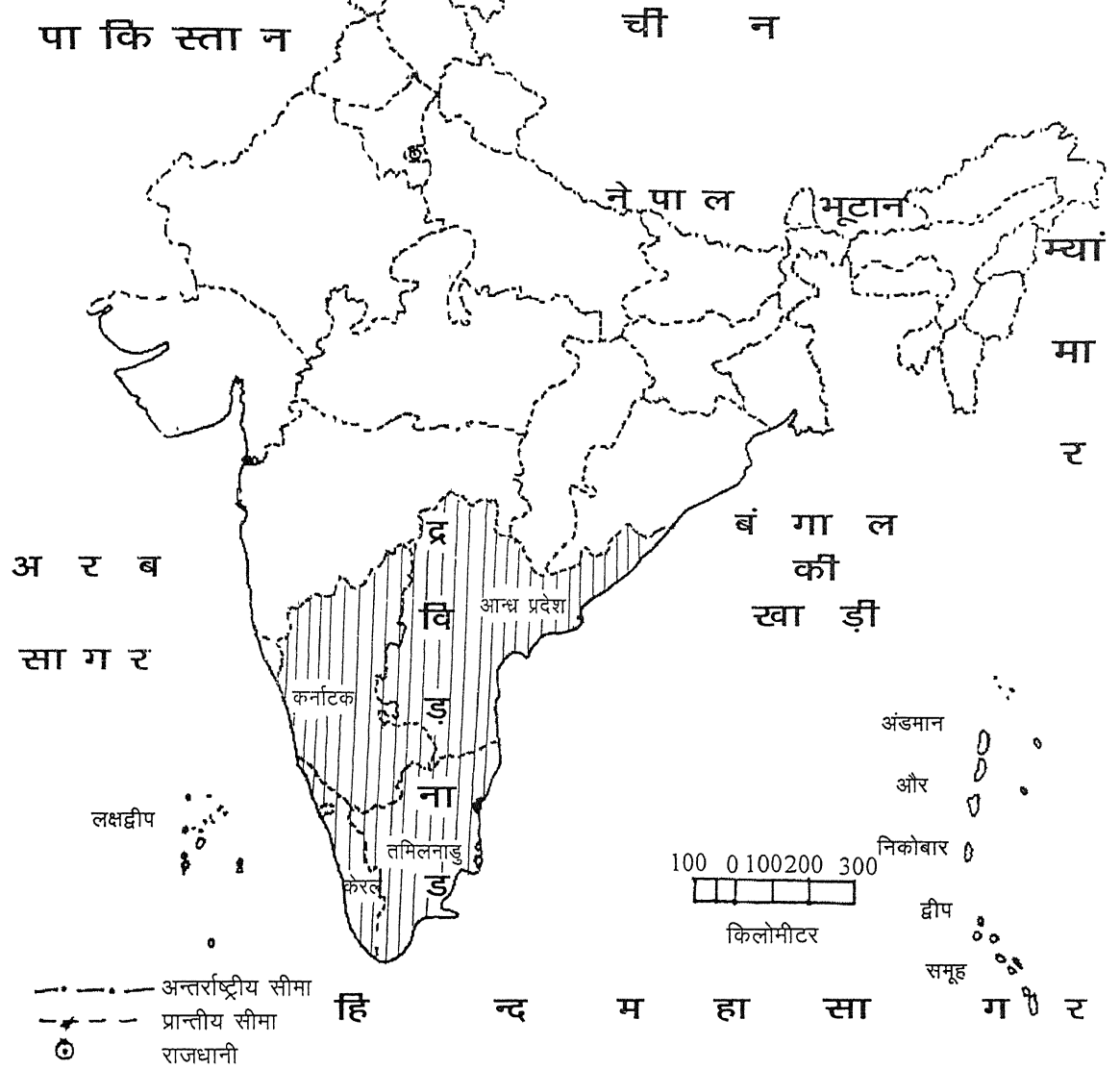
चित्र 5.2

नये दल तमिल नेशलन पार्टी का गठन किया। परन्तु द्रविड़ मुनेत्र कड़गम ने अपनी मूल मॉगों में कोई परिवर्तन नहीं किया और द्रविड़नाड गणतन्त्र की स्थापना के लिए राजनीतिक स्तर पर अपने आन्दोलन को जारी रखा। तत्कालीन प्रधानमन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू ने द्रविडनाड की माँग को अस्वीकार कर दिया। इस सन्दर्भ में उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि भारतीय संघ से पृथक् होने की किसी भी माँग और आन्दोलन को पूरी शक्ति से कुचलने में उन्हे कोई संकोच नहीं होगा। भारत मे पृथक्तावादी और भारत को विखण्डित करने की मॉग से प्रेरित किसी मॉग को राष्ट्र विरोधी घोषित करने के उद्देश्य से भारतीय संविधान में सोलहवां संशोधन किया गया। इसके अन्तर्गत संसद को यह अधिकार मिल गया कि वह भारतीय संघ की सत्ता और एकता को खतरा पैदा करने वाले तत्वों से निबटने के लिये आवश्यक कानून बना सकती है। अक्टूबर, 1963 ई० में किये गये इस संशोधन का परिणाम यह हुआ कि भविष्य में भारतीय संसद और प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के सदस्यों को भारतीय संविधान के प्रति पूर्ण निष्ठा रखने और भारत की एकता, अखण्डता और राज्य सत्ता को सर्वोच्च मानने की शपथ लेनी पड़ने लगी (कौशिक, 2000, पृ० 202–203)।

केन्द्रीय सरकार द्वारा भारतीय जनता की आकांक्षाओं के अनुरूप किये गये उपरोक्त उपायों का अच्छा परिणाम निकला। इसके फलस्वरूप भारत के अन्य भागों में, जहाँ पृथक्त्तावादी तत्व उभरने के प्रयास में थे, पर भी अच्छा प्रभाव पड़ा। द्रविड़ मुनेत्र कड़गम दल ने अपनी पुरानी माँग का परित्याग कर दिया तथा अपने दल के विधान में आवश्यक संशोधन भी किये। अब इस दल ने भारतीय संघ से अलग होने के स्थान पर इस बात पर जोर देना शुरू किया कि भारतीय संविधान के अन्तर्गत द्रविड़ संघ की स्थापना की जाये और इसमें मद्रास (तमिलनाडु), आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक तथा केरल के राज्य सम्मिलित हों एवं राज्यों को अधिकाधिक स्वायत्तता दी जाये। तत्कालीन मुख्यमन्त्री एम० करूणानिधि ने इस विषय में अपनी माँगों को मनवाने के लिए असंवैधानिक उपायों के प्रयोग करने की धमकी भी दी। इस प्रकार अब द्रविड़ मुनेत्र कड़गम दल ने अपनी पृथक्तावादी नीति में मात्र इतना परिवर्तन किया कि पृथक् राज्य की अपेक्षा, राज्य को अधिक अधिकार दिये जायें। इसी बीच तमिल प्रादेशिकवाद ने एक दूसरे रूप में भी अपनी अभिव्यक्ति की। मलयाली अधिक संख्या में तमिल प्रदेश में बसे हुए हैं। तमिल प्रादेशिकवाद ने अब यह माँग की कि सभी पदों को

तमिल लोगों के लिये सुरक्षित किया जाये और मलयालियों को तमिल प्रदेश से बाहर कर दिया जाये। वस्तुतः यह मॉग स्वीकार नहीं की जा सकती थी। अब द्रविड़ मुनेत्र कडगम दल का मुख्य मुद्दा यह बन गया कि केन्द्र सरकार की शक्तियों को कम किया जाये, हिन्दी भाषी उत्तर भारत का दक्षिण के प्रति भेदभावपूर्ण व्यवहार एवं वर्चस्व समाप्त किया जाये तथा तमिलनाडु के विकास के लिए केन्द्र से अधिक आर्थिक संसाधनों का आबंटन कराया जाये। मूलगामी आर्थिक उपायों, सामाजिक परिवर्तन तथा आधुनिक तमिल भाषा एवं संस्कृति के विकास का कार्यक्रम काफी लोकप्रिय हुआ।

सन् 1969 ई० में तमिलनाडु की सरकार ने मद्रास उच्च–न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश डॉ० राजमन्नार की अध्यक्षता में एक समिति गठित करके राज्य की स्वायत्तता के लिये उपाय सुझाने का आयोजन किया। राज्य स्वायत्तता के सन्दर्भ में राजमन्नार समिति ने ये सुझाव दिये : प्रथम, एक अन्तर्राज्यीय परिषद की स्थापना की जाये, जिसका अध्यक्ष प्रधानमन्त्री हो तथा राज्यों के मुख्यमन्त्री या उनके नामित व्यक्ति उसके सदस्य हों। इस परिषद से परामर्श किये बिना संसद में ऐसा कोई विधेयक प्रस्तुत न किया जाये जिससे एक या अधिक राज्य प्रभावित होते हों। प्रतिरक्षा और विदेशी सम्बन्धों के अतिरिक्त इस परिषद से परामर्श किये बिना ऐसा कोई निर्णय न किया जाये जिससे एक या अधिक राज्यों के हित प्रभावित होते हों। द्वितीय, योजना आयोग को समाप्त कर दिया जाये तथा उसके स्थान पर एक संवैधानिक निकाय स्थापित किया जाये, जिसमें राज्यों को सलाह देने के लिए विज्ञान, तकनीक, कृषि और अर्थ विशेषज्ञ हों। राज्यों के अपने योजना मण्डल हों जो उन्हें परामर्श देने का कार्य करें। तृतीय, वित्त आयोग स्थायी आधार पर स्थापित किया जाये तथा राज्यों के पक्ष में करों का पहले से अधिक वितरण हो ताकि उन्हें केन्द्र पर कम से कम निर्भर रहना पडे। चतुर्थ, राजमन्नार समिति ने केन्द्रीय एवं समवर्ती सूची के अनेक विषयों को राज्य सूची में स्थानान्तरित करने की सिफारिश भी की। पंचम्, समिति का सुझाव था कि केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में राज्यों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व होना चाहिए। षष्ठम्, राज्यों के सभी मामले उच्चतम न्यायालय में जाने चाहिए। सप्तम्, राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति राज्य के मन्त्रिमण्डल अथवा उसी उद्देश्य से बनायी गयी किसी उच्चाधिकार निकाय के परामर्श से की जाये। अष्ठम्, राज्यों को उनके औद्योगिक विकास के लिए विदेशी मुद्रा प्रदान की जाये।

नवम्, समिति का यह भी सुझाव था कि राज्य में किसी निजी या सार्वजनिक क्षेत्र मे औद्योगिक लाइसेंस देने का अधिकार राज्यो को होना चाहिए (कौशिक, 2000, पृ० 202–203)।

सन् 1969 ई० में द्रविड़ मुनेत्र कडगम दल के प्रमुख कर्णधार अन्नादुरई की मृत्यु के उपरान्त दल का संगठन विघटित होने लगा। अक्टूबर, 1970 ई० में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम का विभाजन हुआ और अन्ना द्रविड मुनेत्र कडगम नामक नये दल का गठन हुआ। यद्यपि नया दल पुराने दल की विचारधारा के अनुरूप ही आचरण करता रहा परन्तु वर्तमान समय तक स्थिति में काफी परिवर्तन आ चुका है। इन दलों के आपसी मतभेदों के कारण, राष्ट्रीय राजनीतिक दल भी प्रभावी होने लगे हैं। इससे सन्तुलन बढ़ा है। द्रविड़ राष्ट्र की माँग में न तो अब पहले जैसी उग्रवादिता है और न ही पुरानी एकता। प्रादेशिकवाद की पुरानी प्रक्रिया अब उतनी अलगाववादी न होकर क्षेत्रीय दल की राजनीतिक भागीदारी को केन्द्र के साथ सौदेबाजी में सशक्त करने में संलग्न है।

निश्चय ही द्रविड़ पार्टियों के रूपान्तरण का सबसे मुख्य कारण उनका यह महसूस कर लेना रहा है कि (1) इस देश से अलगाव सम्भव नहीं है और भारतीय राज्य इतना मजबूत है कि उस तरफ उठाये गये किसी भी कदम को यह सख्ती से कुचल देगा, (2) एक क्षेत्रीय अस्मिता और राष्ट्रीय पहचान के बीच कोई वास्तविक अन्तर्विरोध नहीं है, (3) भारत की संघीय प्रणाली और लोकतान्त्रिक व्यवस्था की सरकार, एक प्रदेश और व्यक्ति के रूप में तमिलों को आर्थिक अवसर तथा समाज सुधार एवं विकास के लिए बहुत सी राजनीतिक एवं प्रशासनिक स्वतन्त्रता प्रदान करता है, (4) भारतीय राजनीतिक व्यवस्था और राष्ट्रीय एकीकरण सांस्कृतिक अनेकतावाद की स्वीकृति पर आधारित है, और (5) प्रदेशों को सम्पूर्ण सांस्कृतिक स्वायत्तता प्राप्त है, जिसमें उनका अपनी भाषा और अन्य सांस्कृतिक गतिविधियों पर पूर्ण नियन्त्रण शामिल है। संक्षेप में, द्रविड़ पार्टियों और तमिलनाडु की जनता ने समय के दौरान यह महसूस किया कि अनेकता में एकता एक बिल्कुल व्यावहारिक अवधारणा है तथा वह भारतीय राजनीतिक व्यवस्था एवं स्वभाव का एक अखण्ड हिस्सा है (चन्द्र, 200[illegible], पृ० 401–402)।

द्रविड़नाड की मॉग केवल भारत में ही नहीं हो रही है बल्कि श्रीलंका के आतंकवादी संगठन लिट्टे का मानना है कि उत्तरी श्रीलंका के तमिल बाहुल्य क्षेत्र एवं तमिलनाडु को मिलाकर एक स्वतन्त्र राष्ट्र बनाया जा सकता है।

5.1.4 मिजोरम की माँग

भारतीय संघ से अलग पृथक् देश की स्थापना करने के लिये असम के पहाड़ी जिलों मे रहने वाले मिजो लोगों ने मॉग की। उन्होने मिजो नेशलन फ्रन्ट पार्टी की स्थापना की। वे असम के मिजो पर्वतीय क्षेत्रों, और साथ ही बांग्लादेश एवं म्यांमार के कुछ भागों को लेकर, एक संगठित रूप देकर स्वतन्त्र मिजो राज्य की स्थापना करना चाहते थे। भारत सरकार ने सन् 1962 ई० में मिजो नेशनल फ्रन्ट के प्रति कडा रूख अपनाया। विपरीत परिस्थितियों में मिजो नेतृत्व ने छिपे तौर पर चाचर पर्वतीय क्षेत्रों एवं त्रिपुरा में अपना अड्डा बनाया और राष्ट्र विरोधी कार्य जारी रखे। तब भारत सरकार ने दमनात्मक कार्यवाही करके मिजो नेतृत्व पर इतना दबाव डाला कि उसके नेता स्वतन्त्र मिजो राज्य की माँग को छोड़ने पर विवश हो गये और उन्होंने समझौते द्वारा शान्तिपूर्ण उपायों को अपनाने की इच्छा प्रकट की। सन् 1973 ई० में अपेक्षाकृत कम उग्रवादी मिजो नेताओं ने जब अपनी माँगों में भारी कटौती कर दी, तो उसके बाद भारतीय संघ के अन्दर अलग मिजोरम राज्य की उनकी मॉग स्वीकार कर ली गई। मिजो जिलों को असम से अलग कर मिजोरम को केन्द्र शासित राज्य दर्जा दे दिया गया (चन्द्र, 2002, पृ० 159)। इस प्रकार मिजो नेतृत्व ने पृथक्तावाद का परित्याग कर दिया। केन्द्रशासित राज्य मिजोरम के विकास और प्रगति के लिये भारत सरकार ने बहुत ज्यादा धनराशि व्यय की। परन्तु सरकार को अधिक सफलता नहीं मिली। मिजो लोगों का एक वर्ग भारतीय संघ से एक अलग राज्य की माँग पर दृढ़ रहा और उसने भारतीय सरकार के प्रयासों को विफल करने में हर सम्भव बाधायें उत्पन्न की। ऐसा विश्वास किया जाता है कि उसे चीन और म्यांमार से प्रोत्साहन मिल रहा था। भारत सरकार ने 1973–74 ई० में समझौते के कई प्रयत्न किये परन्तु सफलता नहीं मिली। लालडेंगा के नेतृत्व वाला मिजो वर्ग अब विद्रोही कार्यवाही करते हुए, हिंसा पर उतारू होने लगा। लेकिन उसे भारतीय सेना के द्वारा प्रभावशाली तरीके से निबटा दिया गया। अलगाववादी विद्रोहियों का सफाया करने के बाद भारत सरकार ने नेहरूवादी जनजातीय नीति का पालन करते हुए कई प्रकार की छूट

और सुविधाओं का प्रस्ताव रखा (चन्द्र, 2002, पृ० 159)। साथ ही सरकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि वह छिपे हुए मिजो नेताओं से किसी भी प्रकार के समझौते के लिए बातचीत नहीं करेगी। इसका आपेक्षित परिणाम यह निकला कि लालडेंगा ने हिंसक कार्यवाही बन्द करके, शस्त्र समर्पण किया और यह इच्छा प्रकट की कि भारतीय संविधान के अन्तर्गत ही मिजो समस्या को हल करवाने के लिए वह सहमत हैं। जुलाई, 1976 ई० में भारत सरकार और मिजो नेताओं के बीच दीर्घकालिक वार्ता के उपरान्त समझौता हो गया। समझौते के अनुसार मिजो नेतृत्व ने हिंसा का परित्याग करने और अपने सारे शस्त्र शासन को देने का वचन दिया। परन्तु शीघ्र ही लालडेंगा ने वचन भग करके अपने अनुयायियों को भड़काना और राष्ट्र विरोधी कार्य करना प्रारम्भ कर दिया।

सन् 1979 ई० में मिजो नेतृत्व अधिक हिंसक हो उठा। भारत सरकार ने सैनिक कार्यवाही की और विद्रोहियों को पकड़ने के आदेश दिये। यह भी घोषणा की गयी कि जब तक हिंसा और आतंक समाप्त नहीं होगा, मिजो नेशलन फ्रन्ट के नेताओं से बातचीत नहीं की जायेगी। राजनीतिक स्तर पर सरकार ने यह इच्छा व्यक्त की कि वह मिजो केन्द्र शासित प्रदेश को राज्य का स्तर दिये जाने को सशर्त तैयार है। इसके लिये सभी विद्रोहियों को अपने शस्त्र त्यागने होंगे। परन्तु मिजो नेतृत्व पर इसका तुरन्त प्रभाव नहीं पड़ा था। अन्ततोगत्वा सन् 1980 ई० में विद्रोही मिजो नेताओं और केन्द्र सरकार के बीच समझौता हुआ। दोनों पक्षों ने शस्त्रों के परित्याग का वचन दिया और किसी भी भावी संघर्ष में शस्त्र की अपेक्षा बातचीत को माध्यम बनाना स्वीकार किया। यह भी माना गया कि मिजो समस्याओं का हल संवैधानिक प्रावधानों के अन्तर्गत तथा उसके अनुसार किया जायेगा। मिजोरम में पुनः शान्ति व्यवस्था स्थापित हुई। परन्तु यह शान्ति शस्त्र बल के भय से स्थापित हुई थी न कि ह्नदय परिवर्तन से। लालडेंगा ने कई देशों का भ्रमण किया और बृहत् मिजोरम राज्य का गठन, जिसमें त्रिपुरा, मणिपुर और असम के भी कुछ भाग शामिल हों, की माँग की। उसने संविधान के अन्तर्गत ही नये मिजोरम राज्य को अधिक स्वायत्तता दिये जाने की माँग भी की। वार्ता के कई दौरों के उपरान्त अन्ततोगत्वा 30 जून, 1986 ई० को केन्द्र सरकार राज्य सरकार तथा मिजो नेशनल फ्रन्ट के नेता लालडेंगा के मध्य समझौता हो गया। समझौते के अनुसार लालडेंगा एवं मिजो नेशलन फ्रन्ट अपनी भूमिगत हिंसक गतिविधियों को त्याग देने

के लिये तैयार हो गये तथा भारतीय अधिकारियों के समक्ष शस्त्र अर्पण करके वे पुन संवैधानिक राजनीति की मुख्य धारा में शामिल हो गये। अगस्त, 1986 ई० को मिजोरम को पूर्ण राज्य का दर्जा मिल गया। सन्धि के तहत लालडेंगा को मुख्यमन्त्री बनाकर एक सरकार स्थापित की गयी (चन्द्र, 2002, पृ० 159–160)। फरवरी, 1987 ई० को मिजोरम विधान सभा के लिए हुए प्रथम चुनावों में भी लालडेंगा का मिजो नेशनल फ्रन्ट विजयी रहा तथा लालडेगा प्रथम अधिकृत मुख्यमन्त्री बने।

5.1.5 नागालैण्ड की माँग

भारत के असम राज्य के पहाड़ी क्षेत्र और भारत–म्यांमार सीमा पर त्वेगसांग डिवीजन में बसने वाले नागाओं ने भारतीय संघ से पृथक् होकर स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की मॉग की थी। इसका प्रमुख कारण यह था कि अंग्रेजी शासन काल में नागाओं को पूरे भारत से अलग रखा गया था और उन्हें प्रायः निर्बाध छोड़ दिया गया था, सिर्फ ईसाई मिशनरियों को गतिविधियॉ चलाने की इजाजत दी गई थी, जिसके परिणामस्वरूप एक छोटा शिक्षित तबका विकसित हो चुका था। आजादी के बाद भारत सरकार ने नागाओं को असम राज्य और सम्पूर्ण भारत के साथ एकबद्ध करने के लिये एक नीति का पालन करना शुरू किया। परन्तु नागा नेतृत्व के एक तबके ने इस एकीकरण का विरोध कर ए० जेड० फीजो के नेतृत्व में बगावत कर दी। उन्होंने भारत से अलग होकर पूरी स्वतन्त्रता की मॉग रखी। उन्हें इस कार्यवाही में कुछ अंग्रेज अधिकारी तथा मिशनरियों का योगदान भी प्राप्त हुआ। सन् 1955 ई० में इन अलगाववादी नागाओं ने स्वतन्त्र सरकार के गठन की घोषणा कर दी और हिंसक विद्रोह आरम्भ कर दिया (चन्द्रा, 2002, पृ० 157)।

नागा नेतृत्व ने यह धमकी दी कि यदि उनकी माँगें स्वीकार नहीं की गयी तो वे संयुक्त राष्ट्र संघ में पृथक् नागा राज्य की मॉग का प्रश्न उठायेंगे। जब सन् 1957 ई० के मध्य में सशस्त्र विद्रोह की कमर तोड़ दी गयी, तो अपेक्षाकृत नरमपंथी नागा नेतागण डॉ० इमकोनग्लिबा ओ के नेतृत्व में सामने आये। उन्होंने भारतीय संघ के अन्दर नागालैण्ड राज्य के निर्माण के लिए समझौता किया। इस समझौते के द्वारा नागाओं के राज्य का गठन करने को सिद्धान्त रूप में स्वीकार किया गया। नागालैण्ड के गठन से पूर्व अन्तरिम प्रबन्ध करते

हुए नागा क्षेत्र के प्रशासनिक प्रबन्ध किये गये। सन् 1962 ई० में भारतीय संघ के अन्तर्गत पूर्ण राज्य के रूप में नागालैण्ड के गठन की स्वीकृति दी गयी। दिसम्बर, 1963 ई० को नागालैण्ड राज्य का विधिवत् गठन हो गया।

पृथक्तावादी मॉगों मे प्रायः यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है कि मॉग स्वीकार होने पर भी एक विद्रोही वर्ग सदैव सघर्ष के रास्ते पर चलता ही रहा है। नागालैण्ड के गठन के उपरान्त भी यही देखने मे आया। नागाओं का एक वर्ग ए०जेड० फीजो के नेतृत्व में हिंसक रास्ता अपनाये रहा। भारतीय सरकार का रुख अब कठोर था। फलस्वरूप फीजो को वहॉ से भागना पड़ा। वह स्वतंत्र नागालैण्ड की स्थापना के लिए समर्थन जुटाने के प्रयास में लन्दन गया, परन्तु वहॉ पर उसे कोई सहयोग नहीं मिला। चीन और पाकिस्तान भारत को दुर्बल करने में सदैव से अप्रत्यक्ष सहायता देते रहे हैं। नागा विद्रोही नेता ने इसका लाभ उठाते हुए इन देशों से सहायता प्राप्त की और अपनी हिंसक कार्यवाहियां जारी रखीं। इसी बीच पूर्वी पाकिस्तान का अस्तित्व समाप्त हो गया और वहाँ पर बांग्लादेश का जन्म हुआ। इससे विद्रोही नागाओं को मिलने वाली सहायता और प्रोत्साहन में कमी आने लगी। अब विद्रोही नागाओं ने फीजो के निर्देशानुसार अपने संघर्ष के तरीकों में थोड़ा परिवर्तन किया और जनजीवन को अस्त–व्यस्त करके भारत सरकार पर दबाव डालने हेतु नागालैण्ड में व्यापक हत्याकाण्ड किये। केन्द्रीय सरकार ने सुरक्षात्मक उपाय करते हुए प्रतिरोधात्मक कार्यवाही की। यह कार्यवाही इतने प्रभावी स्तर पर की गयी कि उग्रवादी नागा और उनका नेतृत्व वस्तुस्थिति से परिचित होने लगा। अनेक विद्रोही नागाओं को जब अपना अस्तित्व खतरे में फॅसता दिखने लगा तो उन्होंने भारत सरकार से बातचीत द्वारा समस्या के हल की पेशकश की। भारत सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि उनकी माँगे यदि भारतीय संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार होंगी तो बातचीत की जा सकती है। इस बीच केन्द्र सरकार ने इस बात का भी पूरा ध्यान रखा कि वार्ता कि पेशकश के बहाने नागा विद्रोही चीन से हथियार प्राप्त न कर पायें और सैनिक प्रशिक्षण के लिए चीन न जा पायें।

अनेक उतार–चढ़ावों के उपरान्त नागाओं तथा केन्द्रीय सरकार के बीच नवम्बर, 1975 ई० में समझौता हो गया। नागा विद्रोही अपने शस्त्रों का समर्पण करने तथा सभी प्रकार की हिंसक कार्यवाहियों को समाप्त करने पर सहमत हो गये। उन्होंने भारतीय संविधान

के प्रति आज्ञाकारिता और निष्ठा व्यक्त करते हुए अपनी समस्याओं को सुलझवाने की सहमति भी व्यक्त की। उसके बदले में भारतीय सरकार ने सभी विद्रोही नागाओं को मुक्त करने और उन पर हिसा आदि के चलाये जा रहे मुकदमों को वापस लेने का वचन दिया। समझौते द्वारा यह भी स्वीकार किया गया कि भय के कारण छिपे हुए नागाओं से सम्पर्क स्थापित करके समस्याओं को सुलझाने के अन्य उपाय प्राप्त किये जायेंगे। परन्तु यह समझौता शीघ्र ही समाप्त किया जाने लगा। अनेक नागा खुले आम विद्रोही स्वर अभिव्यक्त करने लगे। उन्होंने चीन तथा पाकिस्तान से शस्त्र और प्रशिक्षण प्राप्त करने का प्रयास जारी रखा। सन् 1977 ई० में नागा नेता फीजो, जो देश से बहिष्कृत हुआ था, ने तत्कालीन प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई से लन्दन में वार्ता की परन्तु वार्ता असफल रही।

नागालैण्ड में शान्ति की स्थिति को बरकरार रखने के लिए केन्द्र सरकार ने राज्य के प्रभावशाली उग्रवादी संगठन नेशनल सोशलिस्ट काउंसिल ऑफ नागालैण्ड के आई–एम गुट के साथ गत सन् 1997 ई० से लागू संघर्ष विराम की अवधि को दो वर्ष के लिए और बढ़ा दिया। इसके लिए संगठन के महासचिव टी० मुइवा तथा केन्द्र सरकार के मध्य सहमति जून, 2001 ई० में बैंकाक में हुई। इस समझौते के अनुसार संघर्ष विराम को पूर्वोत्तर के अन्य राज्यों में रहने वाले नागाओं के लिए भी लागू होगा। संघर्ष विराम का क्षेत्र अभी तक नागालैण्ड तक ही सीमित था। इस संघर्ष विराम का नागालैण्ड के मुख्यमंत्री ने स्वागत किया, वहीं असम, मणिपुर व अरूणाचल प्रदेश के विभिन्न संगठनों ने अपने राज्यों की क्षेत्रीय अखण्डता के लिए खतरा मानते हुए इसका भारी विरोध किया है। इन राज्यों में यह आशंका व्याप्त हो गई है कि आगे चलकर सभी नागा बहुल क्षेत्रों को मिलाकर एक वृहत्तर नागालैण्ड का गठन किया जा सकता है, जैसा कि नेशनल सोशलिस्ट काउंसिल ऑफ नागालैण्ड (आई एम) की माँग रही है। असम में सरकार ने संघर्ष विराम के प्रभाव क्षेत्र के विस्तार के प्रति अपना विरोध केन्द्र के प्रति व्यक्त किया, जबकि मणिपुर में भारी जनाक्रोश केन्द्र के इस निर्णय के विरुद्ध व्यक्त किया गया। मणिपुर में बन्द के दौरान अराजकता पर उतरी क्रुद्ध भीड़ ने राज्य विधान सभा भवन व मुख्यमंत्री सचिवालय सहित अनेक सरकारी कार्यालयों में आग लगा दी और संविधान की प्रतियों में आग लगाई।

विद्रोही नागाओं की माँगों और उनके द्वारा समझौते के उपक्रम किये जाने के विपरीत अप्रत्यक्ष विदेशी सहायता प्राप्त करने से यह स्पष्ट हो गया कि वे नागाओं के छोटे से वर्ग के समर्थन पर ही टिके हुए हैं। वस्तुतः अधिकांश नागा और उनका नेतृत्व अब भारतीय संविधान के अन्तर्गत आने में अपने को सुरक्षित महसूस कर रहे हैं। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में नागा समस्या स्वत: हल हो जायेगी और नागाओं के सभी वर्ग भारत की मुख्य राजनीतिक धारा में समाहित हो जायेगे।

5.1.6 त्रिपुरा की माँग

त्रिपुरा में "जनशक्ति संगठन सेना" ने स्वतंत्र त्रिपुरा का नारा बुलन्द किया है। इस संगठन ने मिजोरम नेशनल फ्रन्ट से सम्पर्क स्थापित कर लिया। ये दोनों संगठन हिंसात्मक गतिविधियों में संलग्न हो गये। कांग्रेसी नेताओं का आरोप है कि मार्क्सवादी नेता जनजातीय नेताओं से मिलकर त्रिपुरा में आतंकवाद फैला रहे हैं (श्रीवास्तव, 1996, पृ० 345)। सरकार द्वारा विकास की दोहरी नीति अपनाये जाने के कारण त्रिपुरा की आदिवासी जनता हमेशा विद्रोह करती आयी है। इस राज्य में आदिवासी पहले बहुसंख्यक थे, लेकिन बांग्लादेश से भारी संख्या में बंगालियों के आकर बस जाने के कारण आबादी का अनुपात स्तर 30 प्रतिशत का हो गया है। फलतः न तो आदिवासी युवकों को नौकरी मिल पाती है और न ही शासन में उचित भागीदारी। परिणामस्वरूप त्रिपुरा के आदिवासी लोग भारतीय संघ से अलग होकर एक स्वतंत्र राष्ट्र बनाना चाहते हैं।

5.1.7 असम

यूनाइटेड लिबरेशन फ्रन्ट ऑफ असम (उल्फा) असम का उग्रवादी संगठन है, जिसने आतंक और हिंसा की अपनी गतिविधियाँ अधिक बढ़ा रखी हैं। उल्फा की मान्यता है कि असम भारतीय साम्राज्यवाद का उपनिवेश बन गया है और इससे मुक्ति का एकमात्र उपाय पृथक् देश का निर्माण करना है, जिसमें समानता के आधार पर शोषण मुक्त समाज हो। अपने उद्देश्यों का प्रचार करने के लिए उल्फा ने हर सम्भव साधन का व्यापक रूप में उपयोग किया है। उल्फा आतंक का सहारा लेकर खुलकर राष्ट्र विरोधी गतिविधियों में संलग्न है। उल्फा की गतिविधियों पर नियन्त्रण करने के लिए केन्द्र ने प्रफुल्ल कुमार सरकार

को अपदस्थ करके 27 नवम्बर, 1990 ई० को असम में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया। राष्ट्रपति शासन लगते ही उल्फा के विरुद्ध 'आपरेशन बजरंग' नाम से सैनिक कार्यवाही की गयी, लेकिन इससे असम मे शान्ति स्थापित नही हो सकी। उल्फा के शिवरों से प्राप्त दस्तावेज से ज्ञात हुआ कि उल्फा कार्यकर्ता एक प्रभुता सम्पन्न, स्वतंत्र और समाजवादी असम के निर्माण में गम्भीरतापूर्वक प्रयासरत् थे। साथ ही नागालैण्ड, मणिपुर, त्रिपुरा के उग्रवादी संगठनों तथा चीन, पाकिस्तान, म्यांमार एवं बांग्लादेश से इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सभी प्रकार की सहायता मिलने की पुष्टि हुई (श्रीवास्तव, 1996, पृ० 340)।

राष्ट्रपति शासन के दौरान भी उल्फा की गतिविधियों के चलते रहने के कारण उल्फा की असम की जनता में लोकप्रियता हो गयी। माओवादी दर्शन पर आधारित नक्सलवादी तत्व भी उल्फा को हर प्रकार की सहायता प्रदान करते रहे। इससे उल्फा को पुनः संगठित होने का अवसर मिल गया। इन परिस्थितियों में उल्फा के आतंक वाले क्षेत्रों जोरहाट, नागौन, तिनसुकिया, गोलाघाट, उत्तरी लखीमपुर, मोनितपुर, धैमाजी और शिवसागर में एकाएक सेना तैनात करके समूचे असम तथा पड़ोसी राज्यों के सीमावर्ती क्षेत्रों को अशान्त क्षेत्र घोषित करके सेना का नवीनतम अभियान 'आपरेशन राइनो' शुरू किया गया, जो आंशिक सफल रहा (श्रीवास्तव, 1996, पृ० 340–341)।

उल्फा का सिद्धान्त हैं– ''चुपचाप दे दो या हमेशा के लिए बोलती बन्द।'' वे लोग अपनी गोलियों का निशाना उन असमियों पर भी आजमाते हैं जो उनका विरोध करते हैं। उल्फा भारतीय संविधान को नहीं मानता है। उल्फा के अनुसार कोई भी पूर्वोत्तर राज्य भारत का अग नहीं है। असम के कुछ जिलो में उल्फा ने समानान्तर सरकार गठित कर ली है, जो अदालते लगाती है, सड़क निर्माण, पुल निर्माण आदि कार्य करती हैं और खर्चा चलाने के लिए कर वसूलती है (सिंह, 1999, पृ० 366–367)। उल्फा आन्दोलनकारी आये दिन हिंसात्मक गतिविधियाँ करते रहते हैं। सरकार को उल्फा समस्या को विवेकपूर्ण ढ़ंग से हल करने की आवश्यकता है।

5.2 पृथक् राज्य का दर्जा दिये जाने की माँग

भारत विविधतायुक्त देश है। इस कारण यहॉ पर संस्कृतियों और भाषाओं की व्यक्तिगत पहचान की जाती है। भारतीय संविधान के निर्माताओं ने संविधान की रचना करते समय इस तथ्य को भली-भॉति स्वीकार किया था कि भारत की स्थानीय संस्कृतियॉ समान रूप से फलें–फूलें। इसके लिए संवैधानिक उपाय भी किये गये थे। परन्तु जब प्रादेशिकवाद की भावना बलवती होने लगी, इस विषय को उठाया जाने लगा कि अमुक क्षेत्र की संस्कृति और भाषा की व्यक्तिगत पहचान एवं अस्तित्व के लिए अमुक राज्य का पृथक् गठन किया जाये। यह प्रादेशिकवाद भारतीय संघ से पृथक् होने के प्रादेशिकवाद से अपेक्षाकृत कम गम्भीर है। इसका उद्देश्य वस्तुतः भारतीय संघ की इकाइयों में वृद्धि करके प्रादेशिकवादियों द्वारा अपने निहित स्वार्थों और हितो को पूरा करवाना है। पृथक् राज्य का दर्जा दिये जाने की मॉग अनेक ओर से आने का उपक्रम राज्यो के पुनर्गठन के उपरान्त अधिक तीव्रता से होने लगा है।

5.2.1 गुजरात और महाराष्ट्र का गठन

राज्य पुनर्गठन आयोग ने बम्बई राज्य का द्विभाषीय आधार पर गठन करने का सुझाव दिया था। परन्तु संयुक्त महाराष्ट्र समिति तथा महा गुजरात जनता परिषद् ने इसमें असहमति अभिव्यक्ति की। इन दोनों संगठनों को सम्बन्धित वर्गों का व्यापक समर्थन प्राप्त था। इसका अनुमान लगाते हुए भारत सरकार ने बम्बई को महाराष्ट्र और गुजरात दो राज्यों में विभाजित कर दिया। यह विभाजन इस बात को ध्यान में रखते हुए किया गया कि इससे पूर्व एक भाषीय राज्य के रूप मे आन्ध्र प्रदेश का गठन किया जा चुका था।

5.2.2 पंजाब राज्य का गठन

पंजाब के विभाजन को राज्य पुनर्गठन आयोग ने अपनी सिफारिशों में अस्वीकार कर दिया था। आयोग की इस सिफारिश को सरकार ने भी स्वीकार कर लिया था। किन्तु मास्टर तारा सिंह के नेतृत्व में अकालियों ने पृथक् पंजाब राज्य के गठन करने की मॉग की। उन्होंने यह भी कहा कि सिखों के हितों की अनावश्यक अनदेखी की जा रही है। इसलिये अन्य

सम्बन्धित आरोपों की जांच करके अपनी सिफारिश देने के लिये भारत सरकार ने एस०आर० दास की अध्यक्षता में एक आयोग नियुक्त किया। आयोग की रिपोर्ट में यह बात निराधार बतायी गयी कि सिखों की उपेक्षा की जा रही है। इसने पृथक् पंजाब राज्य के गठन को भी उचित नही माना। अकाली नेतृत्व इससे सहमत नहीं हुआ और उसने आन्दोलनात्मक रुख अपनाया। जब आन्दोलन काफी समय तक चलता रहा तो सरकार ने न्यायमूति जे०सी० शाह की अध्यक्षता में पुनः एक आयोग का गठन किया। इस आयोग ने भाषायी आधार पर पजाब के पुनर्गठन का सुझाव दिया। इन सुझावो को ध्यान मे रखते हुए संसद ने पंजाब पुनर्गठन अधिनियम 1966 पारित किया। इस अधिनियम द्वारा पंजाबी भाषी क्षेत्रों को पंजाब राज्य के रूप में गठित कर दिया गया। पर्वतीय क्षेत्रों को हिमाचल प्रदेश में सम्मिलित कर दिया गया और हिन्दी भाषी क्षेत्रों को मिलाकर हरियाणा के रूप में नये राज्य का गठन किया गया।

5.2.3 मेघालय का गठन

गारो, खासी तथा जैन्तिया के निवासियों ने नेतृत्व पाकर एक पृथक् राज्य की स्थापना की मॉग उठायी थी। आल पार्टी हिल लीडर्स कान्फ्रेन्स नामक दल का गठन किया गया और आन्दोलन शुरू हुआ। भारत सरकार ने संघीय आधार पर असम राज्य का गठन करते हुए इस माँग की आंशिक रूप से पूर्ति की। इससे आल पार्टी हिल लीडर्स कान्फ्रेन्स के नेता सन्तुष्ट नहीं हुए और पृथक् रूप में पर्वतीय क्षेत्र के राज्य की माँग करते रहे। सरकार पर अनावश्यक प्रभाव डालने की कोशिश की गयी। असन्तुष्ट नेताओं ने यह भी धमकी दी कि सन् 1967 ई० के असम विधान सभा के बजट सत्र से पहले यदि उनकी मॉग स्वीकार नहीं की गयी तो उनके विधान सभाई सदस्य विधानसभा की सदस्यता का परित्याग कर देंगे। सरकार ने दबाव में आकर मॉग स्वीकार करने में असहमति व्यक्त की तो आल पार्टी हिल लीडर्स कान्फ्रेन्स दल के सभी नौ सदस्यों ने विधान सभा की सदस्यता त्याग दी। दल ने व्यापक स्तर पर अहिंसक आन्दोलन चलाया। अन्ततोगत्वा भारत सरकार ने नये राज्य के गठन की माँग को स्वीकार कर लिया। संसद ने असम पुनर्गठन अधिनियम पारित किया जिसके अनुसार असम के अन्दर स्वायत्त पर्वतीय राज्य मेघालय का गठन किया गया। नवीन प्रावधानों के अनुसार मेघालय की पृथक् व्यवस्थापिका और राज्य मन्त्रिमण्डल की व्यवस्था की

गयी। अनेक कारणों से यह व्यवस्था स्वीकार नहीं की गयी। मेघालय व्यवस्थापिका ने एक प्रस्ताव पारित करके केन्द्र से यह मॉग की कि मेघालय को पूर्ण स्तर के राज्य के रूप में मान्यता दी जाये। जनवरी, 1972 ई० में केन्द्र सरकार ने इस मॉग को स्वीकार कर लिया और पूर्ण राज्य के रूप में मेघालय का गठन हुआ।

5.2.4 छत्तीसगढ़ का गठन

छत्तीसगढ़ (चित्र 5.3) के गठन के लिए 'मध्य प्रदेश पुनर्गठन विधेयक 2000' लोकसभा में 31 जुलाई, 2000 को व राज्य सभा मे 9 अगस्त, 2000 को पारित किया गया। इस विधेयक को राष्ट्रपति ने 28 अगस्त, 2000 को अपनी स्वीकृति प्रदान की। इतिहास के पृष्ठों पर काफी समृद्ध और प्राकृतिक सम्पदा से परिपूर्ण क्षेत्र के रूप मे अंकित छत्तीसगढ़ अंचल भारत के मानचित्र पर 1 नवम्बर, 2000 को एक स्वतंत्र राज्य के रूप में अंकित हो गया। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि वाले इस क्षेत्र को प्राचीन काल में 'दक्षिण कोसल' के नाम से जाना जाता था। तत्कालीन दक्षिण कोसल के अन्तर्गत रायपुर व बिलासपुर संभाग के अतिरिक्त उड़ीसा संभाग के सम्बलपुर, कालाहांडी बोलंगीर जिले के कई भाग आते थे। बस्तर सहित उडीसा का कोरापुट क्षेत्र, कांतर, महाकांतर एवं दण्डकारण्य के नाम से जाना जाता था। बस्तर के लिए अनेक स्थानों पर चक्रकोट नाम का भी उल्लेख किया गया है। एक किवदंती के अनुसार जरासंध के शासनकाल में चर्मकार समाज के 36 परिवार किसी कारणवश दक्षिण की ओर जाकर बस गये और वहाँ छत्तीसघर नामक अपने नये राज्य की स्थापना की। यही छत्तीसघर आगे चलकर छत्तीसगढ़ कहलाया। दूसरा मत है कि यह क्षेत्र सम्भवतः यहाँ स्थित 36 गढों के कारण ही छत्तीसगढ़ के नाम से जाना जाता है। इतिहासवेत्ताओं के अनुसार कलचुरी काल में प्रशासन के प्रचलित सामान्य सिद्धान्त के अनुसार 12 गांवों का एक बरहा होता था। सात बरहा का समूह गढ़ कहलाता था। तत्कालीन यह गढ़ ही प्रशासनिक इकाई होते थे। उस समय शिवनाथ नदी के उत्तर में रतनपुर और दक्षिण में रायपुर के कलचुरियों के अधीन 18 गढ़ थे। सम्भवतः इसी कारण इस अंचल का नाम छत्तीसगढ पड़ गया।

छत्तीसगढ़
प्रशासकीय इकाइयाँ
N
उत्तर प्रदेश
झारखण्ड
मध्य प्रदेश
कोरिया
सरगुजा
अम्बिकापुर
जशपुरनगर
कोरबा
रायगढ़
बिलासपुर
कवर्धा
जांजगीर
जांजगीर-चंपा
दुर्ग
रायपुर
महाराष्ट्र
राजनदगाँव
महासमुन्द
धमतरी
कांकेर
बस्तर
जगदलपुर
उड़ीसा
दन्तेवाड़ा
प्रान्तीय सीमा
जनपद सीमा
प्रान्तीय मुख्यालय
जनपद मुख्यालय
आन्ध्र प्रदेश
25 0 25 50
किलोमीटर
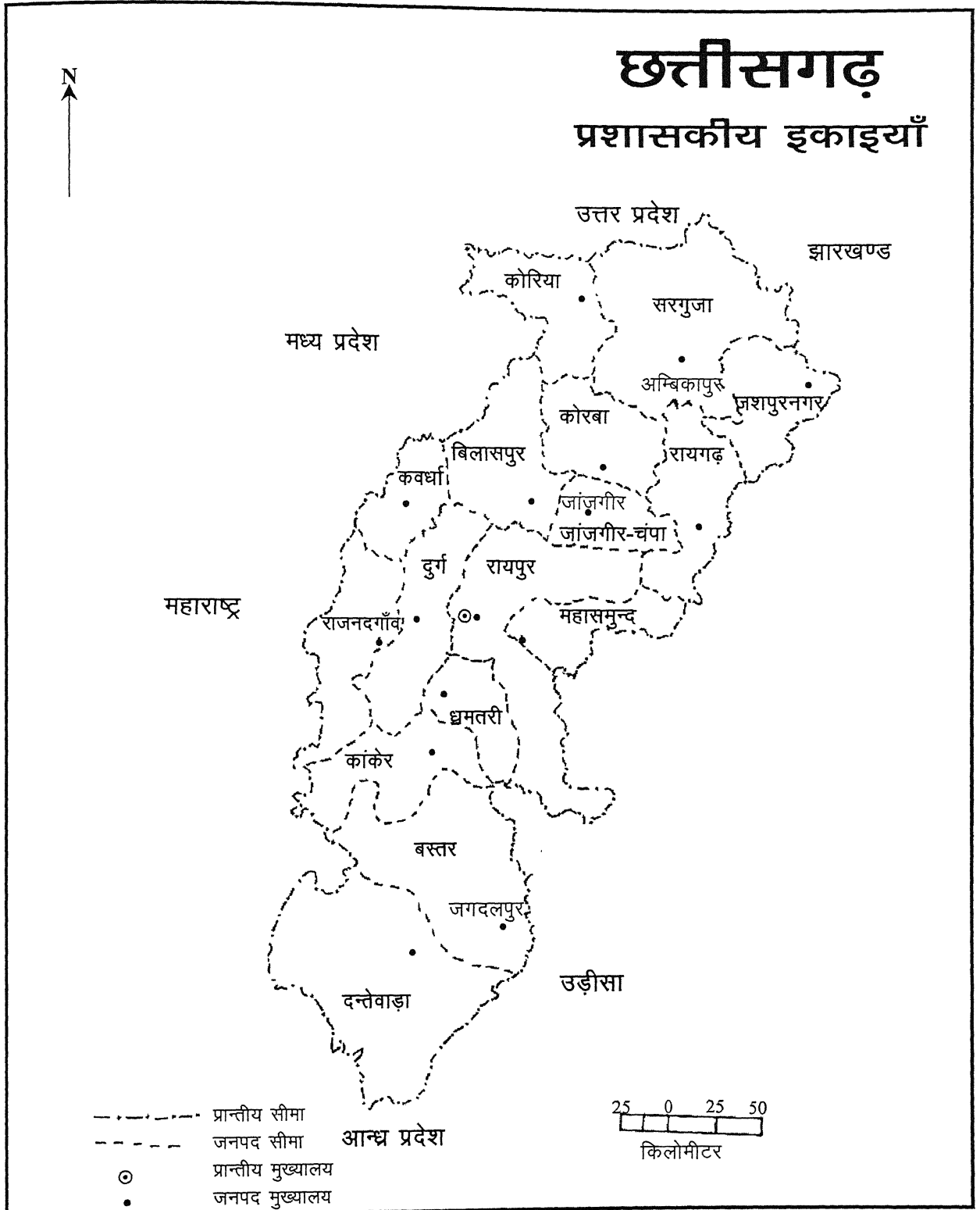
चित्र 5.3

किसी राज्य के पृथक्करण के लिये दीर्घकालीन आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक उपेक्षा एवं शोषण है। जिससे धीरे–धीरे क्षेत्रीय असन्तोष जन्म लेता है। जिसका सामयिक निराकरण न होने पर जनाक्रोश के फलस्वरूप पृथक् राज्य की कामना का उदय होता है। पृथक् छत्तीसगढ़ राज्य की मॉग के मूल कारण हैं– छत्तीसगढ़ अपनी भाषा, बोली, रहन–सहन व विशिष्ट संस्कृति से शेष मध्य प्रदेश से पृथक है। औद्योगिक विकास की प्रगति अपेक्षाकृत शेष मध्य प्रदेश में हुई। यहाँ का विकास तो केवल क्षेत्रीय खनिज सम्पदा के दोहन तक सीमित होकर रह गया। छत्तीसगढ़ से एकत्रित राजस्व की तुलना में छत्तीसगढ़ को विकास हेतु पर्याप्त धन नहीं दिया गया। उदाहरणार्थ, बस्तर जिले से प्रति वर्ष 120 करोड रुपये का राजस्व प्राप्त हुआ, जबकि विकास के लिए बस्तर को सिर्फ 5 करोड़ रुपये ही दिये जाते रहे। मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल से छत्तीसगढ़ की प्रशासनिक दूरी अधिक होने से नीतिगत फैसलों को करने व उनके क्रियान्वयन में भी देरी होती रही। मध्य प्रदेश के गठन के समय से ही छत्तीसगढ के साथ भेदभाव किया गया। उच्च न्यायालय व उच्च न्यायालय की खण्डपीठ, राजस्व मण्डल, परिवहन आयुक्त, आबकारी आयुक्त, महालेखाकार, भूराजस्व, विद्युत मण्डल, राज्य उद्योग निगम, औद्योगिक विकास निगम, राज्य निर्यात निगम, माइनिंग कार्पोरेशन, वित्त निगम आदि सभी प्रमुख कार्यालय शेष मध्य प्रदेश को मिले व छत्तीसगढ़ जैसे विस्तृत क्षेत्र को उपेक्षित रखा गया। छत्तीसगढ़ क्षेत्र की निम्न साक्षरता का लाभ लेकर बाहर के लोगों ने यहाँ के मूलनिवासियों का शोषण किया। क्षेत्र में विशाल रेल मण्डल हैं, लेकिन बंगाल, उडीसा, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश के लोग यहाँ रोजगार प्राप्त करते रहे।

सन् 1861 ई० मे सेन्ट्रल प्रोविसेस में छत्तीसगढ़ को शामिल किये जाने के साथ ही पृथक् छत्तीसगढ़ राज्य की जनभावना का उदय हुआ। सर्वप्रथम सन् 1924 ई० में पहली बार रायपुर जिला कांग्रेस कमेटी द्वारा छत्तीसगढ़ राज्य के गठन की मॉग की गई। इसके बाद जबलपुर के त्रिपुरी सम्मेलन (1939 ई०) में यह मॉग उठी। सन् 1956 ई० में राज्य पुनर्गठन आयोग के समक्ष भी पृथक् छत्तीसगढ राज्य के लिए प्रतिवेदन प्रस्तुत किये गये। राज्य सभा सदस्य डा० खूबचन्द्र बघेल ने सन् 1967 ई० में पृथक् छत्तीसगढ़ की विचारधारा को सर्वप्रथम अभियान व जन आन्दोलन का रूप दिया तथा छत्तीसगढ़ भातृसंघ का गठन किया। सन् 1977 ई० तक शेष मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़ का विकास समान रूप से होता

रहा। अतः पृथक् छत्तीसगढ की मॉग सीमित रही। 9 अक्टूबर, 1997 ई० को रायपुर में पृथक् छत्तीसगढ की मॉग को लेकर पहली बार एक राजनीतिक सम्मेलन हुआ। सन् 1998 ई० मे हुए 12 वीं लोकसभा के चुनाव में भाजपा के घोषणा–पत्र व भाजपा गठबन्धन सरकार के नेशनल एजेंडा में पृथक् छत्तीसगढ़ राज्य के प्रति संकल्प दर्शाया गया। 1 नवम्बर 2000 को छत्तीसगढ भारत का 26 वा राज्य बना।

5.2.5 उत्तरांचल का गठन

प्रकृति की अमूल्य कृति हिमालय की गोद में बसा उत्तरांचल (चित्र 5.4) एक ऐसी देवभूमि है, जो पुरातन काल से देवगण, ऋषि–मुनि आदि का निवास–स्थल एवं तपोभूमि रहा है। यह राजा भरत की जन्मस्थली भी है। इसी स्थल को पुराणों में मानस, केदारखण्ड एवं कूर्माचल नाम दिया गया है। इतिहासवेत्ताओं के अनुसार गढ़वाल एवं कुमाऊँ पहले मौर्य साम्राज्य का अंग था। कुषाण एवं कुणिदों का यहाँ शासन होने के प्रमाण मिले हैं। छठी शताब्दी में उत्तरांचल पर पौख वंश का शासन था। सातवीं शताब्दी में यहॉ कत्यूरी राजवंश का उदय हुआ, जिसने पूरे उत्तरांचल को मिलाकर अपने साम्राज्य की स्थापना की। 12 वीं शताब्दी में कत्यूर वंश के पतन के बाद यह क्षेत्र चंद और पंवार शासकों के अधीन आया। 16 वीं शताब्दी में गढ़वाल में पंवार और कुमाऊँ में चंद राजवंशों का शासन था। सन् 1771 ई० में प्रद्युमन शाह का गढ़वाल और कुमाऊँ सहित सम्पूर्ण उत्तरांचल पर अधिकार हो गया। उत्तरांचल का अन्तिम शासक प्रद्युमन शाह को ही माना जाता है। सन् 1790 ई० में कुमाऊँ नेपाल के अधीन हो गया तथा सन् 1803 ई० तक इसने गढ़वाल पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। सन् 1825 ई० में अंग्रेजों ने नेपाली गोरखाओं को परास्त कर उत्तरांचल को अपने अधीन कर लिया। सन् 1815 ई० में जब उत्तराचल ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधीन हो गया तब हर्षदेव जोशी ने तत्कालीन उत्तरांचल क्षेत्र के लिए विशेष अधिकार और रियायतों की मॉग की। 20 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ब्रिटिश सरकार ने भूमि बन्दोबस्तों के द्वारा सार्वजनिक वन भूमि को अपने अधिकार में लेना प्रारम्भ कर दिया। 20 वीं शताब्दी में ही प्रेस, पत्रकारिता और स्थानीय संगठनों का अभ्युदय हुआ। अंग्रेजों द्वारा प्राकृतिक स्वतंत्रता तथा सम्पदा के पारम्परिक अधिकार में दखल देने से स्थानीय विरोध हुआ। सन् 1816 ई० में अंग्रेजों और गोरखाओं के बीच संगोली सन्धि हुई। सन्धि के अनुसार

उत्तरांचल
प्रशासकीय इकाइयाँ
N
हिमाचल प्रदेश
चीन
नेपाल
उत्तर प्रदेश
उ त्त र का शी
दे ह रा दू न
रुद्र प्रयाग
च मो ली
गोपेश्वर
टिहरी–गढ़वाल
नरेन्द्र नगर
पौडी
पि थौ रा ग ढ़
ह रि द्वा र
पौड़ी – ग ढ वा ल
बागेश्वर
अ ल्मो ड़ा
नै नी ता ल
च म्पा व त
रुद्रपुर
ऊधम सिंह नगर
अन्तर्राष्ट्रीय सीमा
प्रान्तीय सीमा
जनपद सीमा
जनपद मुख्यालय
प्रान्तीय मुख्यालय
50 0 50 100
किलोमीटर
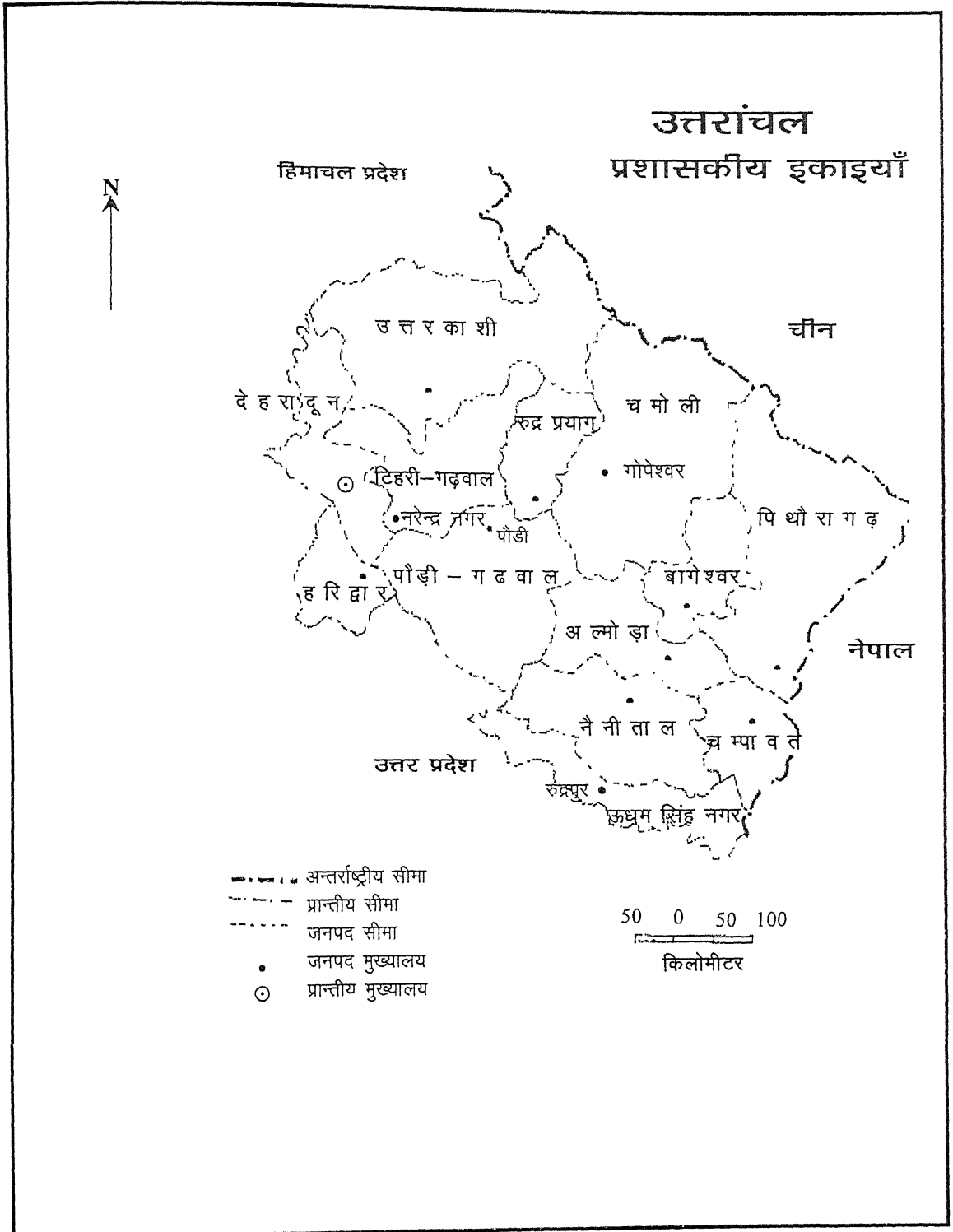
चित्र 5.4

टिहरी रियासत सुदर्शन शाह हो प्रदान की गई और शेष क्षेत्र को नॉन रेगुलेशन प्रान्त बनाया गया, जो उत्तरी–पूर्वी प्रान्त का ही भाग रहा। नॉन रेगुलेशन प्रान्त सन् 1891 ई० में खत्म कर दिया गया। सन् 1901 ई० मे जब संयुक्त प्रान्त आगरा एवं अवध बना तो उत्तरांचल क्षेत्र का विलय उसमें कर दिया गया। सन् 1928 ई० में इस क्षेत्र के लोगों ने लेफि्टनेंट गवर्नर से निवेदन किया कि सन् 1814 ई० से पूर्व कुमाऊँ को स्वतंत्र बताते हुये इसे स्वायत्त बना दिया जाय। मई, 1938 ई० में श्रीनगर (गढवाल) में आयोजित कांग्रेस की विशेष सभा मे उत्तरांचल क्षेत्र को स्वायत्तता देने की बात कही गयी (भारती, 1998, पृ० 801)।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् आगरा एवं अवध प्रान्त उत्तर प्रदेश राज्य कहलाया। सन् 1947 ई० में टिहरी रियासत का विलय भारत में नहीं हुआ। सन् 1948 ई० में जन क्रान्ति के समय सामन्तशाही का तख्ता पलटने के पश्चात इस रियासत का भारत में विलय हुआ। सन् 1950 ई० में जब काग्रेस ने उत्तरांचल राज्य की मॉग की तो उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमत्री व कांग्रेसी नेता पं० गोविन्द वल्लभ पन्त ने यह कहकर विरोध किया कि इसके पास अपने खर्च चलाने के लिए संसाधन नहीं है। पर्वतीय क्षेत्र के निवासियों के विरोध को देखते हुए उत्तर प्रदेश सरकार ने सन् 1974 ई० में पर्वतीय विकास परिषद की स्थापना की। उच्चतम न्यायालय ने सन् 1974 ई० में निर्णय दिया कि आर्थिक, सामाजिक एवं शैक्षिक विकास में यह क्षेत्र पिछड़ा है। इसलिए उत्तरांचल के छात्रों को मेडिकल एवं इन्जीनियरिंग कालेजो में 2 प्रतिशत आरक्षण दिया जाये।

सन् 1980 ई० में उत्तरांचल में वन अधिनियम लागू कर इस क्षेत्र को शून्य प्रदूषण क्षेत्र घोषित किया गया। इस अधिनियम के तहत बिना केन्द्र सरकार की अनुमति से पेड़ काटना और खनिजों की खुदाई का कार्य करना गैर–कानूनी है। परिणामतः पर्वतीय लोग, जो वनों पर आधारित रोजगार पर निर्भर थे, बेरोजगार होकर शहरों में पलायन करते रहे। इसी दौरान उत्तरांचल के पृथक् राज्य की माँग पुनः जोर पकड़ने लगी। प्रदूषण रहित क्षेत्र होने के कारण उद्योग–धन्धों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया जिससे यह क्षेत्र पिछड़ेपन का शिकार होता गया। पृथक् उत्तरांचल राज्य का आन्दोलन करते हुए सैकड़ों लोग घायल व मृत्यु को प्राप्त हुए। उत्तरांचल उत्तर प्रदेश के सर्वांगीण विकास के लिये महत्वपूर्ण योगदान देता रहा है परन्तु यह क्षेत्र सदैव विकास से वंचित रहा है। पृथक् उत्तरांचल राज्य के लिए

कई संगठनों का निर्माण हुआ तथा कई राष्ट्रीय राजनीतिक पार्टियों ने इसका समर्थन भी किया। इसलिए 20 वीं शताब्दी का अन्तिम दशक पृथक् उत्तरांचल राज्य की मॉग को लेकर आन्दोलनमय दशक बना। जनवरी, 1994 ई० में उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री मुलायम सिंह यादव ने पृथक् उत्तरांचल की स्थापना के लिए कौशिक समिति का गठन किया। कौशिक समिति ने अपना प्रतिवेदन 5 मई, 1994 ई० को राज्य सरकार को प्रस्तुत कर दिया।

राज्य सरकार ने कौशिक समिति पर ध्यान नहीं दिया। आन्दोलन चलता रहा। अन्तत: उत्तराचल के गठन के लिए 'उत्तर प्रदेश पुनर्गठन विधेयक 2000' लोक सभा में अगस्त, 2000 ई० को व राज्य सभा में 10 अगस्त, 2000 ई० को पारित किया गया। इस विधेयक को राष्ट्रपति ने अपनी स्वीकृति 28 अगस्त, 2000 ई० को प्रदान की। 9 नवम्बर, 2000 ई० को सुरजीत सिंह बरनाला के राज्यपाल पद की शपथ ग्रहण करने के साथ ही देवभूमि हिमालय की गोद में बसा उत्तरांचल भारतीय मानचित्र पर 13 जिलों के साथ 27वें राज्य के रूप में दर्ज हो गया।

5.2.6 झारखण्ड का गठन

झारखण्ड आन्दोलन देश का ही नहीं, विश्व का सबसे पुराना अहिंसक आन्दोलन माना जाता है जो लगातार जारी रहा। झारखण्ड अर्थात झाड़ों का प्रदेश अविभाजित बिहार का यह पहाड़ी क्षेत्र एक समय घने वनों का क्षेत्र था और इसमें रहने वाले वनवासी कहे जाते थे। एक समय यह झारखण्डी संस्कृति वाला झारखण्ड अत्यन्त विशाल क्षेत्रफल वाला क्षेत्र माना जाता था ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख है कि इसका नाम पुण्ड्र था। इसके चारों ओर काशी, अंग, बंग तथा सुह्म राज्य थे। महाभारत में इसका नाम अर्कखण्ड मिलता है। मुसलमान इतिहासकारों ने इस क्षेत्र को कोकरा एव झारखण्ड कहना शुरू कर दिया।

इस क्षेत्र में नाग सभ्यता का उल्लेख मिलता है, जिसका विस्तार एक समय मोहनजोदडो तथा हड़प्पा तक था। फणिमुकुट राय को झारखण्ड क्षेत्र में नागवंश का आदि पुरूष माना गया। उसी के नाम पर यह क्षेत्र नागपुर तथा बाद में छोटा नागपुर कर दिया गया। चूँकि इसकी राजधानी चुटिया थी, इसलिए इसका नाम चुटिया नागपुर था। चुटिया नागपुर का नाम अंग्रेजी उच्चारण के कारण इसका नाम छोटा नागपुर पड़ा। छोटा नागपुर

राज्य एक समय अत्यन्त शक्तिशाली था। बिम्बसार ने इस राज्य के सहयोग से अग्देश वर्तमान (भागलपुर) के राजा ब्रह्नदत्त का वध कर अंगदेश को मगध साम्राज्य में सम्मिलित किया था। मगध साम्राज्य की सीमा झारखण्ड में दामोदर नदी के उद्‌गम तक मानी जाती थी जो हजारीबाग जिले में स्थित है। रामगढ़ से संथाल परगना का क्षेत्र, जिसे सुह्य कहा जाता था, इस क्षेत्र का अग बना। **वायुपुराण** और **विष्णु पुराण** में इसके निवासियों को मुरूण्ड या मुण्डा कहा गया, जिससे यह मुरूण्ड राज्य कहा गया। महाभारत काल में इस क्षेत्र में पशुओ की अधिकता के कारण इसे पशुभूमि कहा गया। मौर्य काल में इस क्षेत्र को अटावी क्षेत्र कहा गया। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद कलिंग के राजा खारबेल ने इसी क्षेत्र के रास्ते से मगध साम्राज्य (पाटलिपुत्र) पर आक्रमण किया।

मौर्य साम्राज्य से पूर्व भी यह क्षेत्र स्वतन्त्र था तथा मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद 13वीं शताब्दी तक यह राज्य अपनी स्वतंत्रता बरकरार बनाये रखा। 14वीं शताब्दी में पाल वंश के शासकों ने इस राज्य के कुछ भागों को अपने साम्राज्य में मिला लिया। अपनी सांस्कृतिक कट्टरता के कारण यह क्षेत्र मुसलमानों के धर्मान्तरणों तथा राज्य नियन्त्रण के प्रयासों का विरोध करता रहा। सन् 1556 ई० में अकबर के सेनापति इब्राहिम खां ने इस क्षेत्र को मुगल साम्राज्य का अंग बना लिया, परन्तु अकबर की मृत्यु के बाद यह क्षेत्र स्वतन्त्र हो गया। सन् 1616 ई० में यह क्षेत्र जहाँगीर के अधीन आया जो अंग्रेजों के समय तक जारी रहा। लगातार विद्रोह के कारण अंग्रेजों ने इस क्षेत्र को छोटे–छोटे उप राज्यों में बॉटकर शासन किया। रामगढ राज्य को रांची, हजारीबाग, गया व पलामू क्षेत्र में बाँट दिया गया तथा स्थानीय लोगो को सेना में भर्ती किया गया।

अंग्रेजों के समय झारखण्ड बंगाल के अन्तर्गत आता था तथा इस क्षेत्र को साउथ वेस्ट फ्रटियर कहा जाता था। सन् 1912 ई० में बिहार व उड़ीसा बंगाल से अलग कर दिये गये। मुस्लिम लीग ने इस क्षेत्र को आदिवासी स्थान बनाने तथा उसे पाकिस्तान के समान एक स्वतन्त्र देश बनाने का प्रयास किया जो सफल नहीं हो सका क्योंकि भारत किसी भी कीमत पर अपना खनिज क्षेत्र छोड़ने को तैयार नहीं था।

पृथक् झारखण्ड का विचार सर्वप्रथम सन् 1938 ई० में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के पूर्व छात्र जयपाल सिंह को आया जिसने यह विचार एक आदिवासी महासभा में व्यक्त किया था। सन् 1928 ई० के ओलम्पिक खेलों में उसने भारतीय हाकी टीम का प्रतिनिधित्व किया, जिससे लोकप्रियता के कारण जयपाल सिंह को मरांग गोमके के नाम से भी जाना गया। सन् 1950 ई० में जयपाल सिंह के नेतृत्व में आदिवासी महासभा के स्थान पर झारखण्ड पार्टी की स्थापना की गयी तब आन्दोलन की बागडोर इस पार्टी ने संभाली। झारखण्ड पार्टी एक क्षेत्रीय दल के रूप में उभरी तथा चुनावों में भाग लेने लगी। प्रारम्भ में इसकी सदस्यता आदिवासी लोगो तक ही सीमित थी, परन्तु बाद में गैर–आदिवासी लोग भी इसके सदस्य बनने लगे। 20 जून, 1963 ई० को झारखण्ड पार्टी का विलय कांग्रेस में हो गया।

झारखण्ड आन्दोलन सन् 1968 ई० में पुनः लोकप्रिय होने लगा। इसका नेतृत्व बिरसा सेवा दल के हाथों में आ गया। इस दल का नामकरण प्रसिद्ध आदिवासी नेता एवं क्रान्तिकारी बिरसा मुण्डा के नाम पर किया गया। 'अंग्रेजो छोटा नागपुर छोड़ो' का उद्घोष बिरसा मुण्डा ने ही किया था। बिरसा सेवा दल ने आदिवासियों की भूमि एवं अन्य सम्पत्ति हडपने वालों के खिलाफ आवाज उठायी। सरकार ने अध्यादेश जारी किया जिससे आदिवासियों को उनकी हड़पी जमीन मिलनी प्रारम्भ हुई। सशक्त नेतृत्व के अभाव में बिरसा सेवा दल का आन्दोलन समाप्त हो गया। सन् 1973 ई० में झारखण्ड आन्दोलन शिबू शेरेन नामक नेता के नेतृत्व में पुनः प्रारम्भ हो गया। शिबू शेरेन ने आदिवासियों के शोषण, पुलिस अत्याचार अन्याय एवं श्रम दोहन के खिलाफ आवाज उठाई। अनेक सामाजिक कार्यकर्त्ताओं ने भी आदिवासी लोगों के उत्थान के निमित्त कार्य किया। झारखण्ड मुक्ति मोर्चा भी बिखर गया। सन् 1980 ई० में झारखण्ड आन्दोलन उग्र रूप में सामने आया। इसका नेतृत्व रॉची विश्वविद्यालय के उपकुलपति डॉ० रामदयाल मुण्डा ने किया। उन्होंने आदिवासी लोगों के सास्कृतिक उत्थान के लिए सराहनीय कार्य किया। इनकी लोकप्रियता बढ़ने के कारण विरोधी दलों ने इन्हें अमेरिकी गुप्तचर संस्था सी० आई० ए० का एजेन्ट कहा। सन् 1986 ई० में राजीव सरकार के निर्देश से झारखण्ड विषयक समिति का गठन हुआ। उसमें झारखण्ड क्षेत्र स्वशासी परिषद के गठन की अनुशंसा की गयी। 1990 के दशक आते–आते छोटा नागपुर संथाल परगना के झारखण्ड क्षेत्र को कई मायने में स्वयात्तता देने और पूरे क्षेत्र को पृथक्

इकाई के रूप में देखने का सिलसिला शुरू हो गया। 9 अगस्त, 1995 को राँची में झारखण्ड क्षेत्र स्वशासी परिषद्–जैक का गठन हुआ। इस परिषद में बिहार के 18 जिलों को सम्मिलित किया गया। जैक के गठन के बाद सात बार इसका कार्यकाल बढ़ाया गया। राज्य सरकार ने 17 सितम्बर, 1998 ई० को झारखण्ड क्षेत्र स्वायत्त परिषद्–जैक को भंग कर दिया। इस बीच केन्द्र में भाजपा के नेतृत्व वाली सरकार आ गई और उसने अपने चुनाव पूर्व किये गये वायदे को राष्ट्रीय एजेंडे में रखवा कर पृथक् राज्य के गठन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। झारखण्ड राज्य के गठन के लिए 'बिहार पुनर्गठन विधेयक–2000' को लोक सभा ने 2 अगस्त, 2000 को व राज्य सभा ने 11 अगस्त, 2000 को पारित किया। राष्ट्रपति ने इसे 28 अगस्त, 2000 को अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। 15 नवम्बर, 2000 को देश का 28वाँ राज्य झारखण्ड अस्तित्व में आ गया (चित्र 5.5)।

5.2.7 विदर्भ राज्य की माँग

राज्य पुनर्गठन आयोग ने यह सिफारिश की थी कि मध्य प्रदेश के कुछ क्षेत्रों को अलग करके एक पृथक विदर्भ राज्य का गठन किया जा सकता है। सरकार ने अपनी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए राज्य पुनर्गठन आयोग की इस माँग को स्वीकार नहीं किया था। परन्तु आयोग द्वारा सिफारिश को आधार बनाकर विदर्भ राज्य के गठन पर जोर दिया जाने लगा। प्रारम्भ में केन्द्रीय सरकार ने इस माँग को स्पष्ट रूप में अस्वीकार कर दिया, परन्तु आन्ध्र प्रदेश, गुजरात और महाराष्ट्र राज्यों के गठन के उपरान्त विदर्भ राज्य के गठन की माँग को अस्वीकार कर दिये जाने का कोई तार्किक आधार और सैद्धान्तिक औचित्य नहीं था। विदर्भ राज्य के गठन की माँग को लेकर नाग–विदर्भ आन्दोलन समिति ने अपनी माँग को हिंसक रूप में व्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया। इसके प्रत्युत्तर में सरकार ने अधिक प्रतिनिधित्व देने तथा विकास कार्यक्रमों के लिये अधिक धन देने की पेशकश की। कुछ समय तक आन्दोलन चलता रहा परन्तु सरकार ने इस विषय में दृढ़ता से काम लिया। आन्दोलन को प्राप्त जन समर्थन में कमी आने लगी शनैः शनैः विदर्भ राज्य के गठन की माँग का स्वर धीमा होता गया।

N
झारखण्ड
प्रशासकीय इकाइयाँ
बि हा र
साहिबगंज
गोड्डा
पाकुड़
दुमका
देवघर
कोडरमा
गिरिडीह
गढ़वा
पलामू
चतरा
हजारीबाग
जामताड़ा
धनबाद
बोकारो
लातेहार
लोहरदगा
प श्चि म
बं गा ल
गुमला
राँची
सरायकेला
छ त्ती स ग ढ़
पूर्वी सिंहभूमि
सिमडेगा
पश्चिमी सिंहभूमि
20 0 20 40 60
किलोमीटर
प्रान्तीय सीमा
जनपद सीमा
प्रान्तीय मुख्यालय
जनपद मुख्यालय
उ ड़ी सा
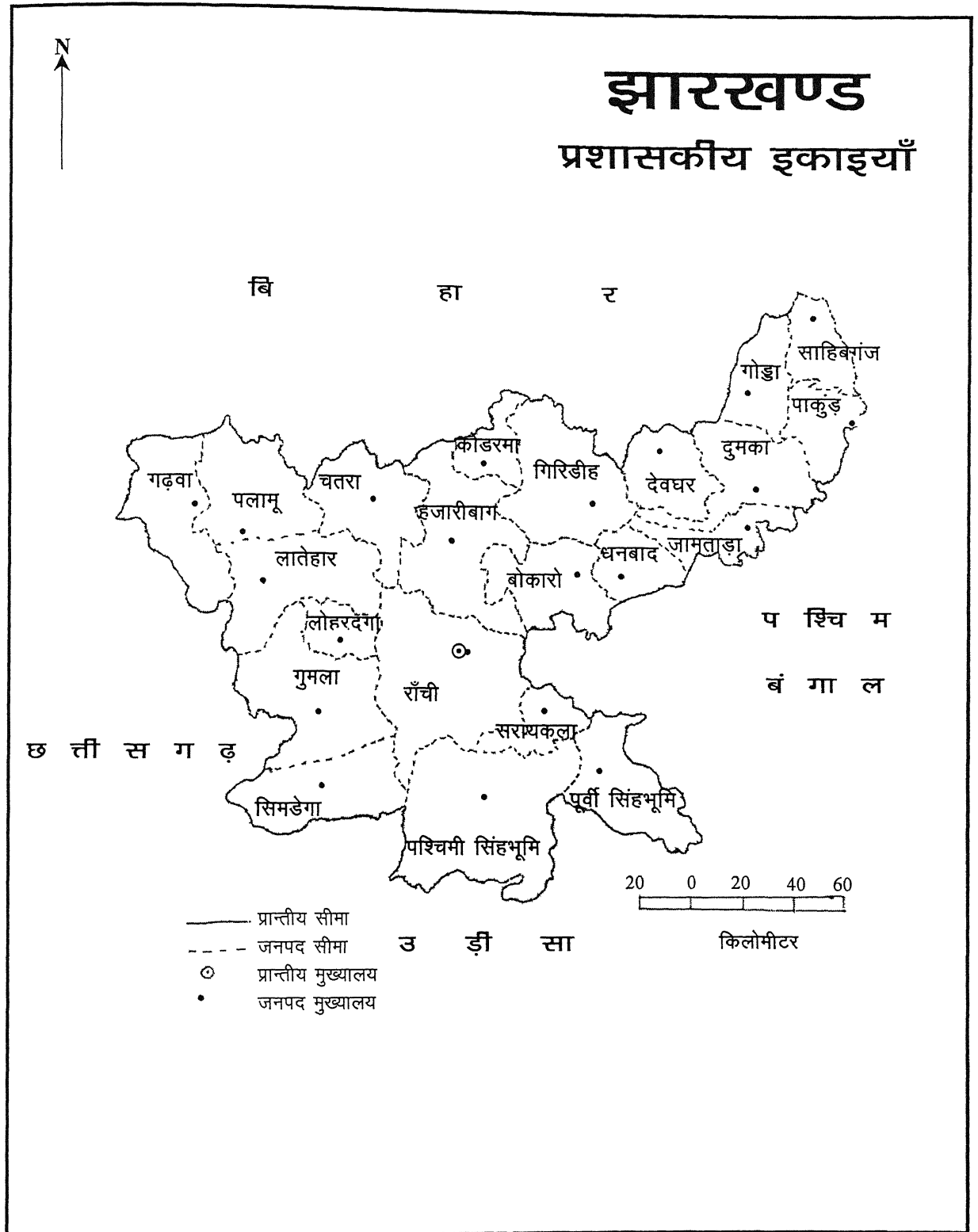
चित्र 5.5

5.2.8 तेलंगाना राज्य की माँग

तेलंगाना क्षेत्र के लोगों ने तेलंगाना राज्य के गठन की माँग प्रस्तुत करते हुए यह तर्क दिया था कि आन्ध्र प्रदेश के गठन के समय आन्ध्र प्रदेश के नेताओं ने जो शर्तें स्वीकार की थीं, उनका पालन नहीं किया गया। आन्ध्र प्रदेश के नेताओं द्वारा ये शर्तें स्वीकार की गयीं थीं– प्रथम राज्य की विधान सभा में तेलंगाना के सदस्यों की एक क्षेत्रीय समिति होगी, जो तेलंगाना के विषय में निर्णय लिया करेगी, द्वितीय, तेलंगाना से प्राप्त राजस्व में से अधिकांश धन तेलंगाना के विकास में लगाया जायेगा, तृतीय तेलंगाना में 15 वर्ष से अधिक समय तक निवास करने वालों को इस क्षेत्र के पदों पर नियुक्त किया जायेगा। चतुर्थ, मुख्यमन्त्री अथवा उप मुख्यमन्त्री में से कोई एक तेलंगाना क्षेत्र का प्रतिनिधि होगा। इन प्रावधानों को पूरा न किये जाने के कारण तेलंगाना क्षेत्र की जनता ने तेलंगाना राज्य के गठन के लिये आन्दोलन करना आरम्भ कर दिया। यह आन्दोलन जब तेज तथा हिंसक हुआ तो आन्ध्र प्रदेश के मुख्यमन्त्री ने पूर्व प्रावधानों को लागू करने की इच्छा व्यक्त की। फलस्वरूप तेलंगाना क्षेत्र के निवासियों के लिये सुरक्षित पदों पर आन्ध्र प्रदेश के अधिकारियों को हटा दिया गया और तेलंगाना क्षेत्र के लोगों की नियुक्ति की जाने लगी। इस कारण आन्दोलन वापस ले लिया गया। इस निर्णय के विरूद्ध आन्ध्र प्रदेश के छात्रों ने प्रति–आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। फलतः तेलंगाना में पुनः आन्दोलन शुरू हो गया। आन्दोलन और प्रति आन्दोलन की तीव्रता को देखते हुए सरकार ने सैनिक सहायता से विधि और व्यवस्था बनाये रखने का प्रयास किया। कई महीनों तक आगजनी, लूट, गोलीकाण्ड और धन–जन की हानि से राज्य की स्थिति बिगड़ने लगी। सन् 1970 ई० में लोक सभा चुनाव के समय प्रधानमन्त्री ने सन् 1977 ई० के उपरान्त तेलंगाना राज्य के गठन का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। इसको अस्वीकार कर दिया गया और क्षेत्रीय कार्यक्रम को आधार बना कर तेलंगाना नेताओं ने चुनाव लड़ा। चुनाव के बाद प्रधानमन्त्री तथा तेलंगाना प्रजा समिति के नेता डॉ० चेन्ना रेड्डी के बीच वार्ता के उपरान्त समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार तेलंगाना प्रजा समिति का कांग्रेस (एन) में विलय हो गया। तेलंगाना की क्षेत्रीय समिति को वैधानिक मान्यता दी गयी और तेलंगाना क्षेत्र के लिये पृथक् पंचवर्षीय योजना का प्रावधान किया गया। यह भी तय किया गया कि मुख्यमन्त्री पद पर तेलंगाना क्षेत्र का व्यक्ति ही आसीन होगा। इन व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में

प्रधानमन्त्री को यह अधिकार दिया गया कि वे तीन वर्ष के उपरान्त स्थिति की समीक्षा करके यह बतायें कि पृथक् तेलंगाना राज्य का गठन किया जाये अथवा नहीं। तेलंगाना प्रजा समिति के कुछ नेताओं ने यह समझौता स्वीकार नहीं किया और वे तुरन्त ही पृथक् राज्य के गठन की माँग करने लगे।

तेलंगाना क्षेत्र में सन् 1918 ई० में मुल्की नियम लागू था, जिसके अनुसार छोटी नौकरियों और स्कूल–कालेजों में दाखिले के सम्बन्ध में स्थानीय जनता को बाहर से आये लोगों की अपेक्षा प्राथमिकता दी जाती थी। तेलंगाना के आन्ध्र प्रदेश में मिल जाने के बावजूद मुल्की नियम लागू रहा, जिससे आन्ध्र प्रदेश के अन्य निवासियों में असन्तोष था। सन् 1972 ई० में जब यह मामला उच्चतम न्यायालय के समक्ष पहुँचा तो उसने यह निर्णय दिया कि वे नियम बहुत अर्से से चले आ रहे हैं और उसमें संसद ही कोई परिवर्तन कर सकती है। इसी बीच तेलंगाना में पृथक्तावादी आन्दोलन शुरू हो गया, जिसे मुस्लिम समुदाय के एक बड़े वर्ग का समर्थन प्राप्त था। यह वह वर्ग था जो भूतपूर्व हैदराबाद रियासत में विशेष अधिकारों का उपयोग कर रहा था। सन् 1967 ई० में कार्यवाही प्रारम्भ की गई और सन् 1973 ई० में 5 सूत्रीय फार्मूला घोषित किया गया– प्रथम, मुल्की नियमों को क्रमबद्ध ढ़ंग से सन् 1980 ई० तक हटा लिया जायेगा, द्वितीय, तेलंगाना क्षेत्रीय समिति को समाप्त कर दिया जाये, तृतीय, अराजपत्रित पदों पर सीधी भर्ती के लिए स्थानीय उम्मीदवारों को प्राथमिकता दी जायेगी, चतुर्थ पिछड़े क्षेत्रों की समस्याओं से निपटने के लिए राज्य स्तर पर एक बोर्ड की स्थापना की जायेगी, पंचम, हैदराबाद में एक नये केन्द्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना की जायेगी। सन् 1974 ई० में 33वां संवैधानिक संशोधन किया गया जिसने इस समस्या को सुलझाया और तेलंगाना आन्दोलन की समाप्ति का कारण बना (श्रीवास्तव, 1996, पृ० 343)।

5.2.9 गोरखालैण्ड की माँग

पर्वतीय नेताओं द्वारा चलाये गये इस आन्दोलन का इतिहास सन् 1907 ई० से शुरू होता है, जब अंग्रेज सरकार को दार्जिलिंग जिले के 4 उप–विभागों–सिलीगुड़ी, कुर्सियांग, कलिम्पोंग और दार्जिलिंग को मिलाकर एक नयी प्रशासकीय इकाई बनाने के लिए ज्ञापन दिया गया। इसका उद्देश्य अल्पसंख्कों एवं पिछड़े वर्ग के पर्वतीय लोगों का सामाजिक,

क्षेत्रीय परिषद् में भेजा। इस क्षेत्र में रहने वाले नेपालियों की राजनीतिक माँग पहले 'उत्तराखण्ड' और उसके पश्चात् गोरखास्थान के रूप में सामने आयी जिसे कम्युनिस्ट पार्टी का समर्थन प्राप्त था (सिंह, 1999, पृ० 363)।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् दार्जिलिंग जिले को असम का हिस्सा बनाने की मॉग की गई। सन् 1955 ई० में राज्यों के पुनर्गठन के समय दार्जिलिंग के लिए एक अलग प्रशासन बनाने की माँग उठी। सन् 1973 ई० में पश्चिम बंगाल में सिद्धार्थ शंकर राय के नेतृत्व में कांग्रेसी सरकार के समय गोरखा लीग ने एक नयी शक्ति स्थापित करने की गुप्त योजना बनायी। परिणामस्वरूप सन् 1974–75 ई० में दार्जिलिंग के विकास हेतु एक पर्वतीय विकास सलाहकार समिति का गठन किया गया। अप्रैल, 1980 ई० में सुभाष घीसिंग के नेतृत्व में गोरखा राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा का गठन हुआ। मार्च, 1986 ई० में पृथक् गोरखालैण्ड की माँग का आन्दोलन काफी हिंसक हो गया क्योंकि उनके सामने पंजाब, असम व मिजोरम में हुए इसी प्रकार के समझौतों के उदाहरण थे। गोरखा राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा ने मार्च, 1986 ई० में अपना 11 सूत्रीय माँग पत्र प्रस्तुत किया। 25 जुलाई, 1986 ई० को गोरखा समस्या के समाधान के लिए सुभाष घीसिंग, पश्चिम बंगाल सरकार तथा केन्द्र सरकार के मध्य दार्जिलिंग पर्वतीय परिषद के गठन हेतु सहमति हो गयी। लेकिन अक्टूबर, 1987 ई० में सुभाष घीसिंग ने कहा कि इसका नाम गोरखालैण्ड परिषद होना चाहिए। साथ ही उन्होंने तत्कालीन गृहमन्त्री बूटा सिंह को यह भी सुझाव दिया कि परिषद के सीमायी अधिकार क्षेत्र में कुर्सियांग, कलिम्पोंग और दार्जिलिंग के क्षेत्र भी शामिल होंगे, के स्थान पर परिषद के सीमायी अधिकार क्षेत्र में दार्जिलिंग का सिलीगुड़ी और जलपाईगुड़ी का दोआब उप–क्षेत्र भी शामिल किया जाये। परन्तु पश्चिम बंगाल के तत्कालीन मुख्यमन्त्री ज्योति बसु ने इसे अस्वीकार कर दिया (सिंह, 1999, पृ० 364)।

सितम्बर, 1988 ई० में पश्चिम बंगाल विधान सभा में दार्जिलिंग पर्वतीय परिषद के गठन का प्रावधान किया गया। सितम्बर, 1988 ई० में ही पश्चिम बंगाल विधान सभा में दार्जिलिंग गोरखा पर्वतीय परिषद विधेयक मंजूर हो गया। दिसम्बर, 1988 ई० में सम्पन्न परिषद चुनावों में गोरखा राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा ने भारी बहुमत से विजय हासिल की तथा परिषद ने कार्य प्रारम्भ कर दिया। वर्षों के संघर्ष के बाद पश्चिम बंगाल के पर्वतीय क्षेत्र

कुर्सियांग और दार्जिलिंग के क्षेत्र को जब गोरखा क्षेत्रीय विकास परिषद बनाकर सुभाष घीसिंग को शान्त किया गया, तभी यह आशंका व्यक्त की गयी थी कि यह समस्या बहुत दिन तक सुलझी नहीं रहेगी, बल्कि अपने एक नये अन्दाज में सामने आयेगी। सुभाष घीसिंग ने एक नया नारा दिया कि दार्जिलिंग का अवैध तरीके से भारत में विलय हुआ है। स्वायत्त विकास परिषद के गठन से सुभाष घीसिंग का राजनीतिक कद चाहे जितना बढ़ गया हो, लेकिन वहाँ के निवासियों के जीवन स्तर में न तो कोई सुधार हुआ है और न ही दार्जिलिंग क्षेत्र का विकास हुआ है। हालांकि इस दार्जिलिंग गोरखा पर्वतीय परिषद के गठन से पश्चिम बंगाल के इस पर्वतीय क्षेत्र की शान्ति लौट आयी, लेकिन यह समस्या का स्थायी समाधान न होकर तात्कालिक समाधान है। दिसम्बर, 2000 ई० को सुभाष घीसिंग ने कहा कि यदि छत्तीसगढ़, उत्तरांचल तथा झारखण्ड राज्य का गठन किया जा सकता है तो पृथक गोरखालैण्ड को भी राज्य बनाना ही होगा। पश्चिम बंगाल में सत्ता पक्ष तथा विपक्ष सभी ने सुभाष घीसिंग की पृथक् गोरखालैण्ड राज्य की माँग का तीव्र विरोध करते हुए स्पष्ट कर दिया कि उन्हें पश्चिम बंगाल के एक हिस्से को अलग करना कदापि मंजूर नहीं है (सिंह, 1999, पृ० 365)।

5.2.10 बोडोलैण्ड की माँग

सन् 1907 ई० में कालीचरण ब्रह्मचारी के नेतृत्व में ब्रह्मा आन्दोलन अस्तित्व में आया। ब्रह्मा आन्दोलन ने बोडो जनजातीय लोगों में शिक्षा, समाज सुधार व बचत के प्रति जागरूकता उत्पन्न की। इसके प्रभाव से वे लोग बोडो जनजातीय भाषा के संरक्षण तथा नौकरियों में आरक्षण की माँग करने लगे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् बोडो साहित्य सभा की स्थापना की गयी, जिसने बोडो भाषा को अपनी शिक्षा का माध्यम बनाने की आवाज बुलन्द की जिसे सरकार द्वारा स्वीकार कर लिया गया। फिर बोड़ो भाषा की रोमन लिपि को मान्यता दिलाने सम्बन्धी माँग भी सरकार ने स्वीकार कर ली। बोडोलैण्ड की माँग को 20वीं शताब्दी के साठ के दशक के भाषायी आन्दोलन में ढूँढा जा सकता है, जब तत्कालीन बृहत्तर असम में असमी भाषा को एकमात्र सरकारी भाषा घोषित किये जाने का प्रस्ताव किया गया। बोडो, कारबी आदिवासियों एवं बंगालियों ने इसके विरुद्ध आन्दोलन चलाया जिसके कारण असमी राजभाषा नहीं बन पायी (सिंह, 1999, पृ० 368)।

बोडो आन्दोलन मुख्य रूप से असम की जनजातियों का आन्दोलन है। अतः इस आन्दोलन की जड़े जनजातीय क्षेत्रों की स्वायत्तता की मॉग से जुड़ी हुईं हैं। सन् 1967 ई० में असम मैदानी जनजाति परिषद ने असम के जनजातीय क्षेत्रों की स्वायत्तता की मॉग करते हुए भूटान और अरूणाचल प्रदेश के तराई वाले क्षेत्र को मिलाकर उदयांचल राज्य की माँग की थी किन्तु अब आन्दोलन उदयांचल नहीं बोडो हदोत अर्थात् बोडो लैण्ड है।

बोडो नेताओं ने बोडोलैण्ड का जो मानचित्र प्रस्तुत किया है उसमे मात्र 25,478.1 वर्ग किमी० का क्षेत्र है। एक स्वायत्तशासी राज्य के रूप में एनसी हिल्स एवं कर्बी एंगलांग के लिए 15, 222 वर्ग किमी० और भूमि की माँग की गयी। इस प्रकार बोडोलैण्ड का कुल क्षेत्रफल असम के कुल क्षेत्रफल (78,523 वर्ग किमी०) के आधे से अधिक है। इसमें कोकराझार, धुब्री, ग्वालपाड़ा, बारपेटा, नलबारी, कामरूप, दरांग, शान्तिपुर, लखीमपुर, मंजुली और सदिया के क्षेत्र सम्मिलित हो जाते हैं।

बोडोलैण्ड के समर्थन में बोडो नेता पूर्वोत्तर भारत के पाँच राज्यों– मेघालय, मणिपुर, मिजोराम, नागालैण्ड और त्रिपुरा के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इन राज्यों का क्षेत्रफल प्रस्तावित बोडो राज्य के क्षेत्रफल से भी कम है। उनका तर्क है जब ये राज्य बन सकते हैं तो इनसे अधिक क्षेत्रफल वाला बोडो राज्य भी अलग क्यों नहीं हो सकता?

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात बहुत अधिक संख्या में अप्रवासी आने लगे और अचल सम्पत्तियाँ खरीदनी शुरू कर दी। अपने पड़ोसी राज्यों मेघालय, मिजोरम व नागालैण्ड के जनजातियों की प्रगति देखकर बोडो जनजातियों ने भी अपनी संस्कृति की रक्षा हेतु राजनीतिक सत्ता प्राप्ति के लिये आन्दोलन शुरू कर दिये। सन् 1987 ई० में पुनः बोडोलैण्ड की माँग पर आन्दोलन शुरू हो गया। इसके पश्चात् असम गण परिषद तथा अखिल असम छात्र यूनियन द्वारा विदेशी घुसपैठियों के विरुद्ध किये जाने वाले आन्दोलन में बोडो समुदाय ने इनका साथ दिया, परन्तु इस सहयोग से बोडो समुदाय को निराशा मिली, तत्पश्चात् 2 मार्च, 1987 ई० का बोडो पीपुल्स एक्शन कमेटी तथा अखिल बोडो छात्र परिषद ने भारतीय संविधान में एक पृथक् राज्य का गठन करके अपनी समस्याओं के समाधान के उद्देश्य से बोडो आन्दोलन शुरू किया। 28 अगस्त, 1987 ई० को एक त्रिपक्षीय वार्ता केन्द्र सरकार,

राज्य सरकार एवं बोडो प्रतिनिधियों के मध्य हुई। परन्तु यह वार्ता असफल रही (श्रीवास्तव, 1996, पृ० 341)।

प्रारम्भ में बोडो आन्दोलन ब्रह्मपुत्र के उत्तरी तट पर यूनियन के गढ़ समझे जाने वाले दरांग जिले के ऊदलगुडी उपखण्ड तक ही सीमित रहा। सन् 1989 ई० में आन्दोलन ने हिंसक रूप धारण कर लिया। बोडो आन्दोलनकारियों की माँगों में प्रथम, ब्रह्मपुत्र के उत्तरी तटीय श्रीरामपुर से सादिया तक के क्षेत्र को बोडोलैण्ड नामक पृथक् केन्द्र शासित क्षेत्र बनाना व द्वितीय, संविधान की अनुसूची के अन्तर्गत ब्रह्मपुत्र के दक्षिणी तट पर मैदानी जनजातीय क्षेत्रों के लिये जिला परिषद की स्थापना प्रमुख थी। केन्द्र सरकार द्वारा देश के विखण्डन और पृथक् राज्य की माँग से स्पष्ट इनकार के कारण आन्दोलनकारियों से बातचीत के विभिन्न दौर असफल रहे। अक्टूबर, 1989 ई० में केन्द्र राज्य व बोडो छात्र संघ के अध्यक्ष के बीच त्रिपक्षीय वार्ता प्रारम्भ हुई। 13 दिसम्बर, 1990 ई० को आठवें दौर की बातचीत के समय ब्रह्मपुत्र के उत्तर में बोडो और अन्य आदिवासी क्षेत्रों का निर्धारण करने व उनके विधायी प्रशासनिक एवं तकनीकी अधिकारों और स्वायत्तता के सम्बन्ध में सिफारिश हेतु तीन सदस्यों की विशेषज्ञ समिति के गठन पर सहमति हुई। बोडो आन्दोलनकारियों, केन्द्र सरकार एवं असम सरकार के मध्य 20 फरवरी, 1993 ई० को हुए एक त्रिपक्षीय समझौते के साथ ही पिछले एक दशक से चला आ रहा हिंसक आन्दोलन अस्थाई रूप से रुक गया है।

यद्यपि इस समझौते के बाद हिंसक आन्दोलन की समाप्ति की आशा की जा रही थी, लेकिन हाल में आतंकवादी गतिविधियों में निरन्तर बढ़ोत्तरी से यह भ्रम टूटता दिखायी पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि बोडो आन्दोलनकारियों, केन्द्र सरकार एवं असम सरकार के मध्य हुआ त्रिपक्षीय बोडो समझौता बोडो लोगों और असम घाटी में शान्ति स्थापित करने में सफल नहीं हो सका है।

5.2.11 बुन्देलखण्ड की माँग

बुन्देलखण्ड (चित्र 5.6) की माँग विगत पाँच दशकों से की जा रही है। इस माँग के पीछे बुन्देली भाषा को कसौटी बनाया जा रहा है। पृथक् बुन्देलखण्ड राज्य के वर्तमान समर्थकों में पत्रकार एवं बुन्देलखण्ड राज्य संघर्ष समिति के अध्यक्ष महेन्द्र कुमार मानव प्रमुख
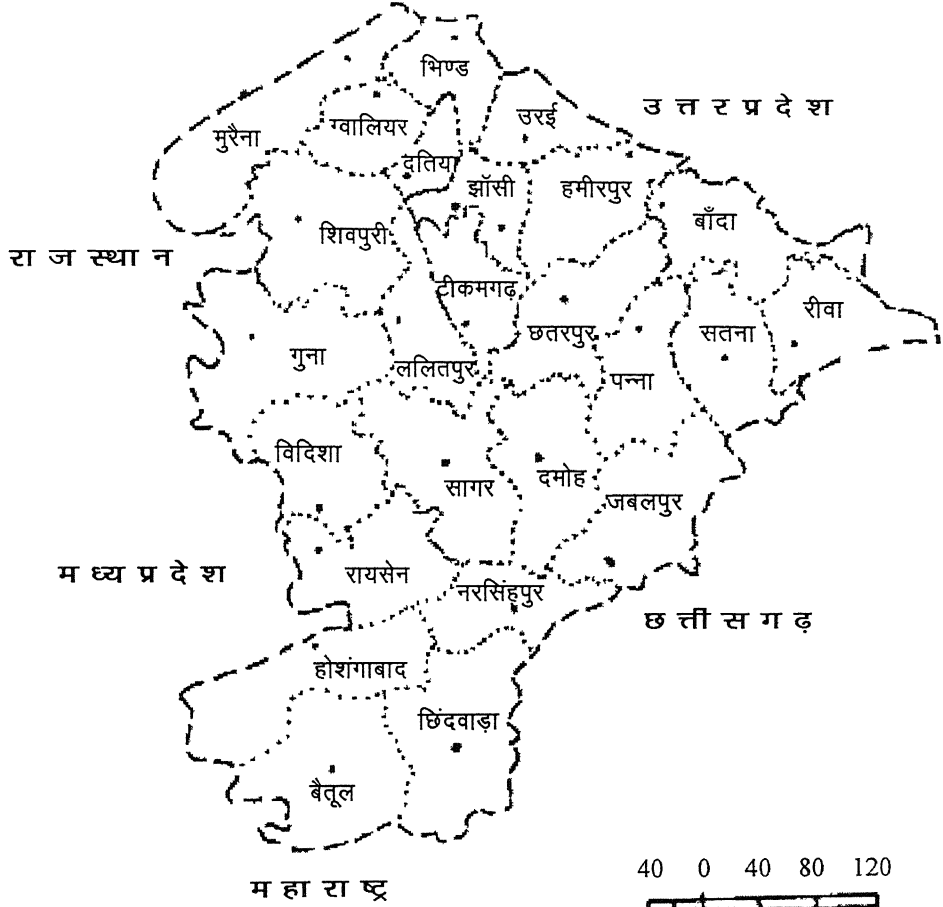
बुन्देलखण्ड
प्रशासकीय इकाइयाँ
N
भिण्ड
ग्वालियर
मुरैना
उरई
उत्तर प्रदेश
दतिया
झाँसी
हमीरपुर
बाँदा
शिवपुरी
राजस्थान
टीकमगढ़
रीवा
छतरपुर
सतना
गुना
ललितपुर
पन्ना
विदिशा
सागर
दमोह
जबलपुर
मध्य प्रदेश
रायसेन
नरसिंहपुर
छत्तीसगढ़
होशंगाबाद
छिंदवाड़ा
बैतूल
40 0 40 80 120
महाराष्ट्र
किलोमीटर
प्रान्तीय सीमा
जनपद सीमा
जनपद मुख्यालय

चित्र 5.6

हैं। पृथक् बुन्देलखण्ड की माँग सर्वप्रथम टीकमगढ़ के पूर्व नरेश वीरेन्द्र सिंह जूदेव एवं पंडित बनारसी दास चतुर्वेदी ने पाँच दशक पूर्व चलाई थी। सन् 1949–50 ई० में तत्कालीन पन्ना महाराज एवं बाद में रविशंकर शुक्ल तथा द्वारका प्रसाद मिश्र ने भी इस माँग को उठाया। कुछ समय बाद महाराष्ट्र राज्य निर्माण के अनुरूप ही बुन्देलखण्ड समर्थकों ने भी संघर्ष समिति गठित की। बुन्देलखण्ड समर्थकों के अनुसार इस क्षेत्र की ऐतिहासिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक एवं भाषाई संस्कृति एक है लेकिन वह दो राज्यों में बँटी हुई है तथा इससे क्षेत्र की विकास योजनाओं में समन्वय नहीं हो पाता है। दोनों राज्यों के हित इन समस्याओं के समाधान खोजने में बाधक बने हुए हैं। बुन्देलखण्ड राज्य में मध्य प्रदेश के 23 जिले यथा सागर, दमोह, पन्ना, छतरपुर, टीकमगढ़, सतना, जबलपुर, रीवा, नरसिंहपुर, छिंदवाड़ा, सिवानी, माण्डला, बालाघाट, होशंगाबाद, रायसेन, विदिशा, बैतूल, ग्वालियर, शिवपुरी, गुना, दतिया, भिण्ड तथा मुरैना, और उत्तर प्रदेश के 5 जिले यथा झांसी, जालौन, बांदा, हमीरपुर एवं ललितपुर सम्मिलित करने की माँग की जाती रही है।

5.2.12 विभिन्न अन्य राज्यों के लिए माँगें

उपरोक्त राज्यों के अतिरिक्त क्षेत्रीय दलों तथा विविध राज्यों के असन्तुष्ट लोगों द्वारा पृथक् राज्य के गठन की माँगों के अलावा कुछ अन्य क्षेत्रों ने भी ऐसी ही माँगे प्रस्तुत की हैं। इस प्रकरण में प्रमुखतः वे रियासतें थीं जो किसी समय स्थानीय राजाओं के अधिकार में थी। कर्नाटक में पृथक मैसूर राज्य की स्थापना की माँग की गयी। कर्नाटक के कोडागू क्षेत्र के कोडागू राज्य मुक्ति मोर्चा ने कुर्ग क्षेत्र में एक पृथक कोडागू राज्य की स्थापना की माँग की है। मोर्चे के अनुसार देश के कुल काफी उत्पादन के 40 प्रतिशत भाग का उत्पादन करने वाले कोडागू क्षेत्र की कर्नाटक सरकार ने निरन्तर उपेक्षा की है। उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान के कुछ क्षेत्रों को मिलाकर बृज राज्य की माँग की जा रही है। इसी प्रकार रूहेलखण्ड, भोजपुर, हरित प्रदेश आदि राज्यों के गठन की माँग प्रायः सुनायी देती है। मध्य प्रदेश में मालवांचल राज्य की माँग की जा रही है। जिसमें इन्दौर, धार देवास, उज्जैन, रतलाम, मंदसौर, झाबुआ, खण्डवा, खरगोन, रायगढ़ तथा भोपाल सम्मिलित हैं। असम में हाल ही में गठित नये राजनीतिक दल बरक गण परिषद ने कछार, करीमगंज तथा हैलाकांडी को शामिल करते हुए एक पृथक बरकलैण्ड की स्थापना की माँग की है। बरक गण परिषद् के

अध्यक्ष रति रंजन राय के अनुसार असम की सरकारों ने निरन्तर बरक घाटी के विकास की उपेक्षा की है जिससे यह क्षेत्र सामाजिक–आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ गया है।

5.3 अन्तर्राज्यीय विवाद

प्रादेशिकवाद की अन्य अभिव्यक्ति अन्तर्राज्यीय विवादों के रूप में भी हुई है। सीमा निर्धारण, नदी–जल बँटवारे तथा अतिरिक्त भूमि क्षेत्रों की माँग आदि से सम्बन्धित विवादों ने राज्यों के बीच कटुता को बढ़ाया है। इस विषय में कतिपय विवाद इस प्रकार हैं–

5.3.1 चण्डीगढ़ का प्रश्न

पंजाब के विभाजन के फलस्वरूप जिन अन्य विवादों का जन्म हुआ, उनमें चण्डीगढ़ का विवाद विशेष महत्वपूर्ण है। इसके लिए पंजाब तथा हरियाणा परस्पर प्रतिद्विन्दिता में संलग्न हैं। दोनों ही राज्यों में इसको अधिकार में लेने के लिए अनेक आन्दोलन हुए हैं। इस विवाद को हल करने के लिए केन्द्र सरकार ने यह निर्णय लिया था कि जिस राज्य को यह नगर दिया जायेगा, उसे इसके बदले में अपने कुछ निर्धारित भू–भाग दूसरे राज्य को देना होगा। वस्तुतः केन्द्र सरकार ने सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए यह निर्णय किया कि चण्डीगढ़ पंजाब को दिया जायेगा और इसके बदले वह फाजिल्का तहसील के 114 हिन्दी भाषी गाँव तथा फाजिल्का, अबोहर नगर हरियाणा को देगा। यह भी तय किय गया कि हरियाणा को अपनी राजधानी चण्डीगढ़ में 5 वर्ष तक रखने का अधिकार होगा। परन्तु इन प्रस्तावों को दोनों राज्यों ने नहीं माना। कई आयोगों का गठन हुआ और निश्चित तिथि को चण्डीगढ़ को पंजाब को दिये जाने की घोषणा भी हुई, परन्तु स्थिति यथावत बनी है।

5.3.2 मैसूर–महाराष्ट्र सीमा विवाद

मैसूर के बीजापुर, बेलगाँव, उत्तरी कनारा तथा धारवाड़ क्षेत्र मराठी भाषी क्षेत्र हैं। यहाँ पर भी प्रादेशिकवाद देखने में आया। महाराष्ट्र सरकार ने केन्द्र सरकार से इस क्षेत्र के विवाद को सुलझाने का अनुरोध किया तो केन्द्र सरकार ने मामले की जाँच करने के लिए भूतपूर्व न्यायमूर्ति मेहरचन्द्र महाजन की अध्यक्षता में एक आयोग का गठन किया। परन्तु इससे पूर्व कि आयोग अपनी सिफारिशें दे महाराष्ट्र तथा कर्नाटक राज्य में आन्दोलन शुरू हो

गये। आन्दोलन और प्रति आन्दोलनों के बावजूद महाजन आयोग की सिफारिशें सामने आयीं तो सम्पूर्ण महाराष्ट्र समिति ने आयोग की सिफारिशें अस्वीकार कर दी। मैसूर ने इसे स्वीकार कर लिया। इस गतिरोध को दूर करने के लिये संसद में विचार किया गया। मैसूर ने इसका विरोध किया फलस्वरूप वहाँ हिंसक घटनायें होने लगीं। मैसूर विधान सभा ने इस आशय का प्रस्ताव पारित किया कि महाजन आयोग की सिफारिशों को लागू करने के सम्बन्ध में यथाशीघ्र वैधानिक कार्यवाही की जाये। इससे केन्द्र सरकार असमंजस में पड़ गयी। किसी प्रकार स्थिति को नियन्त्रण में रखा गया, परन्तु सन् 1973 ई० में मराठी जनता और पुलिस के बीच संघर्ष होने से यह मामला पुनः जीवित हो गया। कोल्हापुर, पुणे, मुम्बई, आदि में हिंसक आन्दोलन प्रारम्भ हो गये। अन्त में सन् 1975 ई० में इस मामले को निपटा दिया गया।

5.3.3 नदी–जल बँटवारा सम्बन्धी विवाद

नदी जल बँटवारे से सम्बन्धित विवादों में भी प्रादेशिकवाद की प्रमुख अभिव्यक्ति की। कृष्णा नदी के जल बँटवारे के विषय में महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, उड़ीसा तथा आन्ध्र प्रदेश के बीच विवाद उत्पन्न हुआ। इसको सुलझाने के लिए राजस्थान उच्च न्यायालय के पूर्व न्यायधीश डी० एम० भण्डारी की अध्यक्षता में सन् 1969 ई० में एक आयोग का गठन किया गया। इसकी सिफारिशों के आधार पर जल–बँटवारे का मामला तय किया गया। पंजाब, कश्मीर और हिमाचल प्रदेश के बीच रावी नदी के जल विभाजन को लेकर विवाद हुआ जिसे केन्द्रीय सरकार के हस्तक्षेप द्वारा तय किया गया। रावी और व्यास नदी के जल विभाजन के मामले पर पंजाब, हरियाणा और राजस्थान के मध्य विवाद हुआ जिसे सन् 1981 ई० में इन्दिरा गाँधी के हस्तक्षेप द्वारा सुलझाया गया। इसी प्रकार कावेरी जल बँटवारे को लेकर कर्नाटक, तमिलनाडु, पांण्डिचेरी तथा केरल के मध्य विवाद हुआ जिसे आज तक नहीं सुलझाया जा सका है। कावेरी जल विवाद की विष बेल तब पल्लवित हुई जब तत्कालीन मैसूर राज्य ने कावेरी नदी के जल के उपयोग के लिए सन् 1889 ई० में बाँध बनाना चाहा। सन् 1892 ई० में मैसूर राज्य तथा मद्रास प्रेसीडेंसी के मध्य कावेरी नदी के जल के बँटवारे को लेकर काफी विवाद हुआ। विवाद की गम्भीरता को देखते हुए मैसूर राज्य ने इस मामले को भारत सरकार को सुपुर्द कर दिया। भारत सरकार ने न्यायाधीश श्री एच० डी० ग्रिफिन

की अध्यक्षता में एक सदस्यीय आयोग का गठन किया, जिसने अपना निर्णय 12 मई, 1914 ई० को दिया। मद्रास प्रेसीडेन्सी ने इस निर्णय को मानने से इनकार कर दिया।

इस जल विवाद को सुलझाने का दूसरा गम्भीर प्रयास सन् 1920 ई० में प्रारम्भ हुआ, जब भारत सरकार की मध्यस्थता में मैसूर राज्य एवं मद्रास प्रेसीडेंसी के मध्य वार्ता प्रारम्भ हुई। इस वार्ता के परिणामस्वरूप 18 फरवरी, 1924 ई० को दोनों राज्यों के मध्य जल बॅटवारे को लेकर एक समझौता हो गया। इस समझौते की अवधि 50 वर्ष थी, जोकि सन् 1974 ई० में समाप्त होने वाली थी। इस बीच दोनों राज्यों ने समझौते का व्यापक उल्लघंन किया। दोनों राज्यों ने समझौते के विपरीत मनमाने ढ़ंग से पानी का प्रयोग किया। तमिलनाडु द्वारा अधिक भूभाग की सिंचाई करने के कारण कावेरी घाटी से संलग्न राज्यों के मध्य मतभेद उत्पन्न हुए, इसका परिणाम यह हुआ कि कावेरी नदी पर निर्माणाधीन परियोजनाओं का विरोध होने लगा।

सन् 1974 ई० में जब समझौतें की अवधि समाप्त हो गयी तब समाधान के पुनर्प्रयास में तत्कालीन केन्द्रीय सिंचाई मन्त्री बाबू जगजीवन राम की अध्यक्षता में तमिलनाडु, कर्नाटक, केरल के मुख्यमंत्रियों की 26, नवम्बर, 1974 ई० को दिल्ली में एक बैठक हुई। इस विवाद के निपटारे के लिए इस बैठक में "कावेरी घाट/प्राधिकरण" के गठन पर सहमति भी हो गयी। परन्तु राज्यों के आपसी मतभेद के कारण यह योजना सफल नहीं हो सकी।

4 मई, 1990 ई० को सर्वोच्च न्यायालय ने केन्द्र सरकार को कावेरी नदी के जल बँटवारे को सुनिश्चित करने के लिए एक न्यायाधिकरण गठित करने का आदेश दिया। सर्वोच्च न्यायालय के आदेशानुसार केन्द्र सरकार ने 2 जून, 1990 ई० को मुम्बई उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश चित्ततोष मुकर्जी की अध्यक्षता में तीन सदस्यीय न्यायाधिकरण का गठन किया। इस न्यायाधिकरण के दो अन्य सदस्य थे : इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायाधीश एस० डी० अग्रवाल तथा पटना उच्च न्यायालय के न्यायाधीश एन० एस० राव। इस न्यायाधिकरण ने कावेरी जल विवाद के सम्पूर्ण पहलुओं पर व्यापक सर्वेक्षण किया। पहलुओं पर व्यापक सर्वेक्षण करने के उपरान्त कर्नाटक सरकार को यह आदेश दिया कि 1

जुलाई, 1991 ई० से तमिलनाडु को 205 टी० एम० सी० फुट पानी छोडने का तथा कावेरी बेसिन में अपने सिंचाई क्षेत्र को 11.2 लाख एकड़ तक सीमित रखने का निर्देश दिया।

कुछ समय पश्चात् कर्नाटक ने न्यायाधिकरण के अन्तरिम निर्णय को मानने से इनकार कर दिया। न्यायाधिकरण के निर्णय को न मानने के सन्दर्भ में कर्नाटक ने ये तर्क दिये–

(i) यदि किसी वर्ष जल 205 टी एम सी फुट से अधिक हो तो उस वर्ष जल तमिलनाडु को दिया जा सकता है। परन्तु यदि किसी कारण वश जल कम हुआ तो कर्नाटक अपने राज्य की सिंचाई में कटौती कर जल देने के लिए बाध्य नहीं होगा।

(ii) कर्नाटक ने यह तर्क दिया कि तमिलनाडु को 205 टी एम सी फुट पानी की आवश्यकता नहीं है, वह मात्र 176 टी एम सी फुट पानी से अपना कार्य सुचारू रूप से चला सकता है।

(iii) तमिलनाडु के पास भूमिगत जल लगभग 230 टी एम सी फुट है, जिसका उपयोग वह कर सकता है परन्तु द्वेषवश वह ऐसा नहीं कर रहा है।

(iv) तमिलनाडु में मैटूर बाँध से ग्रैंड अरकाट तक 204 किमी क्षेत्र में तीन बड़ी नदियाँ–भवाई, नोइल व पन्नीर हैं, जिन पर तमिलनाडु बाँध बना सकता है और सिंचाई कर सकता हैं।

कावेरी जल विवाद का अब पूरी तरह राजनीतिकरण हो चुका है। तमिलनाडु को यह विश्वास है कि कर्नाटक कावेरी का पानी रोककर तमिलनाडु को जानबूझ कर शुष्क बना देने की कुचेष्टा कर रहा है जबकि कर्नाटक का पक्ष है कि कावेरी का जल उसका है और यदि वह जल तमिलनाडु का देता है तो उसकी अपनी भूमि शुष्क और बंजर हो जायेगी।

वर्तमान समय में यह मुद्दा तब प्रकाश में आया जब 3 सितम्बर, 2002 के अपने फैसले में सर्वोच्च न्यायालय ने कर्नाटक को तमिलनाडु के लिए प्रतिदिन 1.25 टी एम सी

फुट पानी छोड़ने का निर्देश दिया, न्यायालय ने यह भी स्पष्ट किया कि यह अन्तरिम आदेश कावेरी नदी प्राधिकरण के निर्णय के बाद स्वतः समाप्त हो जायेगा।

प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में कावेरी नदी प्राधिकरण ने कर्नाटक को 0.8 टी एम सी फुट जल प्रतिदिन छोडना शुरू कर दिया। परन्तु काबिनी जलाशय में एक किसान द्वारा कूदकर आत्महत्या कर लेने के पश्चात् कर्नाटक ने तमिलनाडु को पानी देना तत्काल बन्द कर दिया। इस मामले में प्रधानमन्त्री ने हस्तक्षेप करते हुए कर्नाटक को पुनः पानी जारी करने का आदेश दिया परन्तु कर्नाटक ने अपने किसानों का हित देखते हुए जलाशय में पानी की कमी को दिखाकर पानी देने से मना कर दिया। उधर तमिलनाडु की मुख्यमन्त्री जयललिता ने इस मामले की सर्वोच्च न्यायालय में न्यायालय की अवमानना की याचिका दाखिल कर दी। इस अवमानना की रिट को न्यायालय ने स्वीकार करते हुए कर्नाटक के मुख्यमन्त्री एम० एम० कृष्णा सहित चार अन्य को नोटिस देते हुए पूछा कि अदालत की अवमानना करने और कावेरी नदी प्राधिकरण के निर्देशों का पालन नहीं करने के लिए क्यों न उनके खिलाफ कार्यवाही की जाये? हाल में न्यायालय की अवमानना से बचने के लिए कर्नाटक ने तमिलनाडु को कावेरी का जल देने की सहमति दी है।

कावेरी जल विवाद विगत कई वर्षों से दक्षिण भारत की राजनीति को प्रभावित करता चला आ रहा है, यह जल विवाद अब जल विवाद न होकर एक राजनीतिक विवाद हो गया है। एक तरफ जहाँ कर्नाटक और तमिलनाडु के बीच जल बँटवारे को लेकर दोनों राज्यों के शीर्ष राजनीतिक नेतृत्व एक दूसरे पर तलवारें खींचे हुए हैं वहीं उनकी जनता सड़कों पर उतर आयी है। राष्ट्रीय हितों को तिलांजलि देकर ये नेता जनता की भावनाओं को भड़काकर अपनी राजनीतिक रोटियाँ सेंक रहे हैं। सौ साल से अधिक चले आ रहे इस विवाद को हल करने का कभी भी पूरी ईमानदारी से प्रयास नहीं किया गया। यह विवाद कभी दोनों राज्यों के समझौते के पाले में, कभी केन्द्र सरकार के पाले में, कभी न्यायिक प्राधिकरण के पाले में और कभी न्यायालय के पाले में झूलता रहा, परिणामतः स्थायी समाधान की मंजिल तक पहुँच ही नहीं पाया। इस पर एक विवेकपूर्ण ढँग से विचार कर राष्ट्रीय जलनीति तैयार करने की आवश्कता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

अख्तर, शकील, 2000 : **स्वायत्तता का विवाद**, नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली।

भारती, चन्द्रमधु, 1998, **उत्तरांचल**, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

चन्द्र, विपिन, 2002 : **आजादी के बाद का भारत**, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय , दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

चौहान, पी० आर०, 1995 : **राजनीतिक भूगोल**, वसुन्धरा प्रकाशन, गोरखपुर।

खन्ना, वी० एन० एवं अरोड़ा, लिपाक्षी, 1997 : **भारत की विदेश नीति**, विकास पब्लिशिंग हाउस, प्रा० लि०, नई दिल्ली।

खाती, संजय, 2000 : **कश्मीर फिर स्वायत्तता की पुकार**, नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली।

कौशिक, रेखा, 2000 : **भारत में सरकार और राजनीति**, पीयूष पब्लिकेशन्स, दिल्ली।

Rao, P.V.R., 2000 : **Defence without Drift**, Prentice - Hall of India Private Limited, New Delhi.

शर्मा, जे० के०, 1999 : **तथ्यों के आइने मे कश्मीर**, नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली।

सक्सेना, हरिमोहन, 1997 : **राजनीतिक भूगोल**, रस्तोगी पब्लिकेशन्स, मेरठ।

श्रीवास्तव, ओमप्रिया, 1996 : **भारतीय संविधान, शासन और राजनीति**, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, वाराणसी।

श्रीवास्तव, जे० एम०, 2000 : **भारत की सुरक्षा**, चन्द्र प्रकाश एण्ड ब्रादर्स, हापुड़।

वैद्य, माधव गोविन्द, 2002 : **जम्मू–कश्मीर पुनर्गठन क्यों?** विश्व संवाद केन्द्र, लखनऊ।

✻✻✻✻✻

अध्याय –6

प्रादेशिकवाद वनाम राष्ट्रवाद

प्रत्येक मानव को अपनी जन्म भूमि से लगाव होता है। परन्तु यह लगाव देश या राष्ट्र के प्रति उत्तरदायित्व से नियंत्रित रहता है। परन्तु जब किन्हीं कारणोंवश राष्ट्र के हितों के विपरीत क्षेत्रीय हितों को अधिक महत्व दिया जाने लगता तो इससे टकराव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। प्रादेशिकवाद जब राष्ट्रीय हितों से टकराता है तो देश की एकता और अखण्डता के लिए गम्भीर खतरा पैदा हो जाता है। भारत में समय–समय पर प्रादेशिकवाद की भावना उठती रही है। प्रत्येक क्षेत्र में लोग दूसरों पर अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित करने का प्रयत्न करते रहे हैं जिससे विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक संघर्ष और तनाव प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इससे केन्द्र तथा राज्य सरकारों के बीच सम्बन्धों में विकृति आती जा रही है तथा स्वार्थी नेतृत्व व संगठन विकसित हो रहे हैं। भाषा की समस्या और अधिक जटिल होती जा रही है। इससे आन्दोलनात्मक राजनीति को बढ़ावा मिला है। प्रादेशिकवाद के आन्दोलनकारियों ने अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए धर्म, भाषा, जाति जैसे विघटनकारी तत्वों का सहारा लिया है, जिससे भारत में राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में नवीन बाधायें पैदा हो रही हैं। इसके साथ–साथ यदि देखा जाये तो आज भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों का बढ़ता प्रभाव प्रादेशिकवाद के लिए उत्तरदायी है, जैसे तमिलनाडु में द्रविड मुनेत्र कड़गम एवं अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम, महाराष्ट्र में शिव सेना, असम में असम गण परिषद, पंजाब में अकाली दल, आन्ध्र प्रदेश में तेलगुदेशम तथा जम्मू-कश्मीर में नेशनल कान्फ्रेंस आदि प्रमुख हैं जो अपने क्षेत्र विशेष के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। भावातिरेकता में वे ऐसी माँगें कर बैठते हैं या ऐसे आन्दोलनों को समर्थन दे बैठते हैं जिससे राष्ट्रीय हितों को नुकसान पहुँचता है एवं देश की एकता एवं प्रभुसत्ता को खतरा बढ़ जाता है। वर्तमान अध्याय में प्रादेशिकवाद एवं राष्ट्रवाद के इन्हीं परस्पर विरोधी पक्षों के विवेचन का प्रयास किया गया है।

6.1 राष्ट्रीय एकीकरण का अर्थ

राष्ट्र एक अखण्ड व्यवस्था नहीं है। राष्ट्र का निर्माण अनेक परिवारों, समूहों, समितियों, संस्थाओं, समुदायों, यहॉ तक कि विभिन्न भूखण्डों, जिनमें कि समाज के सदस्य निवास करते हैं, को लेकर होता है। उसी राष्ट्र में अनेक लोग भी निवास करते हैं और यह भी हो सकता है कि उस राष्ट्र के उन सदस्यों में प्रजाति, धर्म, भाषा, रीतिरिवाज, आचार-विचार आदि आधारों पर अनेक भिन्नतायें हों। इन विभिन्नताओं के बीच भी उस राष्ट्र के सदस्यों में किन्हीं समानताओं के आधार, जैसा कि इसी आधार पर कि वे सब एक ही राष्ट्र के सदस्य हैं, एक प्रकार की एकात्मकता हो सकती है और उनके पारस्परिक व सम्मिलित क्रियाकलापों में उसे वास्तव में देखा भी जा सकता है। इस प्रकार विभिन्नताओं के बीच भी राष्ट्रीय एकता रखने एवं विभिन्न प्रजातीय, धार्मिक, भाषा-भाषी व भौगोलिक समूहों को एक सूत्र में बँधे रहने की स्थिति को ही राष्ट्रीय एकीकरण कहते हैं। इस अर्थ में राष्ट्रीय एकीकरण विभिन्नताओं के बीच भी राष्ट्र के लोगों में एक होने की दृढ़ भावना की अभिव्यक्ति है, ताकि उनमें राष्ट्रीयता की भावना पनप सके और वे अपने को एक सामान्य सामाजिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक जीवन के सक्रिय हिस्सेदार समझ सकें। राष्ट्रीय एकीकरण विभिन्नताओं के बीच एकता के सूत्र को ढूँढ़ने और उसी सूत्र में जन–जीवन को पिरोने की प्रक्रिया है (मुकर्जी, 2001, पृ० 429)।

राष्ट्रीय एकीकरण वह आधारभूत धारणा है जिसके अन्तर्गत किसी देश की विभिन्नताओं को एकसूत्र में बाँधकर एकीकरण की स्थापना की जाती है। राष्ट्रीय एकीकरण शब्द का प्रयोग वस्तुतः उन देशों में ही अधिकतर किया जाता है, जहाँ भौगोलिक संरचना और वातावरण में विविधता हो, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि विषयों में भिन्नता हो तथा धार्मिक विश्वासों, जातियों, भाषाओं आदि की बहुसंख्यकता हो। ऐसे भी देश हो सकते हैं, जिनमें उपरोक्त में से एक से अधिक ऐसे प्रकरण हों, जो अनेकता उत्पन्न करते हों। किसी भी देश में अनेकता उत्पन्न करने वाले प्रकरणों में एकता स्थापित करना राष्ट्रीय एकीकरण कहलाता है।

विभिन्न विद्वानों ने अपने दृष्टिकोणों के अनुसार राष्ट्रीय एकीकरण को परिभाषित किया है। डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार, "राष्ट्रीय एकीकरण ऐसा घर नहीं है जो ईंट और गारे से बनाया जा सके यह कोई औद्योगिक नियोजन भी नहीं है जिसके विषय में विशेषज्ञ विचार–विमर्श करके, उसे क्रियान्वित कर दें। इसके विपरीत, एकीकरण एक ऐसा विचार है जो लोगों के मस्तिष्क में होना चाहिए। यह मानव की वह जागरुकता है जो उसे जागृतावस्था में रखती है।" मिरौन वीनर महोदय ने राष्ट्रीय एकीकरण को समाज द्वारा अराजक स्वार्थों पर जनहित के नियन्त्रक का माध्यम कहा है। यह विभिन्नताओं में एकता स्थापित करता है। राष्ट्रीय एकीकरण को ऐसी सामाजिक–मनोवैज्ञानिक और शैक्षणिक प्रक्रिया बताया गया है, जिसके द्वारा लोगों के मन–मस्तिष्क में एकता, संगठनात्मकता और संयुक्तता उत्पन्न होती है। इसके द्वारा नागरिकों में समानता और राष्ट्र के प्रति निष्ठा उत्पन्न होती है। राष्ट्रीय एकीकरण द्वारा नागरिकों में देशभक्ति, देश के लिए रचनात्मकता का दृष्टिकोण और देश के प्रति उत्तरदायित्व की भावना का दृढ़ीकरण होता है। राष्ट्रीय एकीकरण की भावना से अभिभूत देशवासी अपने व्यक्तित्व को राष्ट्र में समाहित कर देता है। वह स्वयं को राष्ट्र का संरक्षक और राष्ट्र को अपना संरक्षक समझने लगता है। राष्ट्रीय एकीकरण का अर्थ मात्र यह नहीं है कि हम सब एक हों। वस्तुतः इसका अर्थ यह भी है कि हमारा राष्ट्र एक है और हम इसके भागीदार हैं। सहभागिता की भावना राष्ट्रीय एकीकरण की आवश्यक शर्त है।

राष्ट्रीय एकीकरण एक बहु–आयामी अवधारणा है जिसके राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक इत्यादि अनेक पक्ष हो सकते हैं। फिर भी अपने मूल रूप में यह ऐसी राष्ट्रीयता की भावना है जो विविध समुदायों को एकता के सूत्र में पिरोती है ताकि संस्कृतियों, जातियों, भाषाओं व धर्मों के अन्तर को भावनात्मक दृष्टि से सम्पूर्ण इकाई के रूप में ग्रहण किया जा सके और उस इकाई के समस्त निवासी चाहे वे किसी धर्म, जाति या भाषा से सम्बन्धित हों अपने देश से प्रेम करें और उसकी उन्नति चाहें। महात्मा गाँधी ने इस भावना की अभिव्यक्ति इन शब्दों में की कि राष्ट्रीय एकता सामान्य उद्देश्य, सामान्य ध्येय और सामान्य दुखों की अनुभूति है। इसकी प्राप्ति का सर्वोत्तम मार्ग परस्पर सहिष्णुता और सहानुभूति के साथ एक–दूसरे के दुखों को बाँटते हुए सामन्य ध्येय की प्राप्ति में सहयोग करना है। दूसरे शब्दों में, राष्ट्रीय एकीकरण का उद्देश्य समाज में ऐसी भावना का विकास करना है जिससे

स्थानीयता, जातीयता, धार्मिक और भाषाई आस्थाओं से ऊपर उठकर व्यक्ति राष्ट्रीय सन्दर्भ में सोचने लगे और सामुदायिकता का विकास हो सके। जय प्रकाश नारायण के अनुसार, "एक राष्ट्र के पास राज्य और निश्चित भू–सीमा होते हुए भी राष्ट्रीयता के सारतत्व का अभाव हो सकता है। यह सारतत्व ही राष्ट्रीय चेतना है। अतः हमारे देश में जब भी हम राष्ट्रीय एकता की बात करते हैं तो मूलतः हमारा अर्थ इसी राष्ट्रीयता की चेतना का विकास करने से होता है। परन्तु इस चेतना का विकास अत्यन्त कठिन है और प्रत्येक समाज में इसके लिए एक भिन्न प्रकार की ऐतिहासिक परिस्थितियाँ उत्तरदायी होती हैं" (यादव एवं शर्मा, 1997, पृ० 48–49)।

राष्ट्रीय एकीकरण का अर्थ यह नहीं है कि विविधताओं का अन्त करके पूरे देश में एक धर्म या एक भाषा लागू कर दी जाये। एकीकरण से तात्पर्य विलय नहीं है, वरन् विभिन्नताओं को इस तरह से बनाये रखना है कि उससे देश का अस्तित्व खतरे में न पड़ने पाये। समस्या यह है कि विविध हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले अनेक समूहों को किस तरह एकता के सूत्र में बाँधा जाये? ऐसा कौन सा तरीका अपनाया जाये जिससे प्रत्येक वर्ग या समूह स्वतन्त्र और न्यायपूर्ण ढँग से अपने हितों को सुरक्षित और विकसित कर सके, लेकिन इस तरह से कि दूसरे समूहों के हितों का अपहरण भी न हो। दूसरी ओर यह भी देखना है कि कोई भी व्यक्ति या समूह अपने हित के लिए राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा न करने पाये। एकीकरण की अवधारणा इस बात पर आधारित है कि राष्ट्र का हित व्यक्ति, समूह अथवा क्षेत्रीय हितों से ऊपर है। राष्ट्रीय एकीकरण का अर्थ है व्यक्तिगत हितों और राष्ट्रीय हितों के बीच सामन्जस्य स्थापित करना और ऐसे वातावरण का सृजन करना जिसमें कोई व्यक्ति या समूह केवल अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा न करने पाये तथा किसी अन्य वर्ग या समूह का शोषण न करे (सईद, 1996, पृ० 366)।

समाज का निर्माण अनेक समूहों तथा संस्थाओं से होता है। इन सभी समूहों के विचार, व्यवहार, विश्वास, धर्म, भाषा और क्षेत्रीय हित एक समान नहीं होते बल्कि इनमें कुछ भिन्नता आवश्यक रूप से पायी जाती है। संक्षेप में, ऐसी सभी भिन्नताओं को भावात्मक एकता में बदलने की प्रक्रिया का नाम ही राष्ट्रीय एकीकरण है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि राष्ट्रीय एकीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा विभिन्न समूहों की प्रजातीय, धार्मिक, भाषायी

और क्षेत्रीय विभिन्नताओं के बाद भी उन्हें भावात्मक रूप से एकता के सूत्र में बाँधकर यह चेतना उत्पन्न की जाती है कि सब एक राष्ट्र के सदस्य हैं।

भावात्मक एकता समिति के अनुसार, ''राष्ट्रीय एकता का तात्पर्य ऐसे मानसिक दृष्टिकोण का निर्माण करना है जो सभी व्यक्तियों को इस बात के लिए प्रेरित करता है कि वे समूहों की अपेक्षा अपने देश के प्रति अधिक निष्ठा रखें तथा दलीय स्वार्थों की अपेक्षा देश के कल्याण को सर्वोच्च महत्व दें।'' इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि विस्तृत अर्थों में राष्ट्रीय एकता का तात्पर्य सम्पूर्ण समाज के एकीकरण से ही है। बिनोवा भावे ने राष्ट्रीय एकीकरण के लिए कहा था कि यह भावात्मक एकता, भाई–चारे और राष्ट्र–प्रेम की वह दृढ़ भावना है जो एक देश के सभी निवासियों को अपनी व्यक्तिगत, क्षेत्रीय, धार्मिक और भाषायी भिन्नताओं को भुलाने में सहायता देती है। डॉ० आहूजा का कहना है कि राष्ट्रीय एकता वह प्रक्रिया है जिसमें समानता की चेतना का समावेश होता है तथा जिसमें एक देश के विभिन्न समूह तथा उप–समूह अपने रचनात्मक प्रयासों द्वारा एक सामान्य लक्ष्य को पाने एवं एकता तादात्मीकरण और सहयोग में अधिकतम वृद्धि करने का प्रयत्न करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि एक देश के विभिन्न समूहों के बीच भावात्मक एकता के साथ सामान्य लक्ष्यों के लिए प्रयत्न करना भी राष्ट्रीय एकता के लिए आवश्यक है। राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया का अन्तिम उद्देश्य वर्तमान विघटित समुदाय के स्थान पर भावात्मक रूप से एकीकृत नई सामाजिक व्यवस्था की स्थापना है। जवाहर लाल नेहरू भी इसी भावात्मक एकता को महत्व देते हुए यह कामना रखते थे कि भारतीय जनता का भावात्मक एकीकरण हो ताकि हम अपनी अद्‌भुत विविधता को बनाये रखते हुए भी एक मजबूत राष्ट्रीय इकाई से बँधे हों। इसी भाव को अभिव्यक्त करते हुए राष्ट्रीय एकता सम्मेलन (1961) ने राष्ट्रीय एकता की परिभाषा इस प्रकार दी है – ''राष्ट्रीय एकता एक मनोवैज्ञानिक और शैक्षिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा सभी लोगों के दिलों में एकता की भावना, समान नागरिकंता का अनुभव और राष्ट्र के प्रति प्रेम की भावना को विकसित किया जाता है।'' स्पष्ट है कि राष्ट्रीय एकता का सम्बन्ध हृदय से है जिसके साथ अनुभूति और निष्ठा के प्रश्न जुड़े हैं। अतः यदि देश में एकता लानी है तो हृदय परिवर्तन अनिवार्य है जिससे भावनाओं में भी परिवर्तन लाया जा सके और संकुचित व प्रान्तीय निष्ठाओं के स्थान पर बृहद् राष्ट्र के प्रति निष्ठा को सर्वोपरि बनाया जा सके। यह

कार्य सभाओं और भाषणों मात्र से ही सम्पन्न नहीं हो सकता बल्कि इसके लिए राष्ट्रोपयोगी संस्कारों को विकसित करने की आवश्यकता है (यादव एवं शर्मा, 1997, पृ० 50)।

6.2 राष्ट्रीय एकीकरण की समस्यायें

राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या विश्वव्यापी है और प्रत्येक विविधतायुक्त राष्ट्र इस समस्या का अपने–अपने तरीके से सामना कर रहा है। भारत जैसे देश के लिए यह समस्या और भी अधिक गहन है (Bondurant, 1958, p.1) और राष्ट्रवाद के विकास का ही एक अभिन्न भाग है। यहाँ राष्ट्रवाद का विकास दो भिन्न अवस्थाओं में हुआ है। प्रथम, साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष की अवस्था में जहाँ राष्ट्रवाद का एकमात्र उद्देश्य एक स्वतन्त्र सम्प्रभु राज्य की स्थापना करना होता है और द्वितीय, समाज की राष्ट्र के रूप में एकीकरण की अवस्था जहाँ उस नव–स्वतन्त्र राज्य के निवासियों को एक राष्ट्र के नागरिक के रूप में परिवर्तित करना होता है। यही राष्ट्रीय एकता की प्रक्रिया है जो राष्ट्रवाद की द्वितीय अवस्था है और नव–स्वतन्त्र राष्ट्रों के लिए अत्यन्त जटिल भी है क्योंकि उन्हें इस राष्ट्र–निर्माण के साथ–साथ एक ही समय पर आर्थिक विकास, सामाजिक न्याय, राजनीतिक विकास, लोकतन्त्रीकरण और आधुनिकीकरण की दिशा में भी प्रयत्न करने पड़ते हैं। इस अद्‌भुत बहु–आयामी विकास की प्रक्रिया कभी–कभी अत्यन्त गहन एवं जटिल अन्तः क्रिया को जन्म देती है जो एकीकरण के स्थान पर असन्तोष और अलगाव को इतना बढ़ा देती है कि राजनीतिक समुदाय का अस्तित्व ही संकट में पड़ जाता है (यादव एवं शर्मा, 1997, पृ० 50)।

भारत में राष्ट्रीय एकीकरण का प्रश्न और भी जटिल है क्योंकि धर्म, भाषा और संस्कृति के साथ जातियों की विविधता भी भारतीय समाज की पारम्परिक विशिष्टता है (भट्ट, 1981, पृ० 47–70) और भारतीय समाज के एकीकरण के मार्ग में बाधक है। विदेशी शासन और उनकी फूट डालने वाली नीतियों ने एकीकरण के मार्ग को और भी अधिक दुर्गम बना दिया है (तरूण, 1991, पृ० 122–159)। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत के राष्ट्रीय नेताओं ने इस कार्य को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की जो जवाहर लाल नेहरू के सन् 1952 ई० के इस कथन में स्पष्ट है, "हमें भारत में एकता की भावना के विकास के कार्य को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी चाहिए क्योंकि यह कठिन समय है। ऐसा कोई भी निर्णय जो इस

एकता के मार्ग में रूकावट डाले, तब तक के लिए स्थगित कर देना चाहिए जब तक कि राष्ट्रीय एकता की मजबूत नींव न रखी जा चुकी हो" (यादव एवं शर्मा, 1997, पृ० 51)।

भारत में स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय पूरे देश में एकता का जो वातावरण उत्पन्न हुआ, वह इससे पहले कभी देखने में नहीं आया। एक सामान्य लक्ष्य–स्वतन्त्रता की प्राप्ति, के लिए सभी धर्म, जाति और क्षेत्र के लोग सुसंगठित होकर अपने पारस्परिक मतभेदों तथा विभिन्नताओं को भूलकर बलिदान के लिए तैयार हो गये। स्वतन्त्रता के बाद जिस राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना की गई, उसकी प्रमुख विशेषता राजनीतिक तन्त्र में जनसाधारण का सक्रिय रूप से भागीदार होना है। जनतन्त्रीय व्यवस्था ने स्वतन्त्रता और समानता के आदर्श को स्थापित करने का प्रयास किया। राजनीति के द्वार सभी के लिए, चाहे वे किसी भी धर्म या जाति के हों, खुल गये। इस प्रतियोगी राजनीति ने व्यक्तिगत स्वार्थ को बढ़ावा दिया, समूह–चेतना को विकसित किया, नई जातियाँ और नये समूह संगठित रूप में अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने तथा अपने हितों को बढ़ावा देने के लिए संघर्षरत हो गये। राजनीतिक आधुनिकीकरण के फलस्वरूप एक ओर धर्म निरपेक्ष राजनीतिक व्यवस्था स्थापित हुई और दूसरी ओर धार्मिक और जातीय जागरूकता को प्रोत्साहन मिला। परिणाम यह हुआ कि विभिन्न धार्मिक भाषायी, जातीय और क्षेत्रीय समूहों के बीच हित टकराव प्रारम्भ हो गया और इसने एक गम्भीर राष्ट्रीय समस्या का रूप धारण कर लिया। यह समस्या इतने उग्र रूप में सामने आयी कि देश की एकता और अखण्डता को बनाये रखने का प्रश्न उठ खड़ा हुआ (सईद, 1996, पृ० 366) भारत में राष्ट्रीय एकता की समस्या प्रमुख रूप से तीन श्रेणी में देखने को मिलती है –

6.2.1 अल्पसंख्यक समूहों के बीच एकता

समाज के अल्पसंख्यक समूह वे होते हैं जिनका देश की कुल जनसंख्या में बहुत कम प्रतिनिधित्व होता है। भारतीय समाज में हिन्दुओं का स्थान सदैव से ही एक बहुसंख्यक समूह के रूप में रहा है। जबकि हिन्दुओं की तुलना में मुसलमानों, ईसाइयों, सिखों, बौद्धों, जैनियों और अन्य समूहों की सदस्य संख्या काफी कम रही है। सन् 2001 ई० की जनगणना के अनुसार भारत की सम्पूर्ण जनसंख्या में हिन्दुओं का प्रतिशत 82 से भी अधिक है जबकि

शेष सभी समूहों की संख्या देश की कुल जनसंख्या का 18 प्रतिशत से भी कम है (चित्र 6.1)। इनमें कुछ समूह तो इतने छोटे हैं कि उनकी सदस्य संख्या कुछ लाख में ही है। भारत में यद्यपि एक लम्बे समय तक बौद्ध शासकों का साम्राज्य रहा, लेकिन बौद्धों की वर्तमान संख्या कुल जनसंख्या का केवल 0-77 प्रतिशत है। यह सत्य है कि भारत की जनसंख्या में ईसाई तथा मुसलमानों का प्रतिशत हिन्दुओं से काफी कम है लेकिन भारत के स्वतन्त्र होने से पूर्व तक यहाँ पहले मुसलमानों और बाद में ईसाईयों का शासन चलता रहा। ऐसी स्थिति में अल्पसंख्यक समूहों की ओर से न तो किसी प्रकार के राजकीय संरक्षण की बात उठायी गयी और न ही इसकी कोई आवश्यकता थी। भारत जब स्वतन्त्र हुआ तो शासन का सम्बन्ध किसी समूह विशेष से नहीं रह गया। चुनाव में कोई भी व्यक्ति निर्वाचित होकर जनता का प्रतिनिधित्व कर सकता था। यहीं से संख्या की शक्ति का सबसे पहले उन समूहों को आभास हुआ जो अल्पमत में थे। इसके फलस्वरूप अल्पसंख्यक समूहों में तरह–तरह के सन्देह और असुरक्षा के भाव उत्पन्न होना आरम्भ हो गये। अनेक ऐंग्लो–इण्डियन समूहों ने यूरोप जाकर बसना अच्छा समझा जबकि शेष समूहों ने सरकार से अपने लिए सामाजिक सुरक्षा की माँग करना आरंभ कर दिया। इसी स्थिति ने भारत में राष्ट्रीय एकीकरण के सामने एक गम्भीर समस्या उत्पन्न कर दी।

किसी समाज में कोई समूह बड़ा हो या छोटा राष्ट्रीय एकता के लिए सभी के बीच भावात्मक एकता का होना अतीव आवश्यक है। प्रजातन्त्रीय समाज में सभी को संरक्षण और विकास के समान अवसर प्रदान करना राज्य का सर्वप्रमुख दायित्व होता है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि ऐसी परिस्थितियाँ पैदा की जायें कि बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक सभी समूह राष्ट्र की मूल धारा के साथ चलें और बिना किसी भेदभाव के राष्ट्रीय एकता के लिए योगदान करें। भारत की स्वतन्त्रता के बाद यद्यपि सरकार ने संवैधानिक और व्यावहारिक रूप से अल्पसंख्यक समूहों को विकास के सभी सम्भव अवसर प्रदान किये हैं लेकिन इस दशा में कुछ और प्रयास करने से राष्ट्रीय एकीकरण का मार्ग अधिक प्रशस्त हो सकता है –

1. सर्वप्रथम, यह आवश्यक है कि अल्पसंख्यक समूहों की संस्कृति को सुरक्षित रखने के व्यापक प्रयास किये जायें। संख्या में कम होने के कारण उनके पास स्वयं उन साधनों का अभाव है जिनके द्वारा सांस्कृतिक विशेषताओं को सुरक्षित रखा जा सकता है।

भारत
धार्मिक प्रारूप
1991
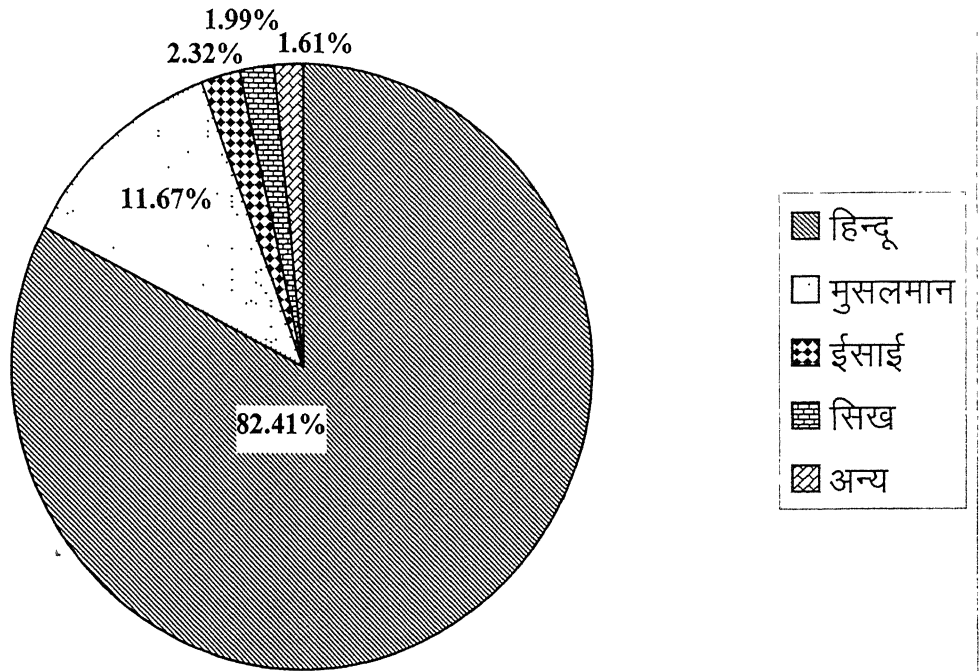
चित्र 6.1

2. जो समूह अल्पसंख्यक होने के साथ पिछड़े हुए भी हैं, जैसे अनेक जनजातीय समूह और कबीले आदि, उनको सरकारी नौकरियों और प्रतिष्ठानों में उचित प्रतिनिधित्व देने की प्रभावपूर्ण व्यवस्था की जानी चाहिए।

3. अल्पसंख्यक समूहों की संख्या जिन स्थानों पर अधिक है वहाँ उनके लिए पृथक् संस्थाओं का होना आवश्यक है। यद्यपि इनमें सभी समूहों के सदस्यों को प्रवेश दिया जा सकता है, लेकिन अल्पसंख्यक समूहों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

4. प्रचार के साधनों द्वारा अल्पसंख्यक समूहों में यह भावना उत्पन्न करना आवश्यक है कि वे सबसे पहले भारत राष्ट्र के अंग हैं और राष्ट्र के हित में ही उनके व्यक्तिगत हित सुरक्षित हैं।

5. शिक्षा संस्थाओं में सभी समूहों की संस्कृति और सामाजिक विशेषताओं से विद्यार्थियों को परिचित कराना बहुत लाभदायक हो सकता है। इससे एक ओर तो बहुसंख्यक समूह अल्पसंख्यक समूहों की संस्कृति से परिचित होंगे और दूसरी ओर स्वयं अल्पसंख्यक समूहों में भी अलगाववादी विचारों को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा।

इन सभी प्रयत्नों से भारत में अल्पसंख्यक समूह के सन्देहों को समाप्त करके उन्हें राष्ट्रीय धारा की ओर मोड़ा जा सकता है। इसके पश्चात् भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि समानता और स्वतन्त्रता के वर्तमान युग में बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक समूहों की धारणा ही एक भ्रान्ति है। संसार के सभी समाजों में कुछ समूह अल्पसंख्यक जरूर होते हैं लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन्हें बहुसंख्यक लोगों की अपेक्षा अधिकार और सुविधायें भी अल्प मात्रा में ही मिलें। इस प्रकार वास्तविकता को समझ लेने के बाद अल्पसंख्यक की धारणा राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में कभी बाधक नहीं बन सकेगी।

6.2.2 धार्मिक एकता की समस्या

भारत विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों का प्रदेश है। किसी एक समाज में इतने अधिक धर्मों का प्रचलन सम्भवतः संसार के किसी दूसरे देश में देखने को नहीं मिलता। एक ओर यहाँ हिन्दू, ईसाई, सिख, बौद्ध, जैन और पारसी जैसे मुख्य धर्मों में लोग विश्वास करते हैं तो

दूसरी ओर एक धर्म भी एक से अधिक शाखाओं एवं सम्प्रदायों में विभक्त है। इनमें से प्रत्येक शाखा और सम्प्रदाय भी अपने को दूसरे से भिन्न धर्म पर आधारित होने का दावा करते हैं। उदाहरणार्थ हिन्दू धर्म ही प्रमुख रूप से वैष्णव, शैव, शाक्त, रूद्र, सनक, ब्रह्म समाज एवं आर्य समाज जैसे अनेक शाखाओं में विभाजित है। इनमें से वैष्णव शाखा के अन्तर्गत ही लगभग 25 सम्प्रदायों का विकास हुआ है और प्रत्येक सम्प्रदाय को मानने वाले व्यक्ति दूसरों से ऐसा व्यवहार करते हैं जैसे उनका सम्प्रदाय एक–दूसरे से पूर्णतया भिन्न हो। भारत में इस्लाम धर्म के प्रभाव के बढ़ने से पूर्व शैव और वैष्णव धर्मों के अनुयायियों के बीच उग्र संघर्ष होने के अनेक उदाहरण हैं। इससे भी पहले, ईसा से दो सौ वर्ष पहले हिन्दू और बौद्ध शासकों में धर्म के आधार पर व्यापक युद्ध होते रहे थे। वास्तव में बौद्ध और जैन धर्मों का विकास ही भारत में हिन्दू धर्म के रूढ़िवादी प्रभाव को कम करने के लिए हुआ था। इन सभी संघर्षों एवं युद्धों के फलस्वरूप भारत सदैव छोटे–छोटे धर्म–पालन राज्यों में विभक्त रहा और धार्मिक रूप से इसे एकता के सूत्र में नहीं बाँधा जा सका। भारत में ब्रिटिश शासन काल में अंग्रेजों की नीति सबसे अधिक दुर्भावनापूर्ण रही। उन्होंने फूट के द्वारा शासन की नीति को क्रियान्वित करने के लिए सदैव मुसलमानों को हिन्दुओं के विरुद्ध प्रेरित किया। हिन्दू बहुसंख्यक थे, जबकि मुसलमानों को शासन का आशीर्वाद प्राप्त था। फलस्वरूप देश के अनेक स्थानों पर व्यापक साम्प्रदायिक संघर्ष होते रहे। इसमें मानव जीवन और सम्पत्ति की जो भारी क्षति हुई उसका सरलता से अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। इन सभी संघर्षों से विभिन्न धर्मों के अनुयायियों के बीच वैमनस्य, घृणा और द्वेष की जो कटुभावना उत्पन्न हुई, वह भारत के राष्ट्रीय एकीकरण के लिए सबसे बड़ा खतरा बन गयी।

इस सन्दर्भ में सबसे बड़ा प्रश्न यह उठता है कि विभिन्न धार्मिक समूहों के बीच पृथकतावादी धारणा क्यों उत्पन्न होती है? इस प्रश्न का उत्तर स्वयं राष्ट्रीय एकीकरण की स्थापना में अत्यधिक सहायक है। वास्तव में प्रत्येक धर्म में धीरे–धीरे कुछ पूर्वाग्रहों और पक्षपातपूर्ण भावनाओं का विकास हो जाता है। उस धर्म के अनुयायी यह समझने लगते हैं कि प्रत्येक धर्म की संस्कृति, व्यवहार, प्रतिमान और विश्वास एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। कालान्तर में प्रत्येक धार्मिक समूह एक अन्तर्विवादी समूह के रूप में बदल जाता है और दूसरे धर्मो के अनुयायियों से उनका सामाजिक सम्पर्क भी टूट जाता है। समाज से अधिक सुरक्षा

पाने और अपने विश्वासों का प्रसार करने के लिए सभी धर्मों के अनुयायी अपने धर्म मानने वालों का पक्ष लेना आरम्भ कर देते हैं और दूसरे धर्मों के अनुयायियों को नीची दृष्टि से देखने लगते हैं। धीरे–धीरे यह पूर्वाग्रह और पक्षपातपूर्ण विचार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सांस्कृतिक विरासत के रूप में प्राप्त होने लगते हैं। इस प्रकार धार्मिक पृथक्तावाद एक अमरबेल की तरह है जिसकी जड़ नहीं होती, यद्यपि यह खूब फलती–फूलती है और शीघ्र ही यदि इसे काट न दिया जाये तो यह आस–पास के पेड़-पौधों को भी नष्ट कर देती है।

अतीत में भारतीय समाज के सामने धार्मिक एकीकरण भले ही एक बड़ी समस्या रही हो लेकिन स्वतन्त्र भारत में हमारे देश को एक धर्मनिरपेक्ष समाज के रूप में मान्यता देकर सभी धार्मिक समूहों के सन्देहों को सदैव के लिए समाप्त कर दिया गया है। आज हमारे समाज में धर्मों और सम्प्रदायों के अनुयायी एक–दूसरे के सम्पर्क में आये हैं और सभी धर्मों की विशेषताओं को समझने और उनको अपने में आत्मसात करने का प्रयत्न किया है। वास्तव में विभिन्न धर्मों के अनुयायी आज भारतीय संस्कृति से कुछ इस प्रकार घुल-मिल गये हैं कि आज सभी धर्मों के अनुयायी, सत्य, पवित्रता, भक्ति और मोक्ष को अपने धार्मिक जीवन का अभिन्न अंग मानते हैं। कोई भी धार्मिक समूह आज भारत में देखने को नहीं मिलता जो स्वर्ग, नर्क, कर्म, भाग्य , पुनर्जन्म और आत्मा की अनश्वरता में विश्वास न करता हो। हिमालय से लेकर कुमारी अन्तरीप तक और द्वारिका से लेकर जगन्नाथपुरी तक हिन्दुओं, मुसलमानों, ईसाइयों, सिखों, बौद्धों और जैनों के धार्मिक स्थान इस एकता को और अधिक दृढ़ बना रहे हैं। होली, दीपावली, दशहरा, ईद और गुरू पर्व किसी एक धर्म के अनुयायियों के ही नहीं बल्कि सभी भारतीयों के त्यौहार हैं। इस प्रकार आधुनिक भारतीय समाज में धार्मिक एकीकरण को स्वयं ही काफी प्रोत्साहन मिला है। यह सत्य है कि कुछ कट्टरपंथी पुरोहित, मुल्ला-मौलवी और पादरी अपने निहित स्वार्थों के कारण धार्मिक एकीकरण के मार्ग में बाधा उत्पन्न करते हैं, लेकिन जैसे–जैसे विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना उत्पन्न होती जा रही है, इन कट्टरपंथियों का प्रभाव भी अपने आप कम होता जा रहा है।

इसके उपरान्त भी भारत में धार्मिक एकीकरण को अभी और प्रभावपूर्ण बनाने की आवश्यकता है। यद्यपि इसके लिए अनेक सुझाव दिये जाते हैं, लेकिन सबसे अधिक

आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षण संस्थाओं के माध्यम से सभी धर्मों की मौलिक एकता की ओर देशवासियों का ध्यान आकर्षित कराया जाये। वास्तव में सभी धर्म मौलिक रूप से मानवीय कर्तव्यों और ईश्वरीय महानता की धारणा से ही सम्बद्ध हैं। यदि सभी धर्मों के मूलभूत, सिद्धान्तों पर ध्यान दिया जाये तो एक ऐसे मानव धर्म की खोज की जा सकेगी, जो सभी के लिए मान्य होगा। इससे धार्मिक संघर्ष स्वयं ही समाप्त हो जायेंगे।

6.2.3 उत्तर तथा दक्षिण भारत की एकता

भारत में एक लम्बे समय से उत्तर और दक्षिण के प्रश्न को लेकर तरह–तरह के विवादों और संघर्षों को प्रोत्साहन मिलता रहा है। इन संघर्षों का आरम्भ सबसे पहले प्रजातीय आधार पर हुआ। बहुत समय से इतिहासकार और मानवशास्त्री इस मत का प्रतिपादन करते रहे हैं कि उत्तर भारत प्रमुख रूप से आर्यों का निवास स्थान रहा है, जबकि दक्षिण भारत में द्रविड़ प्रजाति की प्रधानता रही है। आर्यों और द्रविड़ों के ऐतिहासिक संघर्षों के कारण भी इस भावना को प्रोत्साहन मिलता रहा है कि उत्तर तथा दक्षिण एक–दूसरे से भिन्न संस्कृति वाले दो पृथक् प्रदेश हैं। यह सर्वविदित है कि आज से लगभग चार हजार वर्ष पूर्व आर्यों ने सबसे पहले उत्तर भारत में अपने साम्राज्य का विस्तार किया और यहाँ की जनसंख्या में आर्य विशेषताओं का प्रसार हुआ। आर्य लोग अपने को उच्च और विशुद्ध रक्त का मानने की भ्रान्ति में थे। इसलिए उन्होंने द्रविड़ों के साथ दासों जैसा व्यवहार करना आरम्भ कर दिया। परिणामस्वरूप अधिकांश द्रविड़ या तो दक्षिण भारत में जाकर बस गये अथवा आर्यों का दासत्व स्वीकार कर लिया। उत्तर वैदिक एवं महाकाव्य काल में आर्य एवं अनार्य के बीच की खाई कम हुई एवं एक मिले-जुले सांस्कृतिक तंत्र का विकास हुआ। परिणामस्वरूप धर्म, भाषा, संस्कृति और रीति–रिवाजों के क्षेत्र में धीरे–धीरे उत्तर और दक्षिण भारत के बीच का अन्तर उत्तरोत्तर कम होता गया। प्रादेशिकवाद की धारणा को ब्रिटिश शासनकाल में काफी प्रोत्साहन मिला। इसके फलस्वरूप दक्षिण भारत के बहुत से व्यक्तियों की यह धारणा बन गयी कि उत्तर भारत की संस्कृति दक्षिण भारत से पूर्णतया भिन्न है और उत्तर भारत के लोगों के विरुद्ध अपने को संगठित किये बिना दक्षिण के लोगों के हितों को सुरक्षित नहीं रखा जा सकता। उत्तर भारत के लोगों का भारत की राजनीतिक और संस्कृति पर अधिक समय से प्रभुत्व था, इस कारण उनमें किसी ऐसी विरोध भावना को प्रोत्साहन नहीं

मिला। जबकि दक्षिण भारत के विभिन्न प्रदेशों ने बहुत व्यापक रूप से उत्तर भारत में प्रचलित भाषाओ, धार्मिक विश्वासों, राजनीतिक योगदान तथा सांस्कृतिक प्रतिमानों का विरोध करना आरम्भ कर दिया। दक्षिण भारत में अनेक राजनीतिक दलों ने भी अपनी सस्ती लोकप्रियता के लिए ऐसे विरोध को और अधिक प्रोत्साहन दिया है। आज दक्षिण भारत में हिन्दी का विरोध होना, उत्तर भारत के रीति–रिवाजो का अनादर करना, रामलीला में रावण–दहन को द्रविडो का अपमान समझना आदि इसी मनोवृत्ति के परिचायक हैं। यह सभी परिस्थितियॉ भारतीय समाज के राष्ट्रीय और भावनात्मक एकीकरण के सामने एक गम्भीर खतरा उत्पन्न कर रही हैं।

उत्तर तथा दक्षिण के विवाद का सम्बन्ध केवल कुछ भ्रान्तियों से है, वास्तविकताओं से नहीं। इन भ्रान्तियों को बढ़ावा देने में पश्चिमी इतिहासकारों एवं राजनीतिज्ञों का योगदान सबसे अधिक रहा है। वर्तमान भारतीय समाज एक धर्म-निरपेक्ष और कल्याणकारी समाज है। इसमे सभी धर्मों, जातियों और प्रदेशों का समान महत्व है। इसके अतिरिक्त प्रजाति, भाषा, धर्म और राजनीति के आधार पर जिन विवादों को प्रोत्साहन दिया जाता है, उनके पीछे भी कोई वास्तविकता नहीं है –

1. सर्वप्रथम, कोई व्यक्ति आज यह दावा नहीं कर सकता कि उत्तर भारत के निवासिंयों की प्रजातीय विशेषतायें दक्षिण भारत के निवासियों से पूर्णतया भिन्न हैं। भारत में सुदूर अतीत से ही जनसंख्या के प्रजातीय तत्वों में इतना अधिक मिश्रण हुआ है कि आज सभी क्षेत्रों के लोगों में एक से अधिक प्रजातियों की शारीरिक विशेषताओं का समावेश हुआ है। इस प्रकार दक्षिण भारत को द्रविड़ो का स्थान और उत्तर भारत को आर्यों का निवास स्थान मानना एक भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

2. उत्तर और दक्षिण भारत में भाषा की भिन्नता का प्रश्न भी केवल एक भ्रान्ति है। वास्तव में उत्तर और दक्षिण भारत की अधिकांश भाषाओं पर संस्कृत भाषा का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा और इस प्रकार सभी का उद्‌गम स्रोत एक ही है। भाषा की भिन्नता के आधार पर विभिन्न राज्यो का निर्माण होना उनकी पृथक् संस्कृति को स्पष्ट नहीं करता बल्कि ऐसा

केवल प्रशासनिक सुविधा को दृष्टि में रखकर किया गया था। भाषा केवल अभिव्यक्ति का साधन है, इसमें किसी प्रकार की श्रेष्ठता अथवा निम्नता का प्रश्न नहीं उठता।

3. भारत में सभी स्थानो में धार्मिक विश्वास एक जैसे हैं। उनमें उत्तर अथवा दक्षिण के विभेद का प्रश्न ही नहीं उठता। उत्तर भारत के लाखों हिन्दू दक्षिण भारत के मन्दिरों को उतनी ही पवित्रता और श्रद्धा से देखते हैं जितना कि उत्तर भारत के मन्दिरों को। दक्षिण भारत से भी मथुरा, काशी, अयोध्या, हरिद्वार, बद्रीनाथ इत्यादि के दर्शनों के लिए हजारो यात्री प्रतिदिन आते रहते है। यह स्थिति सभी भारतीयों की धार्मिक एकता को स्पष्ट करती है, धार्मिक विभिन्नता को नहीं।

4. भारत की राजनीति सभी प्रदेशों के लोगों को राजनीति में भाग लेने में अपनी प्रतिभा को दिखाने का अवसर प्रदान करती है। केन्द्र सरकार में राज्यों का अपनी जनसंख्या के अनुपात में न्यायपूर्ण प्रतिनिधित्व है। फिर किसी विशेष क्षेत्र का राजनीतिक प्रभुत्व होने का दावा किस प्रकार किया जा सकता है।

5. आज भारतीय समाज में सभी व्यक्तियों को उद्योग और रोजगार में अपनी प्रतिभा और कार्यकुशलता को प्रदर्शित करने का समान अवसर मिला हुआ है। सरकारी नौकरि़यों में नियुक्तियॉ योग्यता के आधार पर होती है, प्रादेशिकवाद के आधार पर नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि उत्तर और दक्षिण के विवाद में किसी प्रकार की वास्तविकता नहीं है। यह विवाद केवल कुछ स्वार्थ–समूहों की संकुचित मनोवृत्ति का परिचायक है। वास्तव मे भारत एक इकाई है। सभी राज्य एव क्षेत्र इस अखण्ड इकाई के समान अंग है। चीन और पाकिस्तान से हुए पिछले युद्धों में भारत के सभी क्षेत्रों के निवासियों ने जिस एकता का परिचय दिया, वही एकता भारतीय राष्ट्र की मूल आत्मा है। इसी एकता को और अधिक मजबूत बनाकर भारत राष्ट्र का वास्तविक अर्थों में एकीकरण किया जा सकता है।

6.3 राष्ट्रीयता के तत्व

राष्ट्रीयता का उपयोग कभी–कभी राष्ट्रिक जाति की एक ऐसी अत्युक्तिपूर्ण भावना के लिए किया जाता है जो आक्रामक–सी होती है। यह दूषित भावना जो अपने राष्ट्र में और अपने राष्ट्र के कार्य में अच्छाई के अलावा और कुछ नहीं देखती, सच्ची राष्ट्रीयता नहीं है। राष्ट्रवाद वह ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा राष्ट्रिक-जातियाँ राजनीतिक इकाइयां में बदल जाती है। सच्ची राष्ट्रीयता एक स्पष्ट एवं सुदृढ़ राष्ट्रिक–जाति के लोगों को धरती पर अपना स्थान प्राप्त करने के उचित अधिकार का समर्थन करती है (आशीर्वादम् एवं मिश्र, 1992, पृ० 702)।

भारतीय समाज में इतनी अधिक विभिन्नताओं के होते हुए भी एक मूलभूत एकता के दर्शन होते हैं। भारतीय संस्कृति की मूलभूत एकता का वर्णन करते हुए सी० ई० एम० जोड ने कहा कि जो भी कारण हों, विचारों तथा जातियों के अनेक तत्वों में समन्वय अनेकता में एकता उत्पन्न करने की भारतीयों की योग्यता एवं तत्परता ही मानव जाति के लिए भारत की विशिष्ट देन रही है। इसी प्रकार पं० जवाहर लाल नेहरू ने कहा, "भारत का विहंगावलोकन करने वाले भारत की अनेकता और विभिन्नता से बहुत अधिक प्रभावित हो जाते हैं। वे भारत की एकता को साधारणतया नहीं देख पाते, यद्यपि युगों–युगों से भारत की मौलिक एकता ही उसका महान एवं मौलिक तत्व रहा है। पांच हजार वर्ष पूर्व सिन्धु घाटी सभ्यता उत्तर भारत में पुष्पित–पल्लवित हुई और कदाचित दक्षिण भारत तक फैल गयी। इतिहास के उस प्रभाव से अनगिनत जातियाँ, विजेता, तीर्थ–यात्री एवं छात्र एशिया की ऊँची–ऊँची भूमि से भारत के मैदानों में सैर के लिए आये, उन्होंने भारतीय जीवन, संस्कृति और कला को प्रभावित किया, किन्तु वे इसी देश में विलीन हो गये। इन सम्पर्कों से भारत में परिवर्तन हुआ किन्तु उसकी आत्मा मौलिक रूप से यथावत बनी रही। यह तभी सम्भव हुआ होगा जब भारत में मौलिक एकता की भावनाओं की जड़ें गहराई तक गयीं हैं, जब उन्हें नवागन्तुकों ने भी स्वीकार किया हो।" हबर्ट रिजले ने भी भारत की अनेकता में एकता के दर्शन करते हुए कहा कि भौतिक और सामाजिक प्रकार भाषा, प्रथा और धर्म की अत्यन्त विविधता जो भारत में आने वाले किसी भी अवलोकनकर्त्ता को दिखायी पड़ती है, उसके मूल में हिमालय से कन्याकुमारी

अन्तरीप तक जीवन की कुछ न कुछ आन्तरिक एकरूपता के दर्शन फिर भी किये जा सकते है (सईद, 1996, पृ० 380)। यही एकता वह दृढ आधार है जिसकी सहायता से यहॉ एक सगठित राष्ट्र का निर्माण किया जा सकता है। हमारे राष्ट्रगान की पंक्तियां इस विविधता में भी एकता का सुन्दरतम् प्रतिनिधित्व करती हैं। भारत के सन्दर्भ में राष्ट्रवाद के तत्व इस प्रकार से है :–

6.3.1 धार्मिक एकता

हमारे समाज में विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों का आधिक्य होने के पश्चात भी सभी धार्मिक सम्प्रदाय साथ-साथ रहने के कारण एक दूसरे के समीप आये हैं और उन्होंने धार्मिक संघर्षो की अपेक्षा एक–दूसरे के धर्मो की विशेषताओं को समझने तथा उन्हें अपने में आत्मसात करने का प्रयत्न किया है। हिमालय से लेकर कुमारी अन्तरीप तक और कश्मीर से लेकर जगन्नाथपुरी तक फैले हुए धार्मिक स्थान इस एकता को और अधिक दृढ़ बनाते हैं। राम और कृष्ण को संस्कृत एवं हिन्दी में जितनी अधिक लोकप्रियता है, तमिल, तेलगु, कन्नड़ और मलयालम में भी उन्हें उतने ही उत्साह से सुना जाता है। धार्मिक कर्मकाण्ड सभी धर्मों में विद्यमान हैं और इसलिए किसी धर्म का भी दूसरे से विरोध नहीं है। गीता एवं उपनिषदों को सभी धर्मों के व्यक्ति ज्ञान का स्रोत मानते हैं और भारतीय शास्त्रों के अध्ययन ने इन विभिन्नताओं को एकता के सूत्र में बाँधने में और अधिक योगदान दिया है।

6.3.2 भाषाई एकता

राष्ट्रीयता का सबसे अधिक स्पष्ट तत्व भाषा है। राष्ट्र के निर्माण में जाति की अपेक्षा भाषा का महत्व अधिक है। सामान्य भाषा लोगो के विचारों और भावों में समानता लाती है, नैतिकता आचार और न्याय के सामान्य मानदण्ड स्थिर करती है, सामान्य ऐतिहासिक परम्पराओं को कायम रखती है और एक सामान्य राष्ट्रीय मनोवृत्ति को पैदा करती है। भारत को भाषा के आधार पर विभिन्नता से युक्त नहीं कहा जा सकता। यहाँ की अधिकांश भाषाओं का मूल संस्कृत भाषा है और बाहर से आकर बसने वाले समूहों की भाषाओं पर भी इसका व्यापक प्रभाव पड़ा है। वास्तविकता यह है कि ईसा के 400 वर्ष पूर्व तक भारत में संस्कृत भाषा ही लेखन और व्यवहार की भाषा रही। इसके पश्चात् संस्कृत भाषा के स्थान पर प्राकृत

भाषा प्रचलित हुई जो संस्कृत का ही एक सरल रूप थी। तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व में संस्कृत भाषा से ही पाली का विकास हुआ, जिसमें अधिकांश जैन और बौद्ध साहित्य की रचना हुई। सम्राट अशोक ने भी पाली भाषा को सम्पूर्ण देश में व्यापक रूप से प्रोत्साहन दिया। इसी प्रकार हिन्दी, बांग्ला, गुजराती, मराठी, पंजाबी, असमिया एवं उड़िया भाषायें भी संस्कृत भाषा का ही सरल रूपान्तरण है, जिनका विकास स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार होता रहा। इन भाषाओं की लिपि में भी इतनी समानता है कि इनको पृथक्–पृथक् भाषायें न कहकर केवल एक ही संस्कृत भाषा के विभिन्न संस्करण कहना उचित होगा तमिल, तेलगु और कन्नड़ भाषाओ पर भी संस्कृत का प्रभाव कम नहीं है और वास्तविकता तो यह है उर्दू भाषा भी कोई पृथक् भाषा न होकर पारसी और संस्कृत का ही एक समन्वय है। इस प्रकार भाषा के आधार पर हमारे समाज की संस्कृति को किसी प्रकार भी विभाजित अथवा विविधतायुक्त नहीं कहा जा सकता है।

6.3.3 सामाजिक एकता

भारतीय समाज के मूल में एकता विद्यमान है। युगों–युगों तक यहाँके समूह की सामाजिक विशेषताओं का दूसरे ने अनुसरण किया है। इसका परिणाम यह है कि एक समूह की सामाजिक प्रगति अथवा समस्याओं का सम्बन्ध केवल उसी समूह से न होकर बल्कि सम्पूर्ण भारतीय समाज से है। हमारे समाज में परिवार व्यवस्था, स्तरीकरण की व्यवस्था, सम्बन्धों का स्वरूप, सामाजिक प्रथायें और शिष्टाचार के तरीकों में कोई भी मौलिक भेद नहीं है। जाति व्यवस्था न केवल हिन्दुओं मे विद्यमान है बल्कि इसका मुसलमानों व ईसाईयों पर भी उतना ही प्रभाव है। रक्त की विशुद्धता की भावना सभी व्यक्तियों को प्रभावित करती है। विवाह से सम्बन्धित प्रथाओं ने एक–दूसरे समूहों को इतना अधिक प्रभावित किया है कि आज सभी समूह एक ही दिशा की ओर बढ़ रहे प्रतीत होते हैं। उत्सवों और आयोजनों में प्रत्येक धर्म, जाति और प्रदेश के व्यक्ति साथ–साथ भाग लेते हैं। बड़ों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने और शिष्टाचार के तरीकों में इतनी अधिक समानता है कि इसके आधार पर किसी समूह को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि भारत में एक भारतीय समाज के दर्शन होते हैं।

6.3.4 सांस्कृतिक एकता

यदि राष्ट्रीयता मूलरूप में सांस्कृतिक धारणा है तो विचारों और आदर्शों की एकता अवश्य ही उसका एक मुख्य तत्व है। संस्कृति की एकता में सामान्य रीतियाँ और व्यवहार, सामान्य परम्परायें और साहित्य, सामान्य लोककथा, काव्य और कला भी शामिल है। संस्कृति की एकता जीवन को एक विशिष्ट दृष्टिकोण प्रदान करती है, जिसमें जीवन के मानदण्ड, कर्त्तव्य और निषेध मौजूद होते है। विचारो और आदर्शो की सामान्य एकता लोगो को परस्पर समीप खींच लाती है और उनमें सहयोग की एक ऐसी भावना पैदा कर देती है जो आसानी से नष्ट नहीं की जा सकती। राष्ट्रीय साहित्य, शिक्षा, संस्कृति और कला, राष्ट्रीयता के कारण और परिणाम दोनों ही हो सकते हैं। यद्यपि राष्ट्रीय साहित्य स्वयं राष्ट्रीयता का निर्माण नहीं करता फिर भी वह राष्ट्रीयता की भावना को मजबूत अवश्य ही बना सकता है। जीवन के दृष्टिकोण में समानता लाने तथा एक ही मानदण्ड कायम करने में राष्ट्रीय शिक्षा महत्वपूर्ण भाग ले सकती है। यदि राष्ट्रीय शिक्षा का सही उपयोग किया जाये तो वह नैतिक एकता, सत्–असत् का सामान्य विवेक तथा अधिकांश विषयों में विचारों की एकता उत्पन्न कर सकती है। राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माण में राष्ट्रीय इतिहास और परम्परायें महत्वपूर्ण तत्व हैं (आशीर्वादम् एवं मिश्र, 1992, पृ० 707)।

भारत में आज किसी भी धार्मिक अथवा क्षेत्रीय समूह की अपनी कोई पृथक् संस्कृति नहीं है। बल्कि संस्कृति के क्षेत्र में सभी के बीच स्पष्ट समानता है। हमारे समाज में वेश-भूषा की भिन्नता उसी प्रकार की है, जिस प्रकार एक ही परिवार के व्यक्ति अपनी-अपनी रुचि के अनुसार वस्त्र पहनते हैं और बहुधा एक-दूसरे के वस्त्रों को लेकर रुचि परिवर्तन करते रहते हैं। सम्पूर्ण भारत में खान–पान के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व मिश्रण हुआ है। एक प्रदेश के खान–पान दूसरे प्रदेशों में अपनाया गया और एक धर्म के विश्वासों को दूसरे धर्म ने मान्यता दी है। मस्जिदों में मन्दिरों की शिल्प कला का आधिक्य है। गिरिजाघरों ने हिन्दू-मूर्तिकला को अपनाया है तो हिन्दुओं ने उनके धार्मिक प्रवचनों को। मुसलमानों में एक विवाह के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है जबकि हिन्दुओं में अद्वैतवाद की प्रवृत्ति का विकास हो रहा है। इस प्रकार सभी धर्मों, सभी जातियों और सभी भाषा–भाषी समूहों के बीच संस्कृति के समान तल विकसित हो रहे हैं।

6.3.5 प्रजातीय एकता

राष्ट्रीयता का निर्माण करने और उसको मजबूत बनाने में प्रजातीय एकता का बहुत महत्व है। प्रजातीय एकता से राष्ट्रीयता सुदृढ़ तो होती है, पर अनिवार्य नहीं है। राष्ट्रीयता की प्रारम्भिक अवस्था में प्रजातीय एकता अधिक महत्वपूर्ण है, बाद की अवस्था में कम। कोई भी राष्ट्र अधिक समय तक नहीं टिक सकता यदि उसके प्रजातीय वर्गों में तीव्र विभेद हो (आशीर्वादम् एवं मिश्र, 1992, पृ० 705–706)।

प्रजातीय आधार पर भारतीय समाज को विभिन्नता से युक्त मान लेना सबसे बड़ी भ्रान्ति होगी। हालांकि प्रागैतिहासिक काल से ही भारत प्रजातियों का एक संग्रहालय रहा है, किन्तु प्रत्येक प्रजातीय समूह का दूसरे से इतना अधिक मिश्रण हुआ है कि भारत में आज किसी भी विशुद्ध प्रजाति के होने की कल्पना नहीं की जा सकती है। यद्यपि उत्तर भारत के निवासियों के रंग तथा शारीरिक संरचना में देश के अन्य भागों के निवासियों से कुछ भिन्नता अवश्य है, लेकिन यह भिन्नता प्रजातीय न होकर भौगोलिक दशाओं से सम्बद्ध है। इसके अतिरिक्त भारत के प्रत्येक भाग में भी सभी प्रकार की शारीरिक विषमताओं वाले व्यक्ति साथ–साथ पाये जाते हैं। लेकिन देश के विभिन्न भागों के निवासियों के रक्त में कोई स्पष्ट भिन्नता नहीं है।

6.3.6 राजनीतिक एकता

भारतीय समाज में निहित एकता को हम अपनी राजनीतिक एकता के आधार पर सरलतापूर्वक समझ सकते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत पर जब कभी भी विदेशी आक्रान्ताओं के आक्रमण हुए हैं तब सभी भारतीयों ने मिलकर उनका सम्पूर्ण शक्ति के साथ सामना किया। प्राचीन समय में अश्वमेध और राजसूय यज्ञ भी इसी राजनीतिक एकता को बनाये रखने के लिए ही किये जाते थे। 20 वीं शताब्दी में अंग्रेजी शासन के विरूद्ध सभी भारतीय एक थे। उनमें कोई भी व्यक्ति हिन्दू, मुसलमान, सिख, पारसी, बंगाली, मराठी अथवा मद्रासी न होकर केवल भारतीय था। इसी राजनीतिक एकता के फलस्वरूप भारत विभिन्नता में भी एकता का आदर्श प्रस्तुत करके संसार में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर सका। स्वतन्त्रता के पश्चात् भी हमारे संविधान में सभी को समान अधिकार दिये गये हैं और किसी भी व्यक्ति

को धर्म, जाति अथवा लिंग के आधार पर किसी से उच्च अथवा निम्न नहीं समझा जाता। सभी धर्मो, सभी प्रदेशों, सभी भाषाओं और सभी जनजाति के व्यक्तियों का शासन में समान योगदान और सभी व्यक्तियों का इस धर्म-निरपेक्ष समाजवादी राष्ट्र की उन्नति में महत्वपूर्ण योगदान हैं।

6.4 भारत की राष्ट्रीय एकता में बाधक तत्व

एक धर्मनिरपेक्ष तथा कल्याणकारी राष्ट्र के रूप में भारत अनेकता में एकता का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। लेकिन आज भी अनेक शक्तियाँ भारत में राष्ट्रीय एकता के सामने गम्भीर बाधा उत्पन्न कर रही हैं। इन्हीं के प्रभाव से राष्ट्रीय एकीकरण के लक्ष्य में उतनी सफलता प्राप्त नहीं की जा सकी है जितनी स्वतन्त्रता के पश्चात की जा सकती थी। राष्ट्रीय एकता में बाधक इन तत्वों का विवेचन इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :

6.4.1 साम्प्रदायिकता

धर्म भारतीय जीवन का एक अभिन्न अंग रहा है और उसका कार्य समाज को एक सूत्र में पिरोने का था परन्तु आधुनिक समय में साम्प्रदायिकता की समस्या इससे जुड़ गयी जो वास्तव में विदेशी शासकों की 'फूट डालो ओर राज्य करो' वाली नीति का परिणाम है। धर्म का प्रयोग इस सीमा तक किया गया कि भारत एक स्वतन्त्र राष्ट्र बनने से पूर्व ही दो भागों में विभक्त हो गया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधीन राष्ट्रवाद की उग्र होती हुई भावना को कमजोर बनाने के लिए अंग्रेज शासकों ने देश के मुस्लिम बुद्धिजीवियों को एक शक्तिशाली अल्पसंख्यक वर्ग के रूप में प्रोत्साहित किया और उनमें अलगाव की भावना को प्रोत्साहन दिया जिसकी परिणति भारत के विभाजन और पाकिस्तान के निर्माण में हुई (सारस्वत, 1991, पृ० 95)। पाकिस्तानी प्रचार भी इस देश में साम्प्रदायिकता को और अधिक कटु बनाने में मदद कर रहा है जो कि न तो स्वयं उसके लिए और न ही भारत के लिये हितकर है। फिर भी जनसंख्या के दृष्टिकोण से भारत में हिन्दुओं की संख्या सर्वाधिक है, अतः साम्प्रदायिकता विहीन वातावरण को उत्पन्न करने और उसे बनाये रखने का उत्तरदायित्व भी उन्हीं का है, यद्यपि इस दिशा में प्रत्येक भारतवासी को क्रियाशील होना पड़ेगा। परन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् साम्प्रदायिक दल एक

नये रूप में सामने आये। मुस्लिम लीग, मजलिसे–मुशाविरात, हिन्दू महासभा, विश्व हिन्दू परिषद, अकाली दल एवं शिव सेना इत्यादि ऐसे दल हैं जिनकी आत्मा में साम्प्रदायिकता है, यद्यपि ऊपर से वे राजनीतिक चोला ही पहने हुए है। यही कारण है कि पंजाब में भाषा की आड़ लेकर एक सम्प्रदाय विशेष ने एक पृथक् साम्प्रदायिक राज्य बनाने के स्वप्न देखे, उसके लिए आन्दोलन चलाया; दूसरे ने विरोध किया फलतः पंजाब साम्प्रदायिक तनाव का युद्ध क्षेत्र बन गया। उधर केरल में साम्यवादी दल को पराजित करने के लिए कांग्रेस ने मुस्लिम लीग में प्राण फूंके फलतः मुस्लिम साम्प्रदायिकता सम्पूर्ण देश में सिर उठाने लगी। दिल्ली में हुए मुस्लिम सम्मेलन में यह विचार व्यक्त किया गया कि भारत में मुसलमानों का जीवन, सम्मान और सम्पत्ति सुरक्षित नहीं है। नौकरियों में भर्ती के समय मुसलमानों से भेदभाव किया जाता है तथा पुलिस एवं सेना के द्वार उनके लिए विशेष रूप से बन्द रहते हैं। दूसरी ओर हिन्दू राष्ट्र का नारा लगाने वाली साम्प्रदायिक संस्थायें भी अपना–अपना राग अलापती हैं। आज हिन्दू या मुसलमान प्रत्याशी चुनाव के समय हिन्दू या मुसलमान होने के आधार पर हिन्दू या मुसलमान से वोट की माँग करता है और उसे मतदाता वोट देते भी हैं। संकीर्ण साम्प्रदायिकता के पंजों में फँसे ये लोग अपने को भारतवासी कहलाने से पूर्व हिन्दू या मुसलमान कहलाना अधिक पसन्द करते हैं। जब लोग साम्प्रदायिकता का उल्लेख करते हैं तो उनका संकेत विशेष रूप से हिन्दू और मुस्लिम समुदायों के बीच पाये जाने वाले तनाव की ओर होता है। यद्यपि साम्प्रदायिकता केवल हिन्दू और मुसलमानों तक ही सीमित नहीं है, फिर भी इनकी संख्या अधिक होने के कारण ये ही प्रमुख रूप से सम्बन्धित माने जाते हैं (मुकर्जी, 2001, पृ० 431–432)। उत्तर–पूर्व भारत विशेषकर नागालैण्ड में ईसाइयों द्वारा बड़ी संख्या में हिन्दुओं को ईसाई बनाने का अभियान गत तीन दशकों में बहुत तेजी पर रहा। ईसाई मिशनरियों की इस प्रकार की गतिविधियों का हिन्दुओं की ओर से घोर विरोध किया गया। पंजाब में हिन्दुओं और सिखों के बीच जो टकराव है, उससे सिख साम्प्रदायिकता अपने उग्र रूप में सामने आई है। उल्लेखनीय है कि सभी धर्म आन्तरिक रूप से भी विभाजित दिखायी देते हैं। उदाहरणार्थ, मुसलमान दो प्रमुख सम्प्रदायों शिया और सुन्नी के बीच विभाजित हैं और देश के कुछ भागों में उनके बीच काफी तनाव रहता है। इसी प्रकार निरंकारी और अकाली सिखों के बीच हिंसात्मक झगड़े हुए हैं। संक्षेप में, एकीकरण में समस्या केवल दो धर्मों के अनुयायियों के बीच की नहीं है, बल्कि एक ही धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों

को भी एकता के सूत्र में बाँधने की समस्या है (सईद, 1996, पृ० 367)। यही वह साम्प्रदायिकता है जो कि आज भारत के राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में एक मजबूत चट्टान बनी खड़ी है।

6.4.2 भाषा विवाद

भारत में आज भाषा के प्रश्न को लेकर भी एक विवादपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गयी है। इसके फलस्वरूप उत्तर प्रदेश और बिहार में उर्दू को राज्य भाषा का रूप देने के लिए आन्दोलन हुए, महाराष्ट्र में शिवसेना द्वारा मराठी का प्रयोग न करने वालों के विरुद्ध हिंसक प्रदर्शन हुए, तमिलनाडु में हिन्दी के विरुद्ध आन्दोलनकारी प्रवृत्ति अपनायी गयी, नागालैण्ड में अंग्रेजी को राज्य भाषा घोषित किया गया तथा पंजाब, असम और बंगाल में समय–समय पर अनेक उपद्रव हुए। भाषा के प्रश्न पर लोग यह भूल जाते हैं कि वे सब एक ही राष्ट्र के नागरिक हैं। ऐसे व्यक्ति भाषा को ही अपने अस्तित्व का आधार समझ बैठते हैं। वास्तविकता यह है कि भाषा केवल विचारों को अभिव्यक्त करने का एक साधन है और इससे व्यक्ति की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति पर कोई भी प्रतिकूल या अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ता। भाषा–विवाद अभी भी समाप्त नहीं हुआ है। इस सम्बन्ध में मुख्य प्रश्न राष्ट्रभाषा का है। संविधान के अनुसार सन् 1965 ई० तक हिन्दी भारतीय राष्ट्रभाषा व शासकीय भाषा हो जानी चाहिये थी, परन्तु जैसे–जैसे समय निकट आता गया अहिन्दी-भाषी लोग तथा अंग्रेजी भाषा के शुभचिन्तक हिन्दी का विरोध करने लगे क्योंकि उन्होंने अपने मन में यह गलत धारणा बना ली कि हो सकता है कि हिन्दी–भाषी उन पर शासन करने लगें। इसी कारण हिन्दी का विरोध हुआ। परन्तु हिन्दी प्रेमियों ने भी आन्दोलन शुरू कर दिया। इन्हीं आन्दोलनों व माँगों की छत्रछाया में उत्तर और दक्षिण का प्रश्न आया। कहने का तात्पर्य यह है कि भाषावाद ने भी राष्ट्रीय एकीकरण के लिये विरोधी परिस्थितियों को उत्पन्न किया और उन्हें बनाये रखा (मुकर्जी, 2001, पृ० 432)।

6.4.3 जातिवाद

भारत की राष्ट्रीय एकता की विरोधी शक्तियों में जातिवाद का महत्वपूर्ण स्थान है। यह प्रथा समाज को विभिन्न खण्डों में विभक्त कर देती है। फलतः ऐसे समाज में सामुदायिक

भावना सीमित होती है और समग्र समाज के प्रति न होकर एक जाति के सदस्यों का पहले अपनी जाति के प्रति नैतिक वफादारी होती है। स्पष्ट है कि यह स्थिति राष्ट्रीय एकता को पनपाने में बाधक सिद्ध होती है। जातिवाद विभिन्न जातियों के मध्य पाई जाने वाली खाई को और भी चौड़ा करता है तथा एक–दूसरे के प्रति घृणा, द्वेष या प्रतिस्पर्द्धा आदि के रूप में अभिव्यक्त होता है। अपनी ही जाति के स्वार्थों को सर्वोपरि समझना जातिवाद का सबसे मौलिक रूप है। जाति के आधार पर किसी के लिए कोई विशेषाधिकार नहीं होना चाहिए। जाति के आधार पर कर्त्तव्यविहीन विशेषाधिकार एक बुरी चीज है, पर उससे भी बुरी स्थिति जाति के आधार अधिकार विहीन कर्त्तत्यों का बोझ जिसके शिकार निम्न जातियों के लोग हैं। यह स्थिति निश्चय ही राष्ट्रीय एकता के लिये बाधक हैं क्योंकि इससे लोगों में कटुता, निराशा व द्वेष की भावना पनप जाती है। उदाहरणार्थ, ब्रिटिश काल में उच्च जातियों के सदस्यों को शिक्षा सम्बन्धी सुविधायें प्राप्त होने के कारण व्यापार, नौकरी आदि में भी वे आगे रहे। फलतः निम्न जातियों को समस्त सुविधाओं से वंचित रहकर अपनी दयनीय दशा में ही निवास करना पड़ा। इसके कारण उनमें एक विद्रोह की भावना स्पष्ट रूप में जागृत हुई और उन्हें भी अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिये एक आन्दोलन का सहारा लेना पड़ा और उन्हें विशेष सुरक्षा सरकार को प्रदान करनी पड़ी। इस प्रकार अधिकार के लिये छीना–झपटी के बीच एकता का वातावरण उत्पन्न नहीं हो सकता (मुकर्जी, 2001, पृ० 431)।

6.4.4 प्रादेशिकवाद

प्रादेशिकवाद एक भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाले लोगों के मनोभावों को व्यक्त करता है जिसके अनुसार उस क्षेत्र के लोग यह सोचते हैं कि उनकी भाषा, संस्कृति, इतिहास तथा सामाजिक परम्परायें अन्य क्षेत्रों से श्रेष्ठ हैं और इसलिए उन्हें अपना सर्वांगीण विकास करने का अधिकार है और उसके लिए किसी भी मूल्य पर उन्हें सब तरह की सुविधायें मिलनी चाहिये। इसके लिए वे राष्ट्र हित की तिलांजलि देने में भी संकोच नहीं करते। प्रादेशिकवाद का यह संकीर्ण रूप स्वतन्त्र भारत मे भी देखने को मिलता है। उत्तर और दक्षिण भारत के बीच जो मतभेद बहुधा प्रकट होते रहते हैं वे प्रादेशिकवाद के ही उदाहरण हैं। प्रत्येक क्षेत्र का निवासी अपने क्षेत्र को आर्थिक रूप से अधिक विकसित देखना चाहता है और इसलिए एक क्षेत्र उस दूसरे क्षेत्र की ओर उँगली उठाता रहता है जिससे कि विकास कार्यक्रम के

लिए केन्द्रीय सरकार से अधिक आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। इससे विभिन्न राज्यों के बीच कटु ईर्ष्या व प्रतिद्वन्दिता की भावना पनप जाती है जो कि अन्तिम रूप से राष्ट्रीय एकता की स्थापना में बाधक सिद्ध होती है (मुकर्जी, 2001, पृ० 432–433)।

6.4.5 आर्थिक विषमतायें

राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा आर्थिक विषमता है। मूलरूप से भारत एक समाजवादी देश है लेकिन अनेक दशाओं के संयुक्त प्रभाव से आज भी आर्थिक विषमता अपनी चरम सीमा पर है। एक ओर जहाँ करोड़ों लोग रोजगार पाने में असमर्थ हैं तो वहीं दूसरी ओर ऐसे व्यक्तियों की भी कमी नहीं है जो प्रतिदिन लाखों रुपये अर्जित करते हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् आर्थिक असमानता कम होने के स्थान पर और बढ़ गयी। यह आर्थिक विषमता समाज को अनेक आर्थिक वर्गों में विभाजित कर देती है और प्रत्येक वर्ग दूसरे को सन्देह तथा घृणा की दृष्टि से देखने लगता है। इससे कभी हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है तो कभी अपराधों की संख्या में वृद्धि होती है। स्वाभाविक है कि जहाँ समाज धनी-निर्धन, जमींदार-भूमिहीन कृषक, मालिक-मजदूर जैसे वर्गों में विभाजित हो जाता है तो वहाँ इन सभी वर्गों को एकता के सूत्र में बाँधना बहुत कठिन हो जाता है।

6.4.6 दूषित राजनीति

किसी भी समाज में राजनीतिक दलों का कार्य स्वस्थ जनमत का निर्माण करके व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बाँधना होता है। दुर्भाग्य से भारत में अधिकांश राजनीतिक दल सत्ता प्राप्त करना ही अपना एकमात्र कर्त्तव्य समझते हैं, इससे चाहे राष्ट्र को लाभ हो अथवा हानि। राजनीतिक दलों के अपने स्वार्थों के कारण अक्सर पारस्परिक द्वेष, हिंसा, साम्प्रदायिकता, आन्दोलनों, जातिवाद तथा प्रादेशिकवाद को भी प्रोत्साहन मिलता है।यह सभी परिस्थितियाँ राष्ट्रीय एकता के कार्य को बहुत कठिन बना देती हैं।

भारत अनेक राज्य–स्तरीय राजनीतिक पार्टियों का एक असमतल अखाड़ा है जहाँ वे आपस में ही अपनी–अपनी लोकप्रियता को बढ़ाने तथा राजनीतिक सत्ता को हथियाने में ऐसे मस्त हैं कि उन्हें एक सूत्र में बाँधना असम्भव हो गया है। इनमें से अधिकांश राजनीतिक

पार्टियॉ धर्म, प्रान्त, भाषा, जाति आदि के आधार पर अपनी लोकप्रियता को बनाये रखने में सफल हो रही हैं। हिन्दू महासभा, द्रविड़ मुनेत्र कडगम, बहुजन समाज पार्टी, समाजवादी पार्टी आदि दल बृहत्तर राष्ट्रीय दृष्टिकोण को अपनाने में आज भी पूर्णतया सफल नहीं हुई हैं। अतः इनके द्वारा जो प्रचार कार्य होते हैं वे बहुधा राष्ट्रीय एकता के अनुकूल नहीं हो सकते हैं। पर इससे भी अधिक क्षति राजनीतिक सेनाओं के द्वारा की जाती है। शिवसेना, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ एवं नक्सल आदि का उद्देश्य कितना ही ऊँचा क्यों न हो, फिर भी उनके क्रियाकलापों के प्रति पूर्ण विश्वास सभी भारतवासियों को आज भी नहीं है। इससे एकता का वातावरण पनपने में बाधा उत्पन्न होती है (मुकर्जी, 2001, पृ० 433)।

6.4.7 दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली

शिक्षा किसी भी समाज के संगठन और पुनर्निर्माण का आधार होती है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के इतने वर्ष बाद भी हम उस शिक्षा प्रणाली को त्याग नहीं पाये हैं जो कि अंग्रेज शासकों द्वारा हम पर थोपी गयी थी। आज भी हम सम्पूर्ण देश के लिए भारतीय पृष्ठभूमि व संस्कृति पर आधारित एक सामान्य शिक्षा व्यवस्था को विकसित नहीं कर पाये हैं, आज भी पाश्चात्य साहित्य व संस्कृति का अध्ययन हमारे लिये गौरव का विषय बना हुआ है। ऐसी अवस्था में शिक्षित लोगों की संख्या तो बढ़ती जा रही है किन्तु शिक्षित भारतवासियों की संख्या घटती जा रही है। वर्तमान शिक्षा ने लोगों को घोर स्वार्थी बना दिया है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय एकता कैसे सम्भव हो सकती है जबकि स्वयं हमारी शिक्षा व्यवस्था में हमें भारतीय समाज व संस्कृति की समान बातों और एकता के सूत्रों से परिचित होने का अवसर नहीं मिलता है (मुकर्जी, 2001, पृ० 434)।

6.4.8 विदेशी कूटनीति

आज अधिकांश विदेशी शक्तियाँ इस प्रयत्न में लगी हुई हैं कि भारत की आर्थिक और राजनीतिक प्रगति को किसी भी प्रकार बढ़ने से रोक दिया जाये। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कूटनीतिक रूप से देश में विघटनकारी परिस्थितियाँ उत्पन्न की जा रही हैं। अनेक गुप्त संगठनों द्वारा जगह–जगह आन्दोलनों और हिंसा के लिए आर्थिक सहायता देना भी इन

संगठनों का एक प्रमुख कार्य है। ऐसे सभी कूटनीतिक प्रयास हमारी राष्ट्रीय एकता को खतरे में डाल देते हैं।

6.4.9 युवा पीढ़ी में निराशा

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में शिक्षा का अत्यधिक विस्तार हुआ है जिसके फलस्वरूप प्रति वर्ष लाखों की संख्या में शिक्षित युवक–युवतियॉ कालेजों से निकल रहे हैं नौकरी पाने का असीम आग्रह लेकर। पर व्यावहारिक क्षेत्र में उन्हें घोर निराशा का सामना करना पड़ रहा है क्योंकि नौकरी की सुविधाओं का विकास आज भी इस देश में अत्यन्त अपर्याप्त है। फलतः देश की युवा पीढ़ी बेरोजगारी के कुचक्र में फँसकर निराशा का शिकार बनती जा रही है। जब अपनी ही समस्या को सुलझाने में वह अपने को असमर्थ पाते हैं तो वे राष्ट्र के हित की चिन्ता कैसे कर सकते हैं? उनमें निराशा के साथ-साथ अविश्वास की भावना भी पनपती है और वे समाज में जिस वातावरण की सृष्टि करते हैं वह केवल उनके ही जीवन को नहीं अपितु अन्य विद्यार्थियों के जीवन को भी धुंधला बना देता है और उनमें अनुशासनहीनता, समाज विरोधी क्रियाकलाप एवं राष्ट्र विरोधी विचारों को पनपाता है। उदाहरणार्थ, कश्मीर में भारतीय मूल के आतंकवादियों एवं बंगाल के नक्सलवादियों का एक बड़ा अंग बेरोजगार शिक्षित युवकगण ही हैं जो कि सम्पूर्ण वर्तमान राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था को घृणा की दृष्टि से देखता है और उसी घृणा–भाव को सम्पूर्ण समाज में फैलाकर वर्तमान व्यवस्था को पूर्णतया पलट देना चाहता है। यह स्थिति राष्ट्रीय एकता में बाधा उत्पन्न करती है (मुकर्जी, 2001, पृ०433–434)।

6.5 राष्ट्रीय एकीकरण के उपाय

राष्ट्रीय एकीकरण मूलतः एक सामाजिक समस्या है जिसे राजनीतिक रंग दे दिया गया है और इसने नारेबाजी का रूप धारण कर लिया है। धर्म, जाति, भाषा और क्षेत्र के आधार पर विभाजित समाज के विभिन्न वर्गों के बीच एकता की स्थापना बलपूर्वक नहीं की जा सकती। कानून सामाजिक परिवर्तन का एक प्रभावी साधन तो है, लेकिन इसे एक मात्र साधन के रूप में नहीं अपनाया जा सकता। सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए मानसिक परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। नागरिकों में आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था और उसकी

मान्यताओं के प्रति अटूट आस्था उत्पन्न करनी होगी, बिना विश्वास के आचरण मात्र दिखावा रह जाता है। एकीकरण का सार है अपनत्व की भावना, यह विश्वास कि विभिन्न धर्म और जाति से सम्बन्ध रखने के बाद भी हम मनुष्य होने और एक ही देश के वासी होने के कारण एक हैं। अतः विभिन्नताओं का ध्यान दिये बिना हमें देश और राष्ट्र के हितों को प्राथमिकता देनी चाहिए। एकीकरण के लिए आवश्यकता है बलिदान की भावना की, मानवतावादी भावना की, सहिष्णुता की और राष्ट्र के प्रति दृढ़ निष्ठा की। मनुष्य में इन गुणों का विकास मानसिक परिवर्तन के द्वारा ही लाया जा सकता है। इस प्रकार की मानसिक स्थिति को हम भावात्मक एकीकरण की संज्ञा देते हैं (सईद, 1996, पृ० 370–371)।

6.5.1 विद्वेषपूर्ण प्रचार पर नियन्त्रण

शासन द्वारा ऐसे सभी राजनीतिक दलों तथा संगठनों की कार्यविधियों पर अंकुश रखना जरूरी है जो विभिन्न क्षेत्रों, धर्मों, जातियों और वर्गों के व्यक्तियों के बीच पारस्परिक घृणा तथा विद्वेष का प्रचार करते हैं तथा उनको एक दूसरे के विरुद्ध भड़काते हैं। सभी प्रकार के साम्प्रदायिक तथा जातिवाद की भावना से परिपूर्ण प्रचार पर भी नियन्त्रण लगाना आवश्यक है।

जनमत–निर्माण में प्रेस की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। दुर्भाग्यवश भारत में प्रेस निष्पक्ष नहीं रहा है और उसने साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया है। प्रायः यह देखने में आता है कि देश के किसी भाग में हुई एक साम्प्रदायिक घटना को समाचार–पत्र बढ़ा–चढ़ा कर प्रकाशित करते हैं। परिणाम यह होता है कि समाज के सम्बन्धित वर्ग उत्तेजित हो उठते हैं और साम्प्रदायिक तनाव देश के दूसरे भागों तक फैल जाता है। यदि साम्प्रदायिक दंगों के कारणों का विश्लेषण किया जाये तो उसमें प्रेस की सक्रिय भूमिका दिखायी देगी। कुछ हिन्दी समाचार-पत्र हिन्दू साम्प्रदायिकता का और उर्दू समाचार-पत्र मुस्लिम साम्प्रदायिकता का खुलकर प्रचार करते हैं। अंग्रेजी समाचार-पत्रों पर भी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण अपनाने का बराबर आरोप लगाया जाता रहा है। इसी प्रकार कुछ समाचार–पत्र सत्तारूढ़ दल का आँख मूँद कर समर्थन करते हैं और कुछ समाचार पत्र कठोरता के साथ सरकार–विरोधी दृष्टिकोण रखते हैं। इससे स्वस्थ जनमत का निर्माण नहीं होता है एवं समाज के विभिन्न वर्गों के बीच

दूरी बढ़ जाती है। ऐसे विद्वेषपूर्ण प्रचार करने वाले समाचार–पत्रों पर नियन्त्रण लगाया जाना चाहिए (सईद, 1996, पृ० 372)।

6.5.2 शिक्षा में सुधार

भारत में राष्ट्रीय एकीकरण के लिये शिक्षा के स्वरूप को राष्ट्रीय परिवेश में ढालने की विशेष आवश्यकता है। शिक्षा को ऐसे माध्यम का रूप दिया जाना चाहिए, जिससे सभी क्षेत्रों में शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी राष्ट्र की समस्याओं को समझ सके तथा विभिन्न क्षेत्रों की संस्कृति और सामाजिक विशेषताओं से परिचित हो सकें। राष्ट्रीय एकीकरण के लिए जनता को इस आदर्श के प्रति वचनबद्ध होने के लिए शिक्षित करना आवश्यक है। वस्तुस्थिति यह है कि उच्च शिक्षा ग्रहण किये हुए लोग भी साम्प्रदायिकता और प्रादेशिकवाद जैसे विघटनकारी तत्वों को बढ़ावा देने में सक्रिय भाग ले रहे हैं जिससे ऐसा लगता है कि वर्तमान शिक्षा व्यवस्था दिलों को जोड़ने में असफल हो रही है। आवश्यकता इस प्रकार की शिक्षा की है जो वास्तव में व्यक्ति के दिल व दिमाग को इस प्रकार बदल दे कि वे संकीर्णता से ऊपर उठकर एक सार्वभौमिक समाज का निर्माण कर सकें (सईद, 1996, पृ० 371)।

6.5.3 राष्ट्रीय भाषा

भारत के एकीकरण के लिए यह आवश्यक है कि देश के सभी लोग अपने विचारों की अभिव्यक्ति सामान्य भाषा के माध्यम से करें। क्षेत्रीय भाषाओं का विकास आवश्यक है परन्तु सम्पूर्ण देश के प्रशासन का संचालन करने और एकरूपता स्थापित करने के लिये सम्पूर्ण देश में एक भाषा का प्रचलन आवश्यक है। इससे एकीकरण की अनेक समस्यायें स्वतः हल हो जायेंगी।

6.5.4 अल्पसंख्यकों का संरक्षण

अल्पसंख्यक वर्ग मनोवैज्ञानिक कारणों से कुछ ज्यादा संवेदनशील होता है, उसकी अपनी कुछ समस्यायें होती हैं। समाज के अल्पसंख्यक समूहों में सुरक्षा की भावना उत्पन्न करने और राष्ट्र के प्रति उनकी निष्ठा में वृद्धि करने के लिए आवश्यक है कि उन पर बहुसंख्यकों के दबाव को कम किया जाये। यद्यपि वर्तमान शासन इस कार्य को करने के

लिये पहले से ही काफी जागरूक है तथापि ऐसे समूहों की संस्कृति तथा संस्थागत विशेषताओं को सुरक्षित रखने के लिए यदि विशेष केन्द्रों की स्थापना की जाये तो राष्ट्रीय एकीकरण को और अधिक बल मिल सकता है।

6.5.5 साम्प्रदायिक संगठनों पर नियन्त्रण

वर्तमान सन्दर्भों में भारत में कार्यरत ऐसे सभी संगठनो पर नियन्त्रण लगाये जाने की आवश्यकता है जो किसी विशेष धर्म, जाति अथवा क्षेत्रीय भावना को प्रोत्साहन देने के लिए संगठित हैं। भारत में आज भी शिक्षा, समाज सुधार तथा जनजातीय जीवन में ऐसे संगठन दूषित वातावरण उत्पन्न कर रहे हैं, जिन पर अतिशीघ्र ही नियन्त्रण लगाया जाना आवश्यक है।

6.5.6 आर्थिक न्याय की स्थापना

देश के विभिन्न भागों में पाया जाने वाला आर्थिक असन्तुलन और समाज के विभिन्न वर्गों के बीच बढ़ती हुई आर्थिक विषमता राष्ट्रीय एकीकरण में अत्यधिक बाधक है। आवश्यकता इस बात की है कि आर्थिक शोषण का अन्त हो, रोजगार के उचित अवसर उपलब्ध हों और समाज का प्रत्येक वर्ग एवं व्यक्ति इस स्थिति में हो कि कम से कम उसकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। आर्थिक विषमता पारस्परिक वैमनस्य और ईर्ष्या को जन्म देती है जो राष्ट्रीय एकीकरण के लिए बाधक है (सईद, 1996, पृ० 372)।

6.5.7 नैतिक शिक्षा को प्रोत्साहन

भारत धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त और व्यवहार में विश्वास रखता है, परन्तु यह धर्म विरोधी राज्य नहीं है। भारत के सभी धर्म मूल रूप से मानवीय गुणों के विकास पर जोर देते हैं। समय की माँग के अनुसार आज समाज में जिन मानवीय गुणों के विकास की आवश्यकता है, वे ही वर्तमान समाज की नैतिकता भी हैं। इस प्रकार की नैतिक शिक्षा द्वारा अनुशासन में भी वृद्धि होगी और इससे राष्ट्रीय एकीकरण को प्रोत्साहन मिलेगा।

उपर्युक्त प्रयासों के अतिरिक्त समाज में वर्ग संघर्ष की भावना को कम करना, सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र की सभी सेवाओं में सभी जातियों और सभी क्षेत्रों के लोगों को समान अवसर प्रदान करना, सामाजिक रूढ़िवादिता को कम करना और आधुनिकता के नाम पर पाश्चात्य समाज के अनुपयोगी व्यवहारों को निरुत्साहित करना भी राष्ट्रीय एकता की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयत्न सिद्ध होंगे।

भारत में आज जो भी विविधतायें परिलक्षित होती हैं वे केवल वाह्य हैं। आन्तरिक रूप से इन विविधताओं के बीच वह मूल एकता विद्यमान है, जिसके फलस्वरूप एक राष्ट्र के रूप में भारत युग–युगान्तरों से अपने अस्तित्व को बनाये हुए है। जो विद्वान भारतीय संस्कृति को विभिन्नता बताकर इसकी निर्बलता की ओर संकेत करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि यही वह देश है, जिससे शिक्षा लेने के लिए शक, हूण, कुषाण, मंगोल, तुर्क, मुगल, अंग्रेज तथा अनेक मानव समूह यहाँ आये और भारतीय संस्कृति के रंग में रंग गये। भारत में विभिन्न धर्मों का आगमन अवश्य हुआ किन्तु इन धर्मों के अनुयायी भारतीय ही रहे। आज जो भी व्यक्ति धर्म के आधार पर हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, बौद्ध, जैन एवं पारसी इत्यादि के बीच पृथक्तावाद और साम्प्रदायिकता फैलाते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि इन धर्मों के अनुयायी मूल रूप में हिन्दू या विस्तृत अर्थ में भारतीय ही हैं। ये भारतीय समाज से पृथक् होने की बात नहीं सोचते। वास्तविकता यह है कि संस्कृति कोई मूर्त वस्तु नहीं है। इसका सम्बन्ध विचारों, विश्वासों, सामाजिक मूल्यों, भावनाओं और परम्पराओं से होता है। संस्कृति की अभिव्यक्ति कला, धर्म, नैतिकता और व्यवहार से होती है। भारतीय संस्कृति में एक अविरल निरन्तरता है जिसमें समयानुकूल की शक्ति भी है। यही वह शक्ति है जो भारत की विविधता को एकता में संजोये हुए है और यही भारत के राष्ट्रीय एकीकरण का वास्तविक आधार है।

6.6 राष्ट्रीय एकीकरण के लिये किये गये प्रयास

भारत के राष्ट्रीय एकीकरण की परम् आवश्यकता को देखते हुए, सरकारी तथा गैर सरकारी स्तर पर विभिन्न समयान्तरों पर व्यापक, ठोस तथा प्रभावी प्रयास किये गये। सांविधानिक प्रावधानों की भावना को ध्यान में रखते हुए भारतीय संसद ने विभिन्न धार्मिक, नस्लगत और भाषाई समुदायों के बीच वैमनस्य उत्पन्न करने के प्रयासों को दण्डनीय अपराध

घोषित करते दृढ़ कानून बनाये हैं और ऐसे दण्ड भोगी को मतदान अथवा चुनाव के लिए अयोग्य ठहराने का प्रावधान किया है। सन् 1961 ई० में एक राष्ट्रीय समिति की स्थापना की गयी, जिसमें यह प्रस्तावित किया गया कि शिक्षा व्यवस्था में सुधार, साम्प्रदायिक एकता के लिए प्रयास तथा अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा करके ही भारत में राष्ट्रीय एकीकरण के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। इसी वर्ष राष्ट्रीय एकता की स्थापना के प्रयास की दिशा में प्रयत्नशील होते हुए संसद में दो विधि प्रस्तावों को प्रस्तुत किया गया। विधि के प्रारूपों में यह बात कही गयी कि साम्प्रदायिकता का प्रचार करने वाले माध्यमों पर कड़ी रोक लगाने की व्यवस्था की जाये। पहले विधि प्रस्ताव में यह प्रावधान प्रस्तुत किया गया कि विभिन्न धर्मों के बीच घृणा एवं विद्वेष फैलाने, जाति, भाषा और विभिन्न वर्गों के बीच उत्तेजना फैलाने वाले कार्य को दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया जाये और ऐसे अपराधियों को तीन वर्ष तक की सजा दी जाये। विधि के दूसरे प्रारूप में यह प्रस्तावित किया गया कि चुनाव प्रचार करते समय धर्मों, जातियों, सम्प्रदायों, विभिन्न भाषा–भाषियों आदि को धर्म, भाषा, जातिवाद, क्षेत्रवाद आदि के आधार पर मतदान करने का प्रोत्साहन देने वाले प्रत्याशियों को अयोग्य ठहरा दिया जाये। ऐसे लोगों को मताधिकार से वंचित करने तथा उनको संसदीय अथवा विधान सभाई सदस्यता से निलम्बित कर देने का दण्ड दिया जाये। इन प्रयासों के फलस्वरूप राष्ट्रीय एकीकरण की दिशा में निश्चय ही पर्याप्त प्रगति हुई। राष्ट्रीय एकीकरण के लिये किये गये अन्य उपायों का क्रमानुसार वर्णन निम्नलिखित है –

6.6.1 राष्ट्रीय एकीकरण महासम्मेलन

सन् 1961 ई० में भारत सरकार ने नई दिल्ली में राष्ट्रीय एकीकरण का आयोजन किया। इसका प्रमुख उद्देश्य राष्ट्रीय एकता की स्थापना में आने वाली बाधाओं को व्यक्त करके उनके हल के लिए सुझावों का प्रस्तुतीकरण करना था। इसमें प्रधानमन्त्री सहित केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्य, सभी राज्यों के मुख्यमन्त्री, विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं, प्रमुख शिक्षाविदों, पत्रकारों तथा वैज्ञानिकों आदि ने भाग लिया। इस प्रकार सम्मेलन का संगठन व्यापक था और इसमें देश के प्रत्येक महत्वपूर्ण वर्ग को प्रतिनिधित्व प्राप्त था। सम्मेलन के आयोजन के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए तत्कालीन प्रधानमन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू ने कहा कि इस सम्मेलन का आयोजन किसी राष्ट्रीय संकट की घड़ी में अथवा ऐसी

सम्भावना में कि भारत बिखर रहा है, नहीं किया गया है। अपितु अपने इतिहास की इस घडी में हम यह प्रयास करना चाहते हैं कि भारत पूरी तरह एक हो और लोगों के मन–मस्तिष्क में एकीकरण की भावना को जागृत करें। सम्मेलन में एकीकरण के तत्वों का निर्धारण करते हुए यह कहा गया कि भारत की राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने और उसे सुदृढ़ करने में राजनीतिक प्रयासों की विशेष महत्वपूर्ण भूमिका है। इस दिशा में अभी तक राजनीतिक दलों की भूमिका सर्वाधिक निराशाजनक रही है। सम्प्रदायवाद, जातिवाद, क्षेत्रवाद एवं भाषावाद इत्यादि को प्रोत्साहन देकर राजनीतिक दलों ने राजनीति के साथ–साथ सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन को दूषित कर दिया है। इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए, सम्मेलन में यह निश्चय किया गया कि राजनीतिक दलों की आचार संहिता निर्धारित करते हुए निम्नलिखित प्रावधानों की व्यवस्था की जानी चाहिए –

1. किसी भी राजनीतिक दल को विभिन्न सम्प्रदायों, धर्मानुयायियों, भाषाई वर्गों आदि के साथ ऐसी गतिविधियों में सम्मिलित नहीं होना चाहिए जिनसे उत्तेजना, संकीर्ण भावात्मकता और धार्मिक मतभेद उभरता हो।

2. राजनीतिक दल विभिन्न सम्प्रदायों, भाषावादियों और क्षेत्रवादियों राजनीतिक दलों की माँगों को पूरा कराने के लिए आन्दोलनात्मक तरीकों का प्रयोग न करें।

3. एक राजनीतिक दल दूसरे राजनीतिक दल की सभाओं, आयोजनों तथा रैली आदि में गड़बड़ी और बाधा उत्पन्न करने का प्रयास न करे।

4. दलीय स्वार्थ की पूर्ति के लिये राजनीतिक सत्ता का प्रयोग न किया जाये।

5. शासन और सरकार राजनीतिक दलों के लोकतान्त्रिक व्यवहार पर अनावश्यक निषेध आदि न लगायें।

इस सम्मेलन में राष्ट्रीय एकीकरण की सम्पूर्णता के लिये शिक्षा के प्रचार–प्रसार को विशेष महत्वपूर्ण बताया गया। इस बात पर बल दिया गया कि राष्ट्र की शिक्षा नीति सभी राज्यों के सन्दर्भ में समान हो तथा शिक्षा के विषय को समवर्ती सूची में सम्मिलित किया जाये।

6.6.2 राष्ट्रीय एकता समिति का गठन

राष्ट्रीय एकीकरण सम्मेलन 1961 की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि इसके द्वारा राष्ट्रीय एकता समिति का गठन किया जाना था। इस समिति को प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में गठित किया गया, इसके अन्य सदस्यों में केन्द्रीय गृहमन्त्री, सभी राज्यों के मुख्यमन्त्री, सात प्रमुख राजनीतिक दलों के नेता, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष, दो शिक्षाविद्, अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयोग के अध्यक्ष तथा प्रधानमन्त्री द्वारा मनोनीत सात सदस्य सम्मिलित थे। राष्ट्रीय एकता समिति के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये गये –

1. समिति अपने प्रयासों द्वारा विभिन्नता में एकता, धार्मिक स्वतन्त्रता, धर्मनिरपेक्षता, समानता, न्याय तथा भ्रातृत्व की स्थापना का प्रयत्न करेगी।

2. समिति का यह निश्चित विश्वास था कि भारत की सामान्य जनता आपसी भाई–चारे और सहयोग में विश्वास रखती है। उसे हिंसा और अव्यवस्था से अरुचि है। साम्प्रदायिकता समाज में कुछ लोगों द्वारा फैलायी जाती है। सामान्य जनता के सहयोग से साम्प्रदायिक तत्वों पर अंकुश रखा जा सकता है।

3. समिति ने सभी राजनीतिक दलों, ऐच्छिक संगठनों, समाचार–पत्रों, राजनीतिक नेताओं और विशिष्ट चारित्रिक योग्यतायुक्त व्यक्तियों से यह आग्रह किया कि वे साम्प्रदायिक द्वेष और प्रादेशिकवाद फैलाने वाली भावना को निरुत्साहित करें; सहिष्णुता, सहनशीलता और आपसी सहयोग के व्यवहार का प्रचार करें, समाज की रचनात्मक शक्तियों को संगठित करके उनका उपयोग राष्ट्रीय एकीकरण की दिशा में करें।

4. राष्ट्रीय एकता समिति ने यह स्पष्ट किया कि राष्ट्रीय एकीकरण की स्थापना केवल सरकार के प्रयासों द्वारा नहीं की जा सकती है। इसे स्थापित करने में सम्पूर्ण समाज और राजनीतिक नेताओं का उत्तरदायित्व है।

5. समिति ने सभी भाषा–भाषियों, जातियों तथा सांस्कृतिक संगठनों से आग्रह किया कि वे एकजुट होकर राष्ट्रीय एकीकरण की प्राप्ति में सहयोग करें।

6.6.3 राष्ट्रीय एकीकरण सम्मेलन 1968

प्रथम राष्ट्रीय एकीकरण सम्मेलन के क्रियाकलाप निश्चय ही उपयोगी, दूरदर्शी और सुनियोजित थे, परन्तु साम्प्रदायिक, अलगाववादी आदि तत्वों ने उस सम्मेलन की योजनाओं को सफल नहीं होने दिया। परिणामस्वरूप जून, 1968 ई० में श्रीनगर में दो दिवसीय राष्ट्रीय एकीकरण सम्मेलन आयोजित किया गया। इसके सदस्यों की संख्या पहले सम्मेलन के सदस्यों की संख्या 39 से बढ़कर 55 सदस्य हो गयी। इसमें श्रम और व्यापारिक संघों को भी प्रतिनिधित्व दिया गया। इस सम्मेलन द्वारा तीन समितियों का गठन किया गया। प्रत्येक समिति को एक–एक समस्या दी गयी– क्षेत्रवाद, साम्प्रदायिकतावाद और भाषावाद। इन समितियों ने विचार–विमर्श द्वारा यह प्रस्तावित किया कि देश में निगरानी और सर्तकता की व्यवस्था को चौकस किया जाये जिससे कि विभिन्न सम्प्रदायों, भाषा–भाषियों और क्षेत्रवादियों के बीच तनाव पैदा करने वाले तत्वों पर निषेधात्मक रोक लगायी जा सके। राष्ट्रीय एकीकरण सम्मेलन में भारतीय दण्ड संहिता में उन व्यापक सुधारों का प्रस्ताव किया गया, जिनसे अलगाव, तनाव, आतंकवाद और पृथक्तावाद फैलाने वाले तत्वों को दण्डित किया जा सके। राष्ट्रीय एकता की स्थापना के विषय में कार्य करने और उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये कई अन्य समितियों का भी गठन किया गया। इसने लेखकों, फिल्म निर्माताओं, कलाकारों आदि से साहित्य, नाटक और फिल्मों द्वारा राष्ट्रीय एकीकरण का प्रचार–प्रसार करने का अनुरोध किया।

6.6.4 राष्ट्रीय एकीकरण के लिए गठित और आयोजित अन्य संगठन एवं आयोजन

दोनों राष्ट्रीय एकीकरण सम्मेलनों के उद्देश्य में सिद्धान्त और व्यवहार के गुण थे, परन्तु एकीकरण की प्रक्रिया दृढ़ नहीं हो पा रही थी। राजकीय स्तर के अतिरिक्त गैर–राजकीय स्तर पर भी इस दिशा में व्यापक प्रयास किये जा रहे थे। इस श्रृंखला में साम्प्रदायिकता विरोधी राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन सर्वोदय नेता जय प्रकाश नारायण की अध्यक्षता में किया गया। इसमें साम्प्रदायिकता फैलाने के लिए राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ को दोषी ठहराया गया। सन् 1970 ई० में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने साम्प्रदायिकता के

विस्तार के विषय में निषेधात्मक कार्यवाही करने पर विचार किया। इसके द्वारा साम्प्रदायिक संगठनों पर रोक लगाये जाने के अतिरिक्त साम्प्रदायिकता से प्रभावित क्षेत्रों में राजकीय पुलिस और प्रशासन के अधिकारियों को उत्तरदायी बनाये जाने का अनुरोध किया गया। चूँकि यह समस्या की दलगत और आंशिक समझ मात्र थी, अतः न तो साम्प्रदायिक दंगे कम हुए और न ही वास्तविक धर्मनिरपेक्षता की स्थापना हो सकी। सन् 1970 ई० में खान अब्दुल गफ्फार खान (सीमान्त गाँधी) के भारत आगमन के अवसर पर इन्सानी बिरादरी नामक गैर सरकारी संगठन का गठन किया गया परन्तु इसको अपने प्रयोजन में कोई सफलता नहीं मिली। सम्प्रदायवाद विरोधी इंसानी बिरादरी को कुछ लोगों द्वारा साम्प्रदायिक संगठन बताया गया। खुदाई खिदमतगार नामक गैर–सरकारी संगठन द्वारा 'साम्प्रदायिकता विरोधी कमेटी' का गठन सन् 1970 ई० में किया गया, जिसने राष्ट्रीय एकीकरण की दिशा में प्रयास किया। परन्तु रचनात्मक प्रयासों के प्रत्युत्तर में विभिन्नीकरण की प्रवृत्तियाँ भी अपना क्षेत्र विस्तार का रहीं थीं। शिव सेना, आनन्द मार्ग, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ एवं जमायते इस्लामी इत्यादि साम्प्रदायिक संगठनों की संख्या दिन–प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। सन् 1974 ई० में श्रीमती सुभद्रा जोशी द्वारा नई दिल्ली में अखिल भारतीय साम्प्रदायिकता विरोधी समिति का गठन किया गया, जिसने साम्प्रदायिक और जाति पर आधारित राजनीतिक दलों पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग की।

सन् 1980 ई० में श्रीमती इंदिरा गांधी के नेतृत्व में पुनः राष्ट्रीय एकता परिषद का पुनर्गठन किया गया और हमेशा की तरह इस परिषद ने भी राष्ट्रीय एकीकरण के लिए सुझाव दिये। सन् 1991 ई० में पी० वी० नरसिम्हाराव की सरकार ने राष्ट्रीय एकता परिषद को और विस्तृत किया।

देश में बढ़ती हुई साम्प्रदायिकता तथा हिंसात्मक घटनायें और समाज के विभिन्न वर्गों के बीच बढ़ता हुआ तनाव इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि सरकार के द्वारा राष्ट्रीय एकीकरण के लिए औपचारिक रूप से जो भी प्रयास किये गये, वह पूरी तरह से सफल नहीं रहे। इसके कई कारण बताये जा सकते हैं – प्रथम, एकीकरण के लिए बनायी गई योजनायें कम व्यावहारिक और अधिक आदर्शात्मक थीं, उनके बनाने और कार्यान्वित करने में कोई यथार्थ निष्ठा नहीं रही। द्वितीय, एकीकरण के प्रयास राजनीतिक और दलीय आधार पर हुए,

इसलिए जो भी योजनायें बनीं, चूँकि वह कांग्रेस दल की पहल पर बनायी गईं थीं, इसलिए उनके कार्यान्वयन में विपक्षी दलों का वास्तविक सहयोग नहीं मिला। यही कारण था कि सन् 1980 ई० में गठित की गई राष्ट्रीय एकता परिषद में चरण सिंह और उनके दल–लोकदल ने सम्मिलित होने से इनकार कर दिया। विपक्षी दलों का यह आरोप रहा है कि एकीकरण की बात केवल एक राजनीतिक नारा और अल्पसंख्यकों को अपनी ओर आकर्षित करने का एक साधन है (सईद, 1996, पृ० 374)।

वास्तव में राष्ट्रीय एकता भारत के सामने इतना महत्वपूर्ण और गम्भीर प्रश्न बन चुकी है कि केवल सैद्धान्तिक प्रयासों और सम्मेलनों के द्वारा ही इसका समाधान नहीं किया जा सकता है। राष्ट्रीय एकीकरण के लिए सर्वप्रथम देशवासियों में अनुशासन लाने की आवश्यकता है। अनुशासन में वृद्धि होने से अपने आप एक राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण और विकास होगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ

आशीर्वादम्, ए० डी० एवं मिश्र, कृष्णकान्त, 1992 : **राजनीति विज्ञान,** एस० चन्द्र एण्ड कम्पनी लिमिटेड, दिल्ली।

भट्ट, भरतराम, 1981 : **एकता के चार अध्याय,** इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली।

Bondurant, Joan V, 1958 ; **Regionalism Versus Provincilism - A Study in problems of India national unity,** University of California, p.1.

मुकर्जी, रवीन्द्रनाथ, 2001 : **भारतीय समाज व संस्कृति,** विवेक प्रकाशन, दिल्ली।

सारस्वत, आनन्द प्रकाश, 1991 : **साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीय एकीकरण,** सरूप एण्ड सन्स, दिल्ली, पृ० 95।

सईद, एस० एम०, 1996 : **भारतीय राजनीतिक व्यवस्था,** सुलभ प्रकाशन लखनऊ।

तरूण, हरिवंश, 1991 : **भारत की राष्ट्रीय एकता,** ज्ञान गंगा, दिल्ली।

यादव, सुषमा एवं शर्मा, रामअवतार, 1997 : **भारतीय राजनीति के ज्वलन्त प्रश्न,** हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

अभ्यास–7

प्रादेशिकवाद से संबद्ध अन्य समस्यायें

भारत एक ऐसा विशाल देश है जिसमें विभिन्न धर्मों, जातियों एवं समाजों के लोग निवास करते हैं। यहाँ भाषा की विविधता के साथ–साथ भौगोलिक परिस्थितियों एवं रहन–सहन में भी स्पष्ट अन्तर दृष्टिगोचर होता है। विविधता के होते हुए भी स्वतंत्रता संग्राम में, प्रत्येक धर्म एवं जाति के लोगों ने तन–मन–धन से मिलकर भाग लिया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् हुए युद्धों में भी सभी भारतवासी आपसी कलह, मतभेद एवं वैमनस्य को भूलकर शत्रु को मुँह तोड़ जवाब दिये हैं। इन युद्धों के समय देश के सभी नागरिकों द्वारा जो सहयोग और सहायता दी गयी, वह यह मिशाल रही है एवं भारत की सही माने में पहचान करती है। किन्तु आज स्थिति बदली हुई लगती है। देश में इस सीमा तक पृथकतावादी एवं संकीर्णतावादी शक्तियाँ जोर पकड़ती जा रही हैं कि न केवल देश की सुरक्षा एवं अखण्डता के लिये खतरा उत्पन्न हो गया है, बल्कि सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक, तकनीकी एवं शैक्षिक प्रगति में भी अनेकानेक बाधायें उत्पन्न हो रही हैं। वास्तव में भारत ही नहीं वरन् विश्व के किसी भी देश ने तब तक उन्नति नहीं की, जब तक वहाँ के नागरिकों में राष्ट्रीय चेतना की भावना का स्वाभाविक रूप से विकास नहीं हुआ है।

भारत में आतंकवाद, विलगाववादी आन्दोलन, नक्सली आन्दोलन, किसान एवं मजदूर आन्दोलन होना इसलिए स्वाभाविक है क्योंकि जहाँ एक तरफ देश पर आधुनिकीकरण का प्रभाव दिन–प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है वहीं दूसरी तरफ विद्यार्थी, शिक्षक, कर्मचारी, अधिकारी एवं राजनीतिक नेता आदि में अर्न्तद्वन्द भी परिलक्षित हो रहा है। इसका मुख्य कारण स्वार्थ, मिथ्याभिमान एवं स्वेच्छाचारिता आदि से जुड़ा है। हम न तो संयमित ही रह गये हैं और न ही अपने कर्त्तव्यों के प्रति जागरुक। हम सदैव अधिकारों की बात तो करते हैं किन्तु कर्त्तव्यों की उपेक्षा करते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि कर्त्तव्य रूपी धुरी के अभाव में अधिकार का पहिया निष्क्रिय और सामाजिक जीवन की गाड़ी गतिहीन हो जाती है। अपने आपको नियन्त्रित करते हुए दूसरों को नियन्त्रित करना आज अपरिहार्य है। प्रादेशिकवाद के लिए

जितना खतरा रुग्ण समाज, भ्रष्ट आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था से उत्पन्न होता है, उतना ही अपराधियों, आतंकवादियों, नक्सलियों, शरणार्थियों आदि से भी होता है। हमारे देश की वर्तमान परिस्थितियाँ इसी दुखद स्थिति की परिचायक हैं। राष्ट्रीय अखण्डता हेतु कर्त्तव्यपरायण, आज्ञाकारिता, नवीन उत्साह, सहयोग, दृढ़ संकल्प, अनुशासन आदि गुणों का विकास समाज में होना आवश्यक है, तभी हमारी राष्ट्रीय अखण्डता की जड़ मजबूत हो सकेगी। वर्तमान अध्याय में प्रादेशिकवाद से सम्बद्ध इन्हीं समस्याओं के विवेचन का प्रयास किया गया है।

7.1 आतंकवाद

आतंकवादी क्रियाओं में बहुधा विशिष्ट मार्गों के साथ हिंसा अथवा हिंसा की धमकी समाविष्ट होती है। हिंसा की शिकार सामान्य जनता होती है जबकि हिंसकों का लक्ष्य राजनीतिक होता है। आतंकवादियों की क्रियायें सामान्य रूप से इस प्रकार की जाती हैं ताकि इसे संचार माध्यम द्वारा अधिकतम प्रचार का लाभ मिल सके। आतंकवादी एक संगठित समूह के सदस्य होते हैं और वे अन्य अपराधियों की अपेक्षा अपने कार्य के लिए अधिक प्रसिद्धि प्राप्त करने का प्रयास भी करते हैं। अन्त में आतंकवादी क्रियाओं का लक्ष्य तत्काल भौतिक वस्तुओं के विनाश की अपेक्षा प्रभाव उत्पन्न करना होता है। आतंकवादी अपनी गतिविधियों को आतंकवाद का नाम नहीं देते। आतंक फैलाने वाले लोग अपने आप को राष्ट्रवादी, क्रान्तिकारी या अपने दल के निष्ठावान सैनिक कहते हैं (उपेन्द्र, 2001 पृ० 393)।

आतंकवाद का उद्देश्य निरीह, निरपराध लोगों की हत्या करके सामान्य जनता में आतंक और दहशत फैलाकर, कानूनी और सामाजिक व्यवस्था को ध्वस्त कर प्रशासन तन्त्र को असफल कर अपने राजनीतिक लक्ष्यों की सिद्धि के लिए सरकार को विवश करना है। आतंकवाद की गतिविधियों को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि यह एक असामाजिक, असांस्कृतिक, अनैतिक, अधार्मिक, अमानवीय, असंवैधानिक एवं अवांछित कार्य पद्धति है। आतंकवाद को सामूहिक हिंसा भी नहीं कहा जा सकता है। आतंकवाद वस्तुतः एक लघु और सीमित संगठन द्वारा संचालित होता है और इसको अपने निश्चित लम्बे कार्यक्रम एवं लक्ष्य से प्रेरणा मिलती है और उसी के लिए आतंक उत्पन्न किया जाता है। सामूहिक हिंसा के पीछे

कोई संगठित एवं सुनियोजित कार्यक्रम नहीं होता है तथा इसमें बौद्धिकता का भी पूर्ण अभाव होता है। अपनी अनुचित और असंवैधानिक माँगों को मनवाने के लिए विभिन्न आतंकवादी गुट विभिन्न प्रकार की हिंसात्मक गतिविधियों में लिप्त हैं (उपेन्द्र, 2001, पृ० 393)।

आतंकवाद को प्रसारित करने में विकसित संचार साधनों का भी बहुत बड़ा हाथ है। कुछ देशों द्वारा धन, हथियार और प्रशिक्षण जैसी सुविधाओं को मुहैया कराने की नीति से भी आतंकवादियों के हौसले बुलन्द हुए हैं। अपने स्वार्थ के लिए दूसरे देश के आतंकवादियों को प्रश्रय एवं समर्थन देने की सरकारी नीति का ही फल है कि आतंकवाद की घटनायें कम होने के स्थान पर बढ़ती जा रही हैं। आज स्थिति यह है कुछ देशों के राजनेता अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए न केवल आतंकवादी संगठनों का सहारा ले रहे हैं बल्कि इस प्रकार के संगठन सरकार की छत्रछाया में फल–फूल भी रहे हैं। इन संगठनों के कार्यकर्त्ताओं को दूसरे देशों में तोड़–फोड़ करने तथा वहाँ की सरकार पर उनकी इच्छानुसार कार्य करने हेतु दवाब डालने के लिए भी भेजा जाता है (श्रीवास्तव, 2000, पृ० 17)।

भारत में आतंकवाद ने युवाओं को अधिक आकर्षित किया है, विशेषतया बेरोजगार, विभ्रान्त और आदर्शवादी युवाओं को। जब तक ऐसे उद्देश्य रहते हैं, जो तीव्र भावनाओं को उत्तेजित करते हैं तब तक आदर्शवादी युवा एक उद्देश्य के लिए आतंकवाद के रोमांचक स्वप्नों को देखने के लिए प्रेरित होंगे। जब एक राष्ट्र निहित स्थानों में लिप्त भ्रष्ट नेतृत्व के कारण अपने उद्देश्य से विमुख हो जायेगा तो कुण्ठायें एवं वंचन आक्रामक युवाओं को उग्र प्रवृत्तियों की ओर ले जायेंगे (आहूजा, 2002, पृ० 390)। आतंकवाद का हिस्सा बनाये जाने के लिए युवकों को तीन तरह से फँसा जाता है–प्रथम, धर्म और संस्कृति का जाल बिछाकर, द्वितीय राष्ट्रीयता और पहचान खो जाने का भय दिखाकर तथा तृतीय, ऐश्वर्यपूर्ण जीवन का लालच देकर। आर्थिक आतंकवाद एक ऐसा आतंकवाद है, जिसमें शामिल होने की ललक किसी भी बेरोजगार युवक में पैदा की जा सकती है।

आतंकवाद की सफलता काफी हद तक उसके समर्थन के आधार पर निर्भर होती है जिसमें केवल राजनीतिक एवं सामाजिक समर्थन ही सम्मिलित नहीं होता अपितु धन, हथियार और प्रशिक्षण का समर्थन भी होता है। आतंकवादी विभिन्न स्रोतों से धन प्राप्त करते हैं, जैसे

लोगों से दान एवं कर, बैंक डकैतियों, मादक वस्तुओं की तस्करी एवं क्रय से और बन्धक व्यक्तियों से फिरौती लेकर। व्यक्तियों एवं सुरक्षा बलों से हथियार छीने जाते हैं या विदेशों से खरीदे जाते हैं (आहूजा, 2002, पृ० 391) भारत के अधिकतर आतंकवादियों को पाकिस्तान में प्रशिक्षण दिया जाता है। पाकिस्तान में युवा आतंकवादी तैयार करने के लिये बाकायदा मदरसे और प्रशिक्षण केन्द्र खुले हैं। गुप्तचर एजेंसियों का मानना है कि प्रत्येक वर्ष 4000 से 5000 कट्टर इस्लामी युवक पाकिस्तान के इन मदरसों और बाद में आतंकवादी प्रशिक्षण केन्द्रों से पढ़कर निकलते हैं जो कि इस्लामिक आतंकवाद के प्रशिक्षित रंगरूट होते हैं। आतंकवादी संगठनों में शामिल होने वाले युवक चार प्रकार के होते हैं। एक तो वह जिनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि धार्मिक होती है और वे खुद भी अन्धविश्वासी होते हैं। दूसरे वे जो किसी न किसी प्रकार की हीनभावना से ग्रसित होते हैं और धर्म के नाम पर बलिदान हो जाने को दैवीय नायकत्व मानते हैं। तीसरे वे युवा होते हैं जो जीवन से पूरी तरह निराश हो कर स्वप्नहीन होते हैं तथा चौथे वे होते हैं जो खुद से सोच समझ नहीं पाते हैं तथा उन्हें कोई भी बरगला लेता है। ऐसे लोग आवश्यक नहीं है कि धार्मिक आस्था रखते ही हों।

आतंकवाद के चार प्रकार हैं जिनका भारत सामना कर रहा हैं, वे हैं : पंजाब में खालिस्तान उन्मुखी आतंकवाद, कश्मीर का अलगाववादी आतंकवाद, बंगाल, बिहार, आन्ध्र प्रदेश में नक्सलवादी आतंकवाद और असम में उल्फा और बोडो आतंकवाद। यद्यपि पंजाब के आतंकवाद को कुचल दिया गया है, फिर भी कभी–कभी वह सिर उठाता रहता है। खालिस्तानी उन्मुखी सिख आतंकवाद पृथक्तावाद द्वारा एक मजहबी राज्य के स्वप्न पर आधारित था; नागालैण्ड और मिजो आतंकवाद पहचान की संकट स्थिति पर आधारित था, मणिपुर और त्रिपुरा का आतंकवाद परिवेदना (Grievance) की स्थिति पर आधारित था और बंगाल, बिहार और आन्ध्र प्रदेश के आतंकवाद का आधार वर्ग विद्वेष था। यदि पंजाब में सिख आतंकवाद परिवेदना की स्थिति या सिखों के पहचान की संकट–स्थिति पर आधारित होता, तो उससे राजनीतिक वार्ता और संवैधानिक साधनों से निबटा जा सकता था, परन्तु जब तक वे देश से पृथक होकर और उसके बँटवारे से एक मजहबी राज्य के लक्ष्य पर आधारित था तो सरकार को उसके प्रति आतंक युक्तियों से सामना करना पड़ा था (आहूजा, 2002, पृ० 391)। उत्तर हो या दक्षिण, पूर्व हो या पश्चिम, भारत के हर सीमान्त पर असंतुष्ट तत्वों ने

अपनी माँगों की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए आतंकवादी हिंसा का आलम्बन किया है। इस बात के अनेक प्रमाण मिल चुके हैं कि भारत की एकता को नुकसान पहुँचाने और उसकी भौगोलिक एकता के अतिक्रमण के लिए विदेशी शक्तियाँ आतंकवादियों को समर्थन दे रही हैं (पन्त एवं जैन, 1993, पृ० 540)।

पंजाब में उग्रवादियों का यह अनुमान था कि यदि हिन्दू–सिख झगडे व्यापक रूप से फैला दिये जायें तो पंजाब से बाहर रहने वाले सिख भागकर उस प्रदेश में आ बसेंगे और वहाँ के हिन्दुओं को अन्यत्र शरण लेने हेतु विवश किया जा सकेगा। इस प्रकार उनका खालिस्तान का सपना पूरा हो सकेगा (श्रीवास्तव, 2000, पृ० 24)। सरकार के अनथक एवं कठोर कदम के कारण आज पंजाब में आतंकवाद करीब–करीब समाप्त हो गया है परन्तु जम्मू कश्मीर एवं उत्तरी–पूर्वी भारत का क्षेत्र बुरी तरह सें इसकी चपेट में है (चित्र 7.1)।

कश्मीर के आतंकवादी भी अन्ततः उसी घिनौनी राह पर आ गये हैं जिस पर पंजाब के उग्रवादी आ चुके थे। वे उन सभी लोगों को अपना निशाना बना रहे हैं जो लोकतंत्र और धर्म–निरपेक्षता में विश्वास करते हैं। उग्रवादियों की नजर में यह गैर–इस्लामी कार्य है। अल्पसंख्यक हिन्दू और सिख तो कश्मीर से पलायन कर ही रहे हैं, आतंवादी चाहते हैं कि वे लोग भी कश्मीर छोड़ जायें जो लोकतान्त्रिक विचारधारा में विश्वास रखते हैं। इस समय कश्मीर घाटी में तेरह देशों (अफगानिस्तान, बांग्लादेश, मिस्र, कजाकिस्तान, तुर्की, सऊदी अरब, पाकिस्तान, सूडान, बहरीन, यमन, लीबिया, म्यांमार और ईरान) के आतंकवादी सक्रिय हैं। जम्मू-कश्मीर में उग्रवादी अब राज्य के सीमा क्षेत्रों को छोड़ राज्य के भीतरी भागों में घुस गये हैं। इस राज्य में मुख्य रूप से गैर कश्मीरी भाड़े के उग्रवादी हैं। आज तक कश्मीर में सामाजिक–आर्थिक विकास के बजाय राजनीतिक सत्ता हथियाने पर ही जोर दिया जाता रहा है। फलतः तथाकथित आजाद कश्मीर की तरह से कश्मीरी स्वायत्तता की माँग करने लगे हैं (श्रीवास्तव, 2000, पृ० 25)।

आज हमारा ध्यान सिर्फ कश्मीर में चले रहे उग्रवाद की तरफ केन्द्रित है और हमें जो महत्व पूर्वोत्तर राज्यों को देना चाहिए वह हम नहीं दे पा रहे हैं। दरअसल, इसके लिए कोई एक सरकार जिम्मेदार नहीं है, पिछले तीन दशकों के दौरान कई बार वहाँ स्थति सुधरी

भारत
आतंकवाद प्रभावित
राज्य
N
जम्मू और कश्मीर
पाकिस्तान
चीन
पंजाब
नेपाल
भूटान
अरुणाचल
म्यांमार
मणिपुर
त्रिपुरा
मिज़ोरम
बंगाल
की
खाड़ी
अरब
सागर
अंडमान
और
निकोबार
द्वीप
समूह
लक्षद्वीप
100 0 100 200 300
किलोमीटर
हिन्द महासागर
अन्तर्राष्ट्रीय सीमा
प्रान्तीय सीमा
राजधानी
प्रभावित क्षेत्र (वर्तमान)
प्रभावति क्षेत्र (पूर्व)
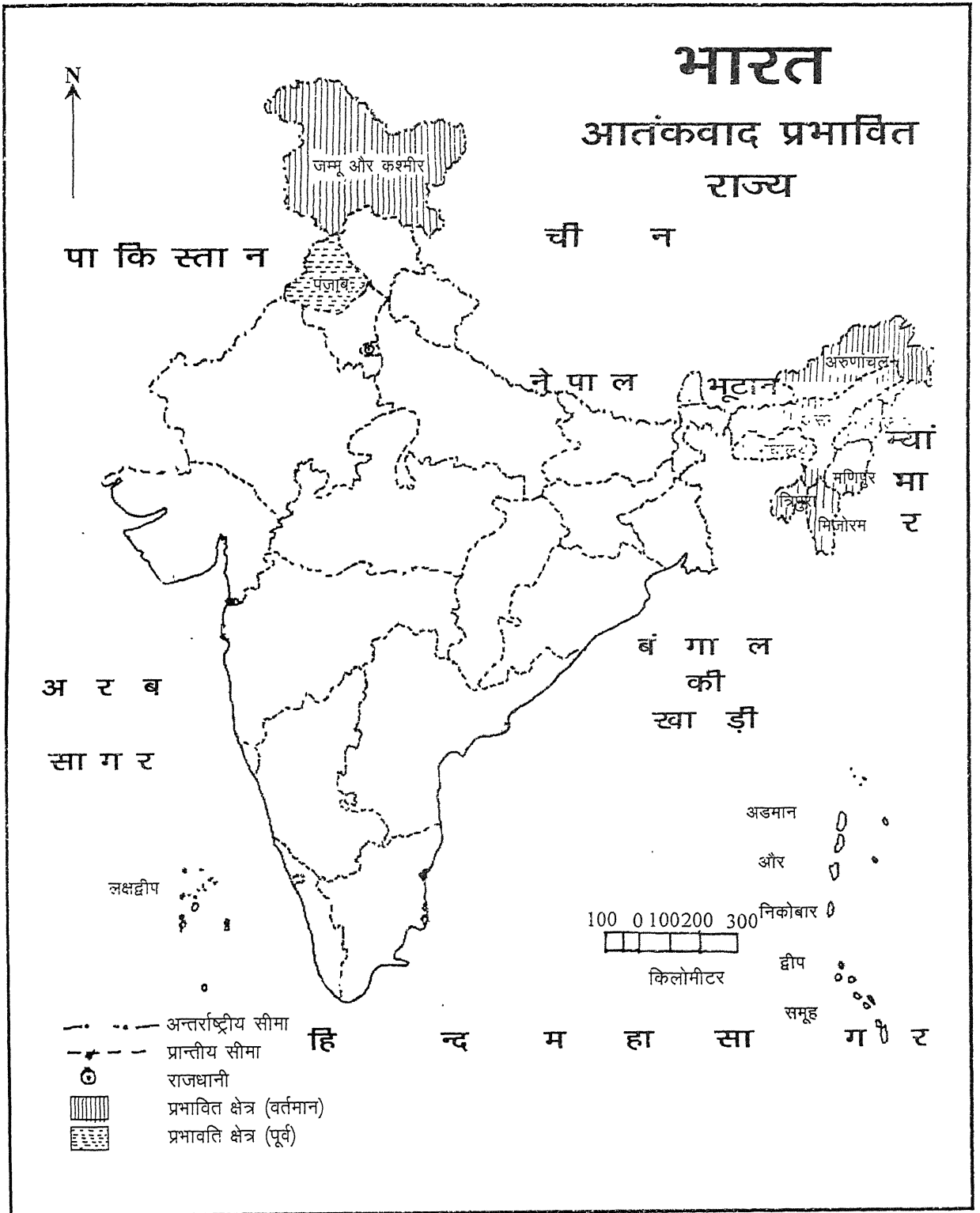
चित्र 7.1

और बिगड़ी तथा अन्ततोगत्वा पूर्वोत्तर के सात में से पांच राज्य लगातार आतंकवाद समस्या का सामना करते रहते हैं। पिछले कई दशकों से चल रही व्यवस्थाओं के कारण वहॉ के लोग अभी भी राष्ट्र की मुख्य धारा से जुड़ नहीं पा रहे हैं। चूँकि पूर्वोत्तर के नागरिक शक्ल–सूरत से देश के अन्य भाग के भारतीयों से बहुत मिलते–जुलते नहीं हैं, इसलिए वे स्वयं को शेष भारतीयों से अलग–थलग महसूस करते हैं। आज पूर्वोत्तर में न तो सही सड़कें हैं और न ही संचार साधन, रेल, पेयजल की व्यवस्था तथा उद्योग आदि। मणिपुर में तो इस तरह के उग्रवादी गिरोह सक्रिय हैं जो कि प्रत्येक सरकारी कर्मचारी और अफसर से उनके वेतन में से एक हिस्सा वसूलते हैं, यहाँ तक कि पुलिस मुख्यालय से भी धन वसूला जाता है। पूर्वोत्तर के आतंकवादी संगठनों की माँगों पर गौर से विचार किया जाये, तो यह पता चलता है कि अपने क्षेत्र एवं समुदाय के विकास के लिए स्वायत्त परिषद् या पृथक् राज्य व राष्ट्र का निर्माण चाहते हैं। इन माँगों के उठने का मुख्य कारण राजनेताओं और उनके सांसद व प्रतिनिधियों द्वारा उन राज्यों एवं निवासियों की निरन्तर उपेक्षा किया जाना है।

यूनाइटेड लिबरेशन फ्रण्ट ऑफ असम (उल्फा) का गठन अप्रैल, 1979 ई० असम के ग्वालपाड़ा जनपद में हुआ था। प्रारम्भ काल से यह संगठन हिंसक होने की वजह से लोकप्रियता प्राप्त नहीं कर सका। स्थानीय समस्याओं को उठाकर पिछली शताब्दी के नब्बे के दशक के उत्तरार्द्ध में यह लोगों की सहानुभूति पाने में अत्यधिक सफल रहा है। उल्फा का मुख्य उद्देश्य असम में कार्य कर रहे भारत के अन्य राज्यों से आये व्यक्तियों को असम से बाहर निकालना रहा है। पृथक् सम्प्रभु राष्ट्र असम की आकांक्षा रखे यह संगठन लोकप्रियता के साथ–साथ अपने उद्देश्यों में भी विस्तार कर रहा है। वर्तमान काल में कई जगहों पर इस संगठन की समानान्तर सरकारें चल रही हैं। इसका अपना प्रशासन, न्यायालय, न्याय प्रक्रिया एवं अपना उद्देश्य है। उल्फा का मुख्य उद्देश्य है– निर्धनता, असमानता, बेरोजगारी और भ्रष्टाचार के विरुद्ध आर्थिक–सामाजिक न्याय प्रदान करना। उल्फा अत्याधुनिक अस्त्र–शस्त्र से लैस एक अत्यधिक शक्तिशाली संगठन है, जिसका कार्य भ्रष्टाचार, बलात्कार और हत्या के आरोप में फँसे लोगों की हत्या करना है, जिससे इस संगठन की लोकप्रियता जनता में बढ़ी है। हितेश्वर सैकिया सरकार ने जिन उल्फा उग्रवादियों को समर्पण कराया था वे समर्पणकारी भी बाद में माफिया गिरोह बनाकर लोगों को धमकाने और लूटने का काम

करने लगे। इन्हें वहाँ सुल्फा (सरेण्डर्ड उल्फा) कहते हैं। मुस्लिम यूनाइटेड लिबरेशन फ्रंट ऑफ असम (मलफा), मुस्लिम लिबरेशन टाइगर्स ऑफ असम (मल्टा), इस्लामिक सेवक संघ, इंडिपेंडेंट लिबरेशन आर्मी आफ असम आदि आतंकवादी संगठनों का उद्देश्य मुस्लिमों के अधिकारों की रक्षा करना अथवा पृथक् मुस्लिम राष्ट्र बनाना। असम में बोडो लोगों के पृथक् बोडोलैण्ड राज्य बनवाने के लिए अनेक लोग आतंकवादी गतिविधियों में संलिप्त है।

नेशनल सोशलिस्ट काउन्सिल ऑफ नागालैण्ड (इस्साक गुट) का मुख्य उद्देश्य नागालैण्ड को एक स्वतंत्र सम्प्रभु ईसाई समाजवादी जनतांत्रिक गणराज्य का निर्माण करना है। पीपुल्स लिबरेशन आर्मी का उद्देश्य मणिपुर को साम्यवादी विचारधारा पर आधारित एक स्वतंत्र सम्प्रभु राष्ट्र बनाना है। इसी प्रकार कुकी नेशनल आर्मी का उद्देश्य कुकी होमलैण्ड की स्थापना करना है।

पंजाब, कश्मीर एवं पूर्वोत्तर राज्यों के अलावा कुछ और प्रान्तों में भी आतंकवादी गतिविधियां पायी गयी हैं। मुम्बई में मार्च 12, 1993 को आतंकवादियों ने ग्यारह व्यापारिक दृष्टि से प्रमुख भीड़ वाले स्थानों पर विभिन्न बम विस्फोट द्वारा भय व आतंक पैदा किया था। इनमें 235 से अधिक व्यक्ति मारे गये तथा 1,214 व्यक्ति घायल हुए। सम्बन्धित व्यक्तियों की गिरफ्तारी पर बहुत से हथियार व गोला–बारूद मिले थे तथा पाकिस्तान की गुप्तचर संस्था एवं इसी देश द्वारा समर्थित दुबई में बसे मुस्लिम तस्करों का इसमें गहरा हाथ पाया गया था। इसी प्रकार का बम विस्फोट कोलकाता में मार्च 16,1993 को हुआ था, जिसमें 86 व्यक्ति मारे गये थे (आहूजा, 2002, पृ० 396)। 13 दिसम्बर, 2001 को संसद पर हुए आतंकवादी हमले में कई सुरक्षा कर्मी एवं अन्य व्यक्ति मारे गये थे। हाल ही में 24 सितम्बर, 2002 को गुजरात की राजधानी गांधीनगर के अक्षरधाम मन्दिर पर आतंकवादियों ने हमला करके 35 से अधिक व्यक्तियों की हत्या कर दी तथा सैकड़ों व्यक्तियों को घायल कर दिया।

भारत सरकार की सूचनाओं के अनुसार (मई 16, 1994) इस बात के पक्के सबूत हैं कि पाकिस्तान अलगाववादियों और आतंकवादियों को बढ़ावा देने के लिए काठमांडू (नेपाल), ढाका एवं चटगाँव (बांग्लादेश) और कनाडा में अड्डे बनाकर उनकी गतिविधियाँ संचालित कर रहा है। पंजाब की समस्या पर यद्यपि काबू पा लिया गया है, परन्तु कश्मीर के समान ही

उत्तर–पूर्व के नागालैण्ड, मिजोरम, मणिपुर, असम एवं अरुणाचल प्रदेश की स्थिति बिगड़ती जा रही है। इन क्षेत्रों के आतंकवादियों को बांग्लादेश सीमा के अन्दर प्रशिक्षण दिया जा रहा है (आहूजा, 2002, पृ० 396)।

7.2 नक्सलवाद

नक्सलवाद का प्रादुर्भाव बंगाल में सन् 1967 ई० में हुआ, जिसके अगुआ चारू मजूमदार और कानू सन्याल थे। सन् 1969 ई० में इसे बढ़ावा मिला, जब भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (एम०एल०) का चीन, जो कि भारत को कमजोर करना चाहता था, के उकसाने पर जन्म हुआ। नक्सलवादी विचार को सैद्धान्तिक समर्थन अप्रैल, 1969 ई० में हुई चीन की कम्युनिष्ट पार्टी की नवीं कांग्रेस से प्रोत्साहन प्राप्त हुआ जबकि माओ के विचारों को मार्क्सिज्म–लेनिनिज्म की चरम सीमा कहा गया। इन विचारों का उपयोग करते हुए नक्सलवादी नेता चारू मजूमदार ने घोषणा की थी कि चीन का चेयरमैन हमारा चेयरमैन है। चारु मजूमदार के वर्ग–शत्रुओं के संहार के नारे को किसान वर्ग और शिक्षित मध्यम वर्ग से अधिक समर्थन प्राप्त नहीं हुआ, यद्यपि कई आदर्शवादी युवा नक्सलवादी पुरुषों और स्त्रियों ने जमीदारों, साहूकारों और पुलिस अधिकारियों को जान से मारना प्रियकर समझा (आहूजा, 2002 पृ० 393)।

धीरे–धीरे यह आन्दोलन आन्ध्र प्रदेश, बिहार, झारखण्ड, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और महाराष्ट्र के कुछ हिस्सों में भी फैल गया। आन्ध्र प्रदेश में तेलंगाना के निजामाबाद क्षेत्र में, बिहार में आरा के भोजपुर क्षेत्र में तथा छत्तीसगढ़ के बस्तर क्षेत्र में, नक्सलपंथी गुट निर्द्वन्द्व होकर अपहरण, हत्या एवं धन वसूली में संलग्न हैं (चित्र 7.2)। वास्तव में इस प्रकार के आन्दोलन के पीछे आर्थिक एवं सामाजिक विषमतायें ही हैं। नक्सलवादी आन्दोलन का नेतृत्व मध्य वर्ग ही करता है तथा यह आन्दोलन बुनियादी रूप से पिछड़ों और शोषितों के लिए माना जाता है। स्वतंत्रता के इतने वर्षों बाद भी इस प्रकार की विषमतायें ज्यों की त्यों विद्यमान हैं। भारत में भूमिहीन निर्धन किसानों एवं ग्रामीण बेरोजगारों की संख्या कम होने के बजाय बढ़ी है। मार्क्सवादी-लेनिनवादी गुट ने नक्सलवादी आन्दोलन को सक्रिय बनाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। पिछड़े एवं आदिवासी क्षेत्रों में विकास

भारत
नक्सलवादी आन्दोलन
N
चीं न
पा कि स्ता न
नेपाल
भूटान
म्यां
मा
र
उत्तर प्रदेश
बिहार
बांग्ला
देश
झारखण्ड
पश्चिम
बंगाल
मध्य प्रदेश
छत्तीसगढ़
उडीसा
बं गा ल
की
खा ड़ी
अ र ब
सा ग र
आन्ध्र प्रदेश
अंडमान
और
निकोबार
द्वीप
समूह
लक्षद्वीप
100 0 100 200 300
किलोमीटर
अन्तर्राष्ट्रीय सीमा
प्रान्तीय सीमा
राजधानी
नक्सल प्रभावित क्षेत्र
हि न्द म हा सा ग र
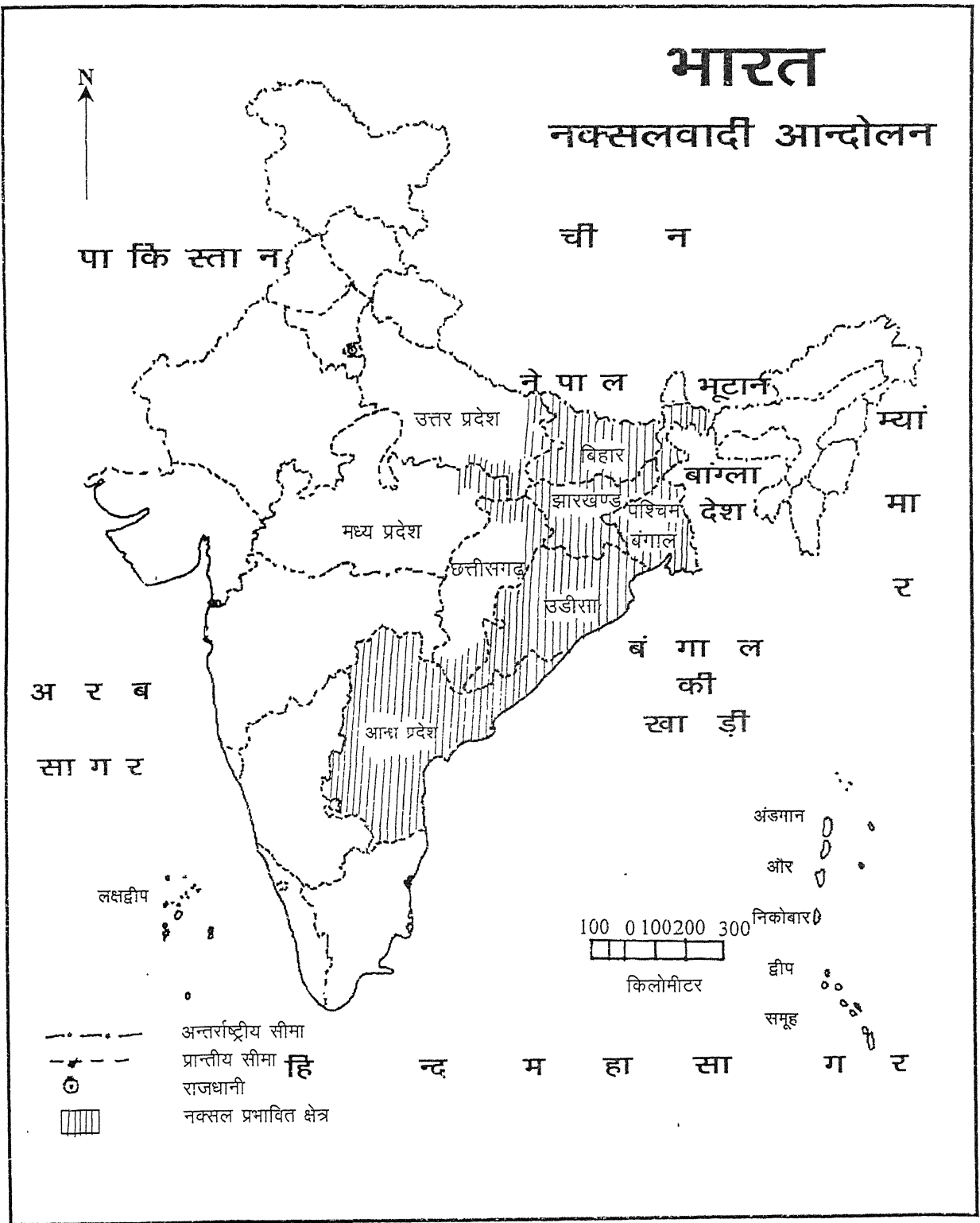
चित्र 7.2

के नाम पर अब तक कुछ भी नहीं किया गया। इसी कारण इस क्षेत्र के निर्धन और भूमिहीन जनता ने अब हथियार उठा लिया है तथा वह जमींदारो एवं तालुक्केदारों को अपना निशाना बना रही है। ये नक्सली भूपतियों से हजारों एकड़ भूमि छीनकर भूमिहीनों के बीच बांट चुके हैं। अब तो यह जनता, सरकारी कर्मचारियों एवं अधिकारियों का निःसंकोच अपहरण कर रहे हैं तथा सरकारी सम्पत्ति को अपने हमले का निशाना बना रहे हैं (श्रीवास्तव, 2000, पृ० 165)। नक्सलवादियों का दर्शन चाहें जो भी हो, लेकिन वह असंवैधानिक है और इससे अराजक तत्वों एवं विघटनकारी तत्वों को बढ़ावा मिलता है।

7.3 पृथकतावादी आन्दोलन

पृथकतावादी आन्दोलन का प्रभाव मुख्यतः भारत के परिधीय क्षेत्रों (जम्मू–कश्मीर, पंजाब, उत्तर–पूर्व के राज्य) पर अधिक प्रभावशाली देखा जाता है (चित्र 7.3)। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय जब मुस्लिम लीग के नेता पाकिस्तान की माँग कर रहे थे तभी कुछ अकाली नेताओं के मस्तिष्क में अलग राज्य 'सिक्खिस्तान' का भाव उभरा परन्तु पाकिस्तान बन जाने के बाद हुए खूनी संघर्ष तथा शरणार्थियों की भीषण समस्या ज्वलन्त प्रश्न बनकर सामने आयी, जिसके आगे अलग राज्य की माँग उभर नहीं पायी। सन् 1946–47 ई० के दंगों में हिन्दू–सिख एकता इतनी मजबूत हो गयी थी कि दोनों के बीच कोई फर्क नहीं रह गया (श्रीवास्तव, 1996, पृ० 332)। अकाली दल ने अक्टूबर, 1973 ई० में आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव स्वीकार किया। इस प्रस्ताव में चंडीगढ़ के अलावा हरियाणा, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश के सिख आबादी वाले पंजाबी भाषी क्षेत्रों को तत्काल पंजाब में मिलाने की माँग की गयी थी। इसमें केन्द्र की भूमिका को रक्षा, विदेशी मामलों, डाक व दूरसंचार, मुद्रा और रेलवे तक सीमित रखते हुए केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में मूलभूत परिवर्तन की माँग की गयी थी। नवम्बर, 1982 ई० में जारी किये गये प्रस्ताव के अधिप्रमाणित रूपान्तरण में "ऐसी प्रशासनिक इकाई के बनाने पर जोर दिया गया जहाँ सिखों और सिख धर्म के हितों को विशेष संरक्षण मिल सके" (सिंह, 1999, पृ० 360)। अकाली दल का राजनीतिक लक्ष्य "खालसा की प्रमुखता" की स्थापना है। जब सिखों के पृथक् राज्य की बात नहीं मानी गयी तो वहाँ आतंकवाद का जन्म हुआ जो बड़ी कठिनाई से कुचला जा सका।

भारत
पृथकतावादी आन्दोलन
N
जम्मू और कश्मीर
पा कि स्ता न
चीं न
पंजाब
अरुणाचल
ने पा ल
भूटान
असम
नागालैण्ड
मेघालय
बांग्ला
देश
मणिपुर
त्रिपुरा
मिजोरम
म्यां
मा
र
बं गा ल
की
खा ड़ी
अ र ब
सा ग र
अंडमान
और
निकोबार
द्वीप
समूह
लक्षद्वीप
तमिलनाडु
100 0 100 200 300
किलोमीटर
अन्तर्राष्ट्रीय सीमा
प्रान्तीय सीमा
राजधानी
पृथकतावादी आन्दोलन प्रभावित क्षेत्र
हिन्द महासागर
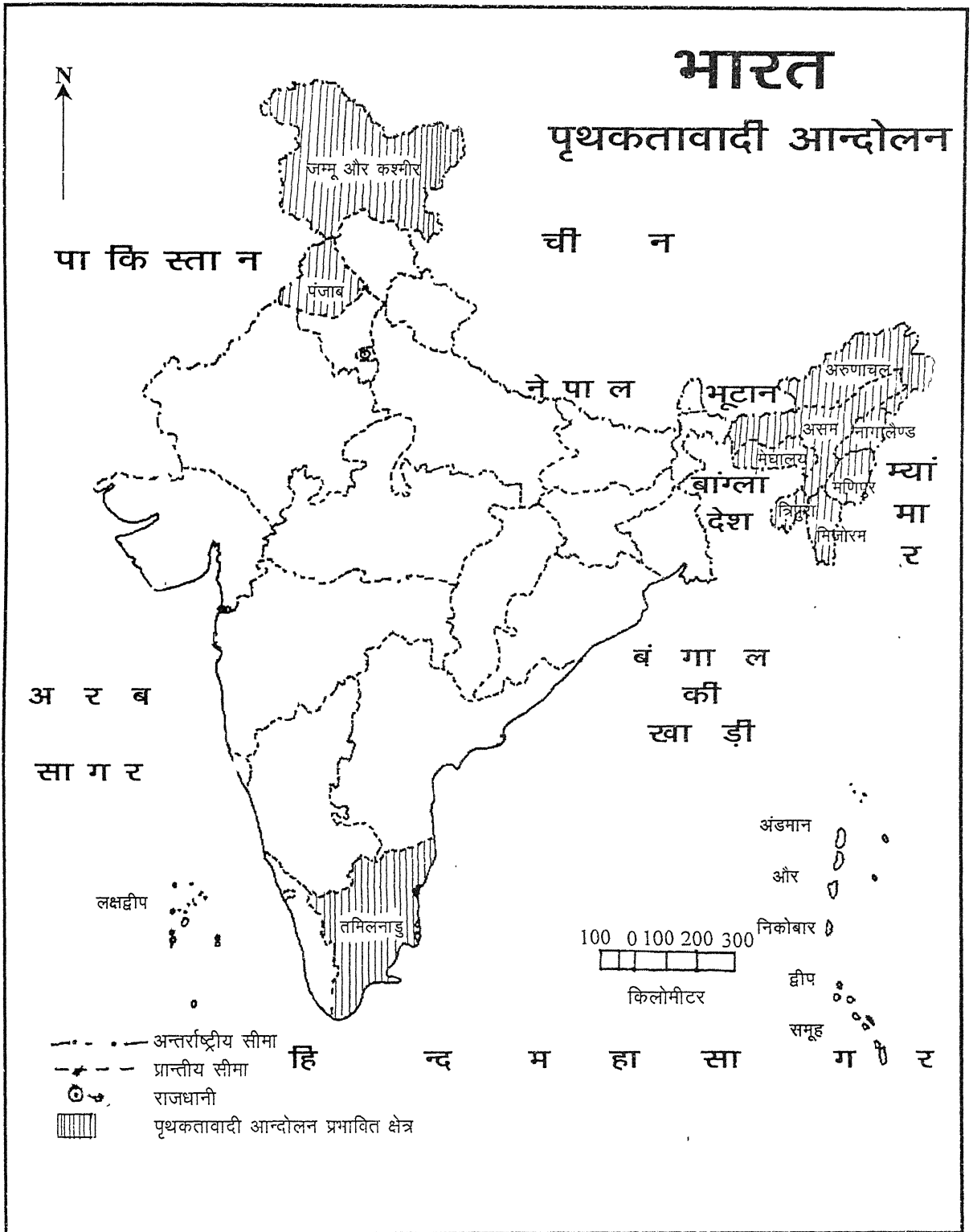
चित्र 7.3

स्वतंत्र कश्मीर की माँग बहुत समय से उग्रवादियों द्वारा अभी भी की जा रही है। कश्मीर के उग्रवादी साम्प्रदायिकता का खेल खेल रहे हैं। कश्मीर घाटी का तो इस्लामीकरण हो चुका है। वहाँ अल्पसंख्यक हिन्दू एवं सिख तथा राष्ट्रवादी मुस्लिम परिवार वहाँ से जान बचाकर भाग खड़े हुए। राजनीतिक अस्थिरता ने अलगाववाद की आग में घी डालने का काम किया। बेरोजगारी, गरीबी और भ्रष्टाचार जैसी समस्याओं का निदान करने की अपेक्षा इन्हें और बढ़ाया। परिणामस्वरूप राजनीतिक नेताओं पर आम जनता का विश्वास उठ गया तथा उग्रवादी संगठनों की पकड़ मजबूत होती चली गयी। आज हालत यह है कि कश्मीर घाटी में खुलेआम मकानों पर पाकिस्तानी झण्डे देखे जा सकते हैं और भारत विरोधी नारे लगाये जाते हैं (श्रीवास्तव, 2000, पृ० 161–162)।

द्रविड़ मुनेत्र कड़गम मद्रास में पिछली शताब्दी के आरम्भ में ब्राह्मण विरोधी द्रविड आन्दोलन का उत्तराधिकारी है। यह आन्दोलन शिक्षा के प्रसार, आधुनिकीकरण और विकास की प्रक्रिया का सीधा परिणाम है। आन्दोलन का प्रमुख लक्ष्य, सामाजिक जीवन में ब्राह्मणों के प्रभुत्व को समाप्त करना था। इस तमिल राष्ट्रवाद का मुख्य आधार द्रविड़ संस्कृति की आर्य संस्कृति से भिन्नता और इसके द्वारा मूल द्रविड़ संस्कृति के विनाश का आरोप। इसने ब्राह्मणों को आर्य आक्रमण के प्रतिनिधियों के रूप में प्रयुक्त किया। परिणामस्वरूप नवोदित तमिल राष्ट्रवाद का राजनीतिक प्रभाव तीव्रता से बढ़ा। द्रविड़ मुनेत्र कड़गम के अनुसार दक्षिण की निर्धनता का मुख्य कारण यहाँ औद्योगीकरण का सीमित विकास था जिसके लिए उत्तर भारतीय व्यापारियों द्वारा दक्षिण भारत पर आर्थिक नियन्त्रण जिम्मेदार बताया गया। उत्तर भारत को दक्षिण भारत का शोषण करने वाली साम्राज्यवादी शक्ति की संज्ञा दी गयी और कहा गया कि केन्द्रीय सरकार दक्षिण के लोगों की दुर्दशा और आर्थिक स्थिरता के प्रति उदासीन थी। इस प्रकार दक्षिण की आर्थिक स्वतंत्रता का प्रश्न, उत्तर के राजनीतिक प्रभुत्व से मुक्ति अथवा द्रविड़ संस्कृति की आर्य संस्कृति के नियन्त्रण से पृथक्ता के साथ जोडा गया। इसके लिए हिन्दी विरोधी तथा पृथक् द्रविड़नाड के लिए आन्दोलनों का आवाहन किया गया (कौशिक, 2000, पृ० 376)।

पिछले कई दशक से अशान्त उत्तर-पूर्व के राज्यों में अब एक नई लहर पैदा हो रही है। यह नई राजनीतिक और सामाजिक लहर एक कबीले से दूसरे कबीले और एक जाति से

दूसरी जाति के अन्तर्विरोध के कारण व्यापक हिंसा का रूप धारण करती जा रही है। यदि इस कबीलाई युद्ध को रोकने के लिए सरकार ने कोई कदम नहीं उठाया तो व्यापक नरसंहार के साथ–साथ देश की एकता और अखण्डता को चुनौती देने वाली ताकतें भी सिर उठाने लग जायेंगी। पहले उनका संघर्ष हमेशा केन्द्रीय सरकार के साथ होता था लेकिन बदली हुई परिस्थितियों में यह संघर्ष इसलिए क्षेत्रीयता की ओर मुड़ गया है कि अब हर जाति अथवा कबीला अपने लिये एक अलग होमलैण्ड की माँग करता है। आज सम्पूर्ण पूर्वोत्तर भारत आहत और अशान्त है। इस संवेदनशील क्षेत्र की कई समस्यायें हैं, यथा आर्थिक पिछड़ापन, व्यापक बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, प्रशासनिक अक्षमता और अलगाववादी तत्वों द्वारा लम्बे समय से उद्दीप्त किये जा रहे गहरे जातीय द्वेष व राष्ट्र विरोधी भावनायें। इनके फलस्वरूप मणिपुर, नागालैण्ड, मिजोरम, त्रिपुरा तथा असम सशस्त्र विद्रोहियों की हिंसा और पृथक्तावादी गतिविधियों से आक्रांत है (सिंह, 1999, पृ० 369–370)।

7.4 शरणार्थी एवं गैर कानूनी घुसपैठ

देश के विभाजन के बाद भी करोड़ों की संख्या में मुसलमान भारत में बचे रहे और लाखों हिन्दू पाकिस्तानी भूमि में अपना जीवन–यापन करते रहे। विभाजन के कारण साम्प्रदायिक हिंसा का जितना बड़े पैमाने पर विस्फोट हुआ, उसने इन अल्पसंख्यकों की आशाओं को धूल–धूसरित कर दिया। धर्मनिरपेक्ष भारत में, विशेषकर नेहरू जी के जीवन काल में अल्पसंख्यकों को सरकारी संरक्षण प्राप्त था और उनके अधिकारों के हनन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। परन्तु पाकिस्तान में ऐसा नहीं था, विशेषकर पूर्वी बंगाल में रहने वाले हिन्दू अल्पसंख्यकों का जीवन क्रमशः दूभर होता गया। सन् 1950 से 1953 ई० के बीच लहरों के रूप में ऐसे शरणार्थियों का भारत में प्रवेश हुआ और उनकी इस दशा से देश में साम्प्रदायिक तनाव का जन्म हुआ (पन्त एवं जैन, 1993, पृ० 430) एवं देश का सीमावर्ती क्षेत्र विशेषकर बांग्लादेश के समीप का भाग प्रभावित रहा है (चित्र 7.4)।

बांग्लादेश के घुसपैठियों की समस्या वोट बैंक की राजनीति के ट्रैफिक जाम में फँस गयी है। एक करोड़ बीस लाख से अधिक घुसपैठिये देश के विभिन्न भागों में आकर बस चुके हैं। बांग्लादेश के पड़ोसी भारतीय राज्यों में तो कई दर्जन ऐसे जिले हैं जहाँ बांग्लादेशी

N
भारत
बांग्लादेशी घुसपैठियों से प्रभावित क्षेत्र
चीन
अरुणाचल प्रदेश
सिक्किम
भूटान
नेपाल
बिहार
असम
नागालैण्ड
मेघालय
म्यांमार
मणिपुर
बांग्ला देश
झारखण्ड
त्रिपुरा
पश्चिम बंगाल
मिजोरम
उडीसा
बंगाल की खाड़ी
अन्तर्राष्ट्रीय सीमा
प्रान्तीय सीमा
प्रभावित क्षेत्र
100 0 100 200 300
किलोमीटर
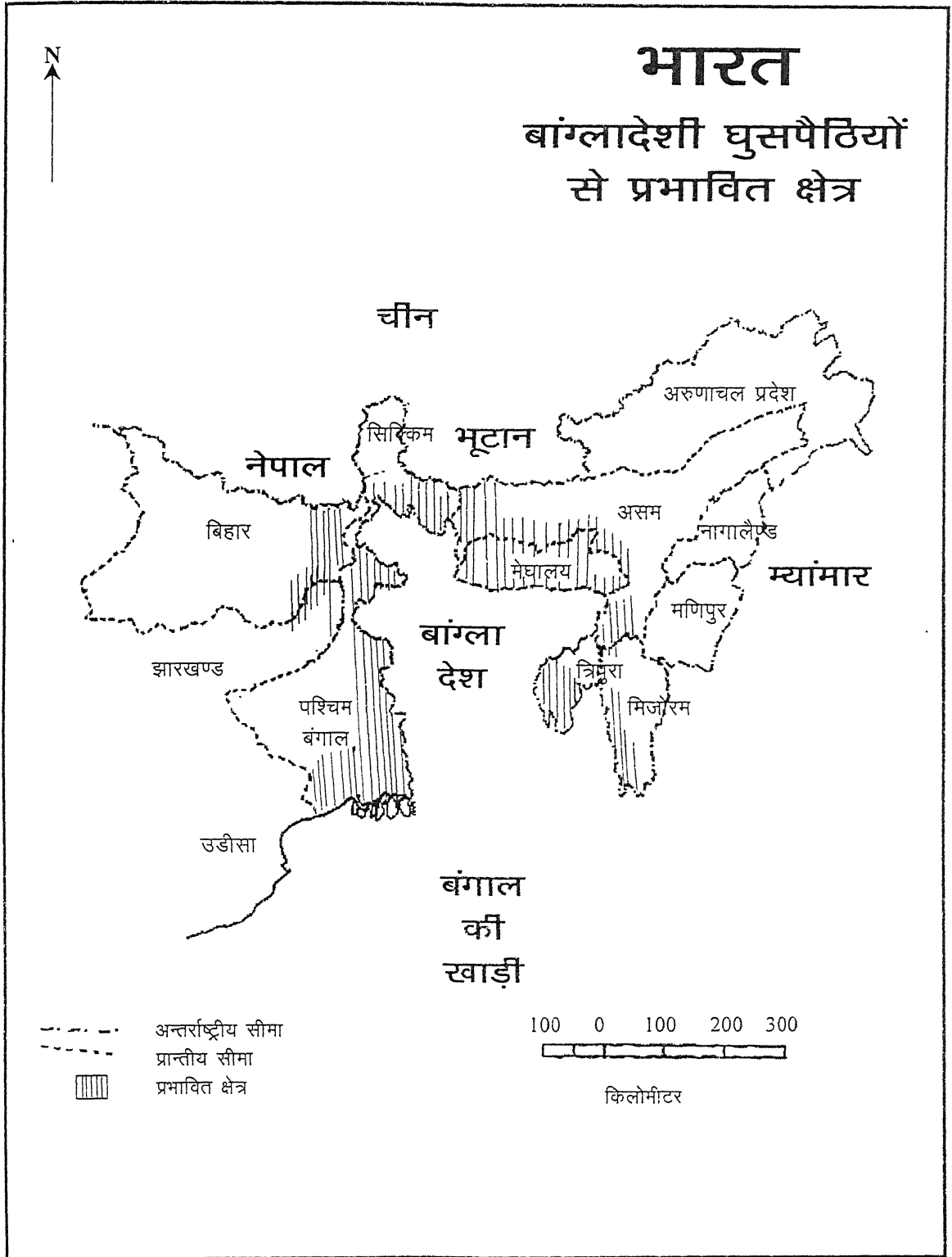
चित्र 7.4

मुसलमानों का बहुमत हो गया है। विशेष रूप से पश्चिम बंगाल, असम, बिहार और पूर्वोत्तर भारत के कुछ राज्यों में स्थिति ज्यादा भयानक हो गयी है। पश्चिम बंगाल के पांच जिले– दक्षिण चौबीस परगना, उत्तर चौबीस परगना, नादिया, मुर्शिदाबाद, पश्चिमी दीनाजपुर आबादी के हिसाब से बांग्लादेशी इलाके हो गये हैं। बिहार के पूर्णिया, कटिहार, किशनगंज और अररिया जिलों की आधी से अधिक आबादी बांग्लादेशी शरणार्थियों की हो गयी है। असम के दस जिलों की आबादी के हिसाब से बांग्लादेश का विस्तार कहा जा सकता है। ये जिले हैं– धुबरी, बारपेटा, बोंगाईगाँव, नलबारी, कोकराझार, लखीमपुर, दारांग, नौगांव और कामरूप। पाकिस्तान की गुप्तचर संस्था आई०एस०आई० पूर्वोत्तर के इस क्षेत्र में एक तरफ आतंकवादी संगठनों को मदद कर रही है दूसरी तरफ बड़ी संख्या में बांग्लादेश की गरीब आबादी को भारत की खुशहाली का सपना दिखाकर घुसपैठ करा रही है जिससे असम को मुस्लिम बहुल बनाया जा सके और भारत का पुनः विभाजन कराया जा सके। असम में बड़ी संख्या में मुस्लिम संगठन खड़े हो गये हैं, असम का मुस्लिम मुक्ति मोर्चा, असम का संयुक्त मुस्लिम मुक्ति मोर्चा, मुस्लिम स्वयंसेवी सेना, इस्लामी मुक्ति सेना। इनमें कई तो मुस्लिम कट्टरतावादी ताकतों से भी प्रेरित हैं। आई०एस०आई० के एजेंट तरह-तरह के माफिया और दलाल जत्थे के जत्थे बांग्लादेशियों को भारत की सीमा में प्रवेश करा देते हैं। प्रवेश कराने के लिए भारत की सीमा में प्रवेश करा देते हैं। प्रवेश कराने के लिए भरत की सीमा सुरक्षा बलों को रिश्वत देते हैं। भारत-बांग्लादेश की सीमा की भौगोलिक रचना इस तरह की है कि घुसपैठ करना कठिन काम नहीं है।

योजनाबद्ध ढँग से आई०एस०आई० भारत पर जनसंख्या का हमला करा रही है, ताकि भारत में विदेशी मुस्लिम आबादी बढ़े। पश्चिम बंगाल में मौजूदा रफ्तार से अगले पच्चीस वर्षों में बांग्लादेशी मुसलमानों का बहुमत हो जायेगा। असम में यह स्थिति आने ही वाली है। इस समस्या के चार पहलू हैं। एक तो दीर्घकालिक इस्लामिक एजेंडा है। इसके अनुसार भारत में मुस्लिम आबादी बढ़ाते हुए देश का विभाजन कराते जाना है। पहली सफलता अफगानिस्तान में मिली थी। दूसरी सफलता पाकिस्तान के रूप में मिली। इसी योजना के तहत तीसरा मोर्चा कश्मीर में खोला गया है और अब बंगाल से लेकर असम तक

का पूर्वी भाग निशाने पर है यह इस्लामिक एजेंडा है कि ज्यादा से ज्यादा देशों में दारुल इस्लाम की स्थापना चरम मजहबी प्रेरणा है।

बांग्लादेशी मुसलमानों की घुसपैठ का एक मानवीय पहलू भी है। बांग्लादेश का क्षेत्रफल केवल 144000 वर्ग किमी० और आबादी 13 करोड से अधिक है अगले बीस वर्षों मे मौजूदा जन्मदर के हिसाब से यह 26 करोड़ हो जायेगी। सवाल खड़ा होता है कि वह कहाँ रहेंगे और कैसे अपना जीवन चलायेंगे? बांग्लादेश विश्व के कुछ सबसे गरीब देशों में है और वहाँ गरीबी बढ़ती जा रही है। इसलिए जो लोग अपनी जगह को छोड़कर भारत में आ रहे हैं, वह असल में रोजी–रोटी की मजबूरी में अपना वतन छोड़ रहे हैं। इनमें से एक प्रतिशत भी इस्लाम के राजनीति विस्तारवाद के इरादे से भारत में घुसपैठ कर रहे हों, ऐसा नहीं है। हाँ, जो घुसपैठ करा रहे हैं उनकी मंशा इस्लाम का राजनीतिक विस्तार है।

शरणार्थियों का तीसरा पहलू भारत की वोट बैंक की राजनीति से जुड़ा हुआ है। कोई तीन दशक पहले फखरूद्दीन अली अहमद ने अपने लोकसभा क्षेत्र मंगलदोई को चुनावों की दृष्टि से सुरक्षित करने के लिए मुस्लिम बहुल बनाने की कोशिश की और बांग्लादेशी घुसपैठ को प्रोत्साहन दिया। इससे असम में हिंसक आन्दोलन शुरू हो गया तथा इससे कई आतंकवादी संगठनों ने जन्म लिया। चूँकि घुसपैठियों की समस्या भारत की वोट बैंक की राजनीति से जुड़ गयी है इसलिए बांग्लादेश घुसपैठियों के सवाल उठाना साम्प्रदायिकता समझी जाने लगी और मौन मुखर समर्थन देना धर्मनिरपेक्ष बन गया। कुछ वर्ष पहले महाराष्ट्र सरकार ने मुम्बई में विधि द्वारा मान्य प्रक्रिया अपनाते हुए कुछ सौ बांग्लादेशियों को पहचाना और उन्हें बांग्लादेश में वापस भेजने की कानूनी प्रक्रिया पूरी की। पश्चिम बंगाल की कम्युनिस्ट सरकार ने महाराष्ट्र सरकार के इस निर्णय को साम्प्रदायिक बताया।

संसार में भारत ही एकमात्र ऐसा देश है जो अपने यहाँ अवैध घुसपैठ और घुसपैठियों को न केवल पनाह देता है, अपितु उन्हें कानूनी सहायता एवं सरकारी संरक्षण भी प्रदान करता है। अवैध बांग्लादेशी घुसपैठ की समस्या केवल असम और पश्चिमी बंगाल तक ही सीमित नहीं है। अपितु ये सम्पूर्ण देश में फैले हुए हैं। पश्चिमी बंगाल में प्रत्येक पन्द्रहवाँ

व्यक्ति बांग्लादेशी है और दो लाख से अधिक व्यक्ति प्रत्येक वर्ष भारत में अवैध रूप से घुसपैठ करके यहाँ स्थायी रूप से बस जाते हैं। यदि इस घुसपैठ पर रोक न लगाई गई तो बंगाल के एक और विभाजन की सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता।

7.5 छद्म राजनीति

राजनीति का उद्देश्य लोगों के जीवन को उच्च बनाना, गरीबी एवं शोषण को दूर करना तथा एक स्वस्थ समाज का निर्माण करना है। इन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए गांधी जी ने राजनीति को धर्म पर आधारित करना चाहा था। महात्मा गांधी जी राजनीति में 'राज' शब्द अर्थात् शक्ति या सत्ता की अपेक्षा 'नीति' शब्द अर्थात धर्म को प्रमुख मानते थे। आज भारतीय राजनीति अपने उद्देश्यों से न केवल हट गई है बल्कि उसने सत्ता की प्राप्ति हेतु अनुचित साधन भी अपनाना शुरू कर दिया है। आज भारतीय राजनीति में नैतिकता के स्थान पर सत्ता को प्राथमिकता मिल रही है। राजनीति में दल–बदल, भ्रष्टाचार अपराधीकरण आदि ऐसे कारक हावी हो गये हैं जो राजनीति को दूषित कर रहे हैं। आज भारतीय राजनीति में धर्म, भाषा, जाति, क्षेत्रवाद आदि का राजनीतिक स्वार्थों हेतु खुलकर प्रयोग किया जा रहा है। जिससे विघटनकारी तत्वों को बढ़ावा मिल रहा है। इस प्रकार छद्म राजनीति से देश की एकता के लिए खतरा उत्पन्न हो गया है। राजनीतिक पार्टियाँ कई क्षेत्रों में प्रादेशिकवाद एवं विघटनकारी आन्दोलनों को समर्थन दे रही हैं। क्षेत्रीय पार्टियों के विकास ने तो इस क्षेत्रवाद को और भी प्रोत्साहन दिया है। इन पार्टियों के समक्ष क्षेत्रीय हितों के अतिरिक्त राष्ट्रीय हितों का कोई महत्व नहीं है। कुछेक को छोड़कर अधिकांश राजनीतिक दल व्यक्ति एवं वंशवाद से बुरी तरह प्रभावित हैं। इन दलों की कोई निश्चित विचारधारायें नहीं हैं एवं इनके अनेक निर्णय व्यक्तिगत स्वार्थों, ईर्ष्या द्वेष आदि से प्रभावित होते हैं। राजनीतिज्ञ अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति हेतु विभिन्न प्रकार के छल, प्रपंचों, हिंसा आदि का सहारा ले रहे हैं। इन सभी कार्यों से लोगों की राजनेताओं, राजनीतिक दलों एवं प्रजातंत्र पर से आस्था एवं विश्वास कम होता जा रहा है। युवा वर्ग आक्रोशित हो रहा है जो जगह–जगह प्रदर्शनों, हिंसा आदि में दिखाई पड़ रहा है।

7.6 कृषक आन्दोलन

कृषक आन्दोलन वस्तुतः खेतिहर मजदूरों अथवा किसानों से सम्बन्धित वे आन्दोलन हैं जो उनके शोषण, पिछड़ेपन तथा आर्थिक विपन्नता के प्रतिफल हैं। किसान एवं उनसे सम्बन्धित अन्य समूहों का भी सहभाग इन आन्दोलनों का एक आवश्यक अंग हो सकता है। कृषक आन्दोलन, ऐसे आन्दोलनों की ओर लक्ष्य करते हैं जिनका मूलाधार कृषि के व्यवसाय से सम्बन्धित है, जो मुख्य रूप से अपने सत्तापरक स्वामियों के दबाव एवं दासता से मुक्ति हेतु किये जाते हैं। कोई भी आन्दोलन कृषक आन्दोलन बन सकता है, बशर्ते उसका मूल उद्देश्य कृषकों के अधिकार की लड़ाई हो, चाहे वह कृषकों द्वारा गठित हो अथवा अन्य समूहों द्वारा। हिंसा अथवा हिंसा का भय दिखाकर, अन्यथा कृषि कार्यों से निरपेक्ष भाव दिखाकर जब खेतिहर मजदूर, भू–स्वामियों अथवा सम्बन्धित सरकार को झुकाने का प्रयास करता है तो कृषि आन्दोलन जन्म लेते हैं।

वास्तव में कृषक आन्दोलन मूलतः तब घटित होते हैं जब किसानों तथा कृषि कार्यों के मध्य कोई असामंजस्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। औद्योगीकरण की बृद्धि के कारण जब खेत–खलिहानों के व्यवसाय तथा खेतिहर कुटीर उद्योगों के बल पर जीवन–यापन करने वालों की जीविका पर प्रहार होता है तो आन्दोलनों के माध्यम से संघर्ष की स्थिति का उत्पन्न होना अवश्यम्भावी हो जाता है। वे विद्रोही किसान या श्रमिक, जो दी जा रही श्रम–मूल्य की नीति का विरोध करते हैं और प्रतिफल में बेरोजगार हो जाते हैं, उनमें भी विरोध की आग भड़कती है। धार्मिक निषेधों अथवा मान्यताओं के कारण जिन्हें भूमिहीन से भूस्वामी में परिवर्तित होने का अधिकार नहीं मिल पाता वे कभी न कभी विद्रोह पर आमादा हो जाते हैं। इसी प्रकार कम मजदूरी, अधिक लगान, महाजनों द्वारा शोषण, भू–स्वामियों द्वारा बन्धक बनाये जाने के विरोध में भी कृषक आन्दोलन प्रतिफलित होते हैं। पंजाब, हरियाणा एवं पश्चिम उत्तर प्रदेश के कृषि विकसित क्षेत्रों में पानी, बिजली, उवर्रक, कीटनाशक, उन्नत बीज आदि कृषि आदानों को निःशुल्क अथवा कम दाम पर उपलब्ध कराने एवं कृषि उपजों के मूल्य को बढ़ाने हेतु किये जाने वाले आन्दोलन भी कृषि आन्दोलन के अंग हैं। ये समस्त कृषक आन्दोलन कृषि तथा उसके विभिन्न उपांगों पर केन्द्रित होते हैं।

भारतीय कृषक आन्दोलन मुख्यतः दो विचारधाराओं में विभाजित दिखायी पड़ते हैं। भूदान, सर्वोदय तथा अन्य अहिंसक आन्दोलन मूलतः गांधीवादी विचारधारा से प्रेरित रहे हैं। इसके विपरीत तेभागा, तेलंगाना, नक्सलवादी तथा अन्य भूमि हथियाओं आन्दोलन कम्युनिस्ट राजनीतिक दलों ने उन्हें भरपूर समर्थन दिया है। इसी प्रकार उत्तरी भारत का प्रसिद्ध निजाई बोल आन्दोलन (1946) कांग्रेसी विचारधारा से प्रभावित रहा, जबकि सन् 1970 ई० का भूमि हथियाओं आन्दोलन कम्युनिस्ट विचारधारा पर आधारित था।

ब्रिटिश उपनिवेशवादी नीतियों ने भारत के सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों को विशेष तौर पर प्रभावित किया था। इनमें से भू–राजस्व नीति ने भारतीय कृषकों के जीवन पर अत्यन्त घातक प्रभाव डाला। जमींदारी प्रथा, बेदखली, राजस्व की ऊंची दरें तथा किसानों के तमाम तरीके से शोषणों ने किसानों को विद्रोह करने के लिए मजबूर किया। किसान विद्रोहों का स्वरूप व्यापक नहीं था बल्कि ये केवल अपने ही इलाकों या कुछ मामलों में थोड़ा सा विस्तृत रहे थे। इनके अपने ही हित संघर्ष के मुद्दे होते थे। कुछ विद्रोहों में तो राष्ट्र प्रेम तथा राष्ट्रीय भावना की झलक मिलती थी जैसे, सन्यासी विद्रोह। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ये विद्रोह स्वाधीनता संग्राम के अंग नहीं थे।

अंग्रेजों के उपनिवेशवादी शोषण का कहर भारतीय किसानों पर ही सबसे ज्यादा बरपा था। औपनिवेशिक आर्थिक नीतियाँ, भू–राजस्व की नई प्रणाली और उपनिवेशवादी प्रशासनिक व न्यायिक व्यवस्था ने कृषकों की कमर तोड़ दी। दस्तकारी उद्योगों के तबाह हो जाने से इन उद्योगों में लगे लोग भी कृषि की तरफ वापस लौटने पर मजबूर हो गये, जिससे कृषि योग्य भूमि पर दबाव काफी बढ़ गया और इस प्रकार कृषि का पूरा ढाँचा ही बदलने लगा। बड़ी जमींदारी वाले इलाकों में किसानों पर अत्याचार बढ़ने लगे। जमींदार उनसे मनमाने ढॅग से अवैध लगान वसूलते और बेगार कराते। रैयतवारी इलाकों में लगान की दरें अधिक बढ़ाकर ठीक यही काम सरकार ने किया। परिणामस्वरूप किसान धीरे–धीरे महाजनों के चँगुल में फँसते गये और इस तरह उनकी जमीन फसल, मकान और पशु उनके हाथ से निकलकर जमीदारों, व्यापारियो, महाजनों और धनी किसानों के हाथ में पहुँच गये। जमीन के मालिक छोटे किसानों की हैसियत से महज काश्तकारों, बंटाईदारों और खेतिहर मजदूरों की ही रह गयी (चन्द्र, 1996, पृ० 19)।

देशी और विदेशी शोषण के इस चक्र को तोड़ने की किसानों ने कई नाकाम कोशिशें कीं। स्थानीय स्तर पर जब उनके सामूहिक संघर्ष विफल होने लगे और उन्हें लगा कि वे औपनिवेशिक राज्य का मुकाबला नहीं कर पायेंगे और शोषण के थमने के कोई आसार नहीं है, तो उनके विरोध ने मजबूरन अपराध का रास्ता पकड़ा। जमीन से वंचित किये गये बहुत से कृषक भुखमरी से बचने के लिए मजबूरन डकैत और राहजन हो गये (चन्द्र, 1996, पृ० 18)।

किसान आन्दोलन के प्रारम्भिक स्तर में जहाँ एक ओर जमींदारों के अत्याचार बढ़ गये थे, वहीं दूसरी ओर ब्रिटिश सरकार द्वारा भूमिकर अत्यधिक बढ़ा दिया गया। परिणामतः किसानों में असंतोष उत्पन्न हो गया। 19 वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में न केवल कई अकाल पड़े बल्कि भयंकर आर्थिक मन्दी भी आयी। इस अवधि में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध सन् 1885 ई० में सन्थाल विद्रोह, साहूकारों के विरुद्ध सन् 1875 ई० में दक्षिण के दंगे, सन् 1870–85 ई० में बंगाल में आन्दोलन, अवध विद्रोह, पंजाब में कृषक आन्दोलन, दक्षिण भारत में मोपलाह एवं तेलंगाना कृषक आन्दोलन, सन् 1875–76 ई० में पूना–अहमदनगर का कृषक आन्दोलन, सन् 1913–14 ई० में राजस्थान का बिजोलिया कृषक आन्दोलन, उत्तर प्रदेश का एका कृषक आन्दोलन एवं निजाई–बोल आन्दोलन, सन् 1917 ई० में बिहार का चम्पारण कृषक आन्दोलन, सन् 1919–21 ई० में महाराष्ट्र का सतारा कृषक आन्दोलन, गुजरात में सन् 1918 ई० का खेड़ा तथा सन् 1920 ई० का बारदोली कृषक आन्दोलन प्रमुख हैं। प्रथम चरण में कांग्रेस ने ग्रामीण क्षेत्रों में कृषक समितियाँ बनायीं तथा कृषकों और कृषि सम्बन्धी समस्याओं की ओर ध्यान दिया। कांग्रेस द्वारा चलाये गये ये आन्दोलन भूमिकर की बढ़ी हुई दरों को कम कराने से सम्बन्धित थे और किसी भी रूप में जमीदारों के विरुद्ध नहीं थे। अनेक स्थानों पर गांधी जी ने फसल के नष्ट हो जाने की स्थिति में भूमिकर वसूल किये जाने के विरुद्ध आन्दोलन किये। इसी समय गांधी जी द्वारा असहयोग आन्दोलन चलाया गया जिसमें प्रथम बार कृषकों ने यह सोचकर भाग लिया कि इससे भूमिकर कम हो सकेगा और हमारी आर्थिक स्थिति सुधर सकेगी।

चूँकि कांग्रेस ने जमींदारों तथा भू–स्वामियों के हितों की रक्षा की नीति अपना रखी थी, इसलिए द्वितीय स्तर पर ग्रामीण भारत में किसानों के स्वयं के संगठन निर्मित हुए।

किसानों ने यह महसूस किया कि कृषकों की रक्षा के लिए उनके स्वयं के संगठन होने चाहिए और उन्हें ही नेतृत्व करना चाहिए। परिणामस्वरूप देश के विभिन्न भागों में कृषक संगठन बन गये। सन् 1923 ई० में सर्वप्रथम किसान संगठनों तथा कृषक श्रम संघों का निर्माण हुआ। सन् 1926–27 ई० में पंजाब, बंगाल तथा उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में किसान सभायें बनायी गयी। सन् 1928 से 1931 ई० तक गुजरात में बारदोली जिले में कृषकों के दो संघर्ष हुए। सन् 1935 ई० में प्रथम किसान कांग्रेस की लखनऊ में स्थापना हुई जिसके प्रयत्नों से अखिल भारतवर्षीय किसान सभा का गठन किया गया। यह किसान सभा कृषित भारत की आकांक्षाओं तथा आवश्कताओं का केन्द्र बन गयी। इस दौरान देश के विभिन्न भागों में किसान सभा द्वारा आन्दोलन चलाये गये। आन्ध्र प्रदेश में जमींदारों के जुर्म के खिलाफ आन्दोलन, स्वामी सहजानन्द ने बिहार में जमींदारी उन्मूलन से सम्बन्धित आन्दोलन चलाये, सन् 1927 ई० में दक्षिण भारत में दमनकारी जंगल कानूनों के विरुद्ध आन्दोलन तथा इसी प्रकार उत्तर प्रदेश तथा देश के अन्य भागों में जमींदारों के अत्याचारों के खिलाफ आन्दोलन चलाये गये। बिहार के किसानों ने कांग्रेस मंत्रिमण्डल के विश्वासघात के विरुद्ध बड़े पैमाने पर आन्दोलन चलाया, उत्तर प्रदेश में भूमि बन्दोबस्त विरोधी आन्दोलन हुआ, कर्जों से मुक्ति दिलाने हेतु बंगाल में आन्दोलन हुआ, कोया विद्रोह तथा मयूरभंज में भील आन्दोलन कृषक आन्दोलनों के उदाहरण हैं। भारतीय कृषक आन्दोलनों में अन्य प्रमुख आन्दोलन हैं– मैसूर व ट्रावनकोर के किसान आन्दोलन, राजा–महाराजाओं एवं स्थानीय ठाकुरों के विरुद्ध उड़ीसा, जयपुर, उदयपुर तथा ग्वालियर में हुए आन्दोलन। फिर भी किसान सभा कृषकों के लिए कोई प्रभावशाली आन्दोलन नहीं चला सकी। सन् 1942 ई० में कांग्रेस के भारत छोड़ो आन्दोलन में किसान सम्मिलित हो गये। उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, महाराष्ट्र तथा तमिलनाडु में किसानों ने समानान्तर सरकारों की स्थापना की। बंगाल में मिदनापुर में किसानों को महत्वपूर्ण सफलता मिली जहाँ अंग्रेज शासक अपना नियंत्रण पुनः प्राप्त करने में असफल रहे।

स्वतन्त्रता के पश्चात् से किसानों के विविध प्रकार के आन्दोलन सम्पूर्ण देश में हुए हैं। इनमें तेलंगाना का प्रसिद्ध किसान आन्दोलन, पेप्सू काश्तकार आन्दोलन जो आजादी के पहले से चला आ रहा था, साठ के दशक के अन्त का नक्सलपंथी अर्थात् माओवादी

आन्दोलन, अस्सी के दशक में महाराष्ट्र का 'नये' किसान आन्दोलन, मध्य प्रदेश और बिहार में सन् 1957–58 ई० में खारवाड़ आदिवासी आन्दोलन, महाराष्ट्र के धुलिया में सन् 1967–75 ई० का भीलों का आन्दोलन, सन् 1978 ई० में मार्क्सवादी जेसुइट प्रदीप प्रभु के नेतृत्व में काश्टकाड संगठन द्वारा चलाया गया वर्ली संघर्ष आदि। पंजाब और आन्ध्र प्रदेश में किसानों ने बेहतरी लेवी के खिलाफ आन्दोलन चलाया। यह लेवी सिंचाई स्कीमों, फसलों की बेहतर कीमतों जैसे कार्यों पर अधिक खर्चे को पूरा करने के लिए लगायी गयी थी। सी०पी०आई० ने सन् 1968 ई० में मेगा में प्रथम राष्ट्रीय स्तर का खेत मजदूर संगठन, भारतीय खेत मजदूर यूनियन स्थापित किया। तंजौर, केरल एवं देश के अन्य भागों में भी कृषक आन्दोलन हुए। ये आन्दोलन स्वतन्त्रता के बाद कृषि एवं सामाजिक परिवर्तनों को प्रतिबिंबित करते हैं। आजादी की आशा और कृषि सम्बन्धों में परिवर्तनों की अपेक्षा रखते हुए सन् 1945–47 ई० में सम्पूर्ण देश में कृषि संघर्षों में तेजी आ गई। इनमें से कई आन्दोलन जैसे बंगाल में तेभागा और पंजाब में नहर बस्तियों के काश्तकारों के आन्दोलन, साम्प्रदायिकता के उभार के कारण बिखर गये। हैदराबाद राज्य का तेलंगाना क्षेत्र तथा पेप्सू का पटियाला क्षेत्र के कृषक आन्दोलन आजादी के बाद भी चलते रहे। इन दोनों आन्दोलनों का नेतृत्व कम्युनिस्ट किया करते थे (चन्द्र, 2002, पृ० 554–555)। उपर्युक्त कृषक आन्दोलनों के अतिरिक्त महाराष्ट्र में शेतकारी आन्दोलन तथा अल्मोड़ा जिले के एक गाँव खीराकोट में भी कृषक आन्दोलन चले जिनका उद्देश्य किसानों के हितों की रक्षा करना था। संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारत में कृषक आन्दोलन का प्रारम्भ सामन्ती व्यवस्था एवं किसानों के शोषण और दमन के विरोध स्वरूप उत्पन्न हुआ जिनका उद्देश्य सामाजिक व आर्थिक न्याय प्राप्त करना था।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत सरकार ने कृषकों की दशा सुधारने के काफी प्रयास किये। फिर भी उन प्रयासों से उनकी स्थिति में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुए। आज भी देश में सबसे दयनीय दशा कृषि क्षेत्र में विशेषकर भूमिहीन कृषि मजदूरों एवं छोटे किसानों में देखी जाती है। अकाल एवं सूखे से सबसे अधिक ये ही प्रभावित होते हैं। कुपोषण से सबसे अधिक मौतें भी इसी वर्ग में देखी जाती हैं। आन्ध्र प्रदेश आदि देश के कई भागों में मौसम की अस्थिरता एवं फसलों के नष्ट होने के कारण कृषि ऋण के चुकाने में असमर्थता के

कारण प्रतिवर्ष किसान आत्महत्या तक के लिए विवश हो रहे हैं। कृषक आन्दोलनों की सफलता के कम होने का प्रमुख कारण उनका मिल मजदूरों आदि की तरह संगठित न होना एवं राजनीतिक प्रोत्साहन का कम पाया जाना है। हाल में पश्चिम उत्तर प्रदेश के कुछ अंचलों में श्री महेन्द्र सिंह टिकैत ने कृषि पंचायत के माध्यम से किसानों को संगठित करने एवं विभिन्न कृषि समस्याओं हेतु सुसंगठित होकर सरकार एवं संबंधित संस्थाओं, अधिकारियों का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया है। पंजाब एवं हरियाणा के किसान भी सुसंगठित होने का प्रयास कर रहे हैं। फिर भी अखिल भारतीय स्तर पर किसानों के संगठन के बनने में अभी काफी समय लगने की संभावना है। वर्तमान सन्दर्भ में आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति अपने स्वयं के स्वार्थों से ऊपर उठकर कृषकों के लिए सही दृष्टिकोण अपनाते हुए काम करे। भारत सरकार द्वारा बीस सूत्रीय कार्यक्रम के अन्तर्गत किसानों के लिए न्यूनतम कृषि मजदूरी निश्चित करने अथवा फसल में जमींदार के अधिकतम हिस्से की सीमा निर्धारित करके विधान सभाओं तथा संसद ने कृषकों के प्रति अपनी उदारता का परिचय दिया है किन्तु ये सभी कदम अधूरे एवं अपर्याप्त हैं। हाल में कृषि को उद्योगों का दर्जा देने की माँग उठ रही है। कृषि क्षेत्र में भूमि सुधारों की कमी एवं उनके लागू करने हेतु पर्याप्त इच्छा शक्ति का अभाव ही कृषि दुरवस्था का प्रमुख कारण है। जीवन की गुणवत्ता में सुधार हेतु कृषि क्षेत्र से अतिरिक्त श्रम को द्वितीयक एवं तृतीयक व्यवसायों की ओर स्थानान्तरित करना समीचीन होगा। कृषि में अनुषंगी व्यवसायों को बढ़ावा देकर भी कुछ सफलता अर्जित की जा सकती है।

7.7 मजदूर आन्दोलन

भारत में औपनिवेशिक शासन की स्थापना से सर्वप्रथम यहाँ के परम्परागत हस्तशिल्प उद्योगों को नुकसान हुआ और कृषि का स्वरूप भी परिवर्तित हो गया जिसके कारण यहाँ स्वतंत्र मजदूर वर्ग का उदय हुआ। 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रारम्भ में भारत में आधुनिक उद्योग–धन्धों की शुरुआत हुई। सन् 1853 ई० के पश्चात् भारतीय संचार साधनों में मशीनों का प्रयोग होने लगा। रेल लाइनों के बिछाने तथा इंजन के लिये कोयला निकालने में हजारों श्रमिकों को रोजगार मिला। यह भारतीय श्रमिक वर्ग का प्रारम्भिक काल था। इंग्लैण्ड तथा शेष संसार में औद्योगीकरण के प्रारम्भिक चरण में मजदूर वर्ग को जिन कठिनाइयों का

सामना करना पड़ा, भारतीय मजदूर वर्ग ने भी भारत में उसी प्रकार के शोषण एवं कठिनाइयों का सामना किया। इन कठिनाइयों में कम मजदूरी, कार्य के लम्बे घण्टे, कारखानों में बुनियादी सुविधाओं का अभाव इत्यादि प्रमुख थीं। भारत में औपनिवेशिक शासन की उपस्थिति ने भारतीय मजदूर आन्दोलन को एक नयी दिशा प्रदान की। भारतीय मजदूर वर्ग को दो परस्पर विरोधी तत्वों उपनिवेशवादी राजनीतिक शासन तथा विदेशी एवं भारतीय पूंजीपतियों के शोषण का सामना करना पड़ा। सन् 1854 ई० में कलकत्ता में पहली जूट मिल और सन् 1854 में ही पहली कपड़ा मिल बम्बई में बनीं, जिसमें ज्यादातर मजदूर जमातों में एकजुट होते थे, जो जाति पर आधारित होती थीं। पर शीघ्र ही श्रमिकों ने महसूस किया कि जाति आधारित संगठन उनकी एकता के लिए घातक है, क्योंकि मिल मालिक एक जातीय संगठन को दूसरे जातीय संगठन के खिलाफ इस्तेमाल करते हैं। इसी विकसित समझ के चलते 24 अप्रैल, 1890 ई० को बम्बई के मिल मजदूरों के एक संगठन "बाम्बे मिलहैण्ड्स एसोसिएशन" की स्थापना हुई जिसके अध्यक्ष एन०एच० लोखांडे और सचिव डी०सी० अथाइदे थे। इस संगठन ने नाथ दीनबन्धु नाम से अपना पर्चा भी निकाला। इसी तरह कलकत्ता और अन्य औद्योगिक नगरों में भी वर्ग आधारित श्रमिक संगठन अस्तित्व में आने लगे। धीरे–धीरे इस श्रमिक वर्ग में भी अपने हितों के प्रति जागरूकता आयी और हड़तालों तथा ट्रेड यूनियनों के माध्यम से इन्होंने समय–समय पर अपना आक्रोश व्यक्त किया। यद्यपि प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व तक स्वाधीनता संग्राम में श्रमिकों में पूर्ण चेतना का अभाव था, लेकिन प्रथम विश्व युद्ध के बाद से उनमें राजनीतिक जागरुकता का उदय हो चुका था। सन् 1917 ई० में हुई रूसी क्रान्ति जो मजदूरों के नाम पर सत्ता में आयी थी, ने भारत में ट्रेड यूनियन आन्दोलन पर अपना प्रभाव डाला। भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग का एक तबका इस विचारधारा की ओर आकर्षित हुआ और उसने मजदूर संगठनों के निर्माण में हाथ बँटाना आरम्भ किया। सन् 1918 ई० के अन्त में मुम्बई में कपड़ा मिल मजदूरों की हड़ताल पहली बड़ी हड़तालों में गिनी जाती है, जिसका नेतृत्व बुद्धिजीवी वर्ग कर रहा था। यह हड़ताल सन् 1919 ई० के आरम्भ तक एक व्यापक श्रमिक संघर्ष में बदल गयी और शहर के 1,25,000 श्रमिकों ने इसमें हिस्सेदारी की। सन् 1920 ई० तक यह हड़ताल अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। सन् 1920 ई० में 200 हड़तालें हुई जिनमें 15 लाख श्रमिकों ने भाग लिया। इन हड़ताल संघर्षों के साथ–साथ स्थानीय या राज्य स्तर पर मजदूर संगठन की स्थापना की प्रक्रिया चलती रही।

बी०पी० वाडिया ने भारत में आधुनिक श्रमिक संघ, 'मद्रास श्रमिक संघ' की स्थापना की, इन्हीं के प्रयत्नों से सन् 1926 ई० में श्रमिक संघ अधिनियम पारित किया गया। सन् 1920 ई० में स्थापित अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में तत्कालीन 64 श्रमिक संघ शामिल हो गये। एन०एम० जोशी, लाला लाजपत राय एवं जोसेफ बैपटिस्ट के प्रयत्नों से ही सन् 1920 ई० में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना की गयी। लाला लालपत राय इसके पहले अध्यक्ष बने। सन् 1920 ई० के बाद ट्रेड यूनियन कांग्रेस पर वामपंथियों का प्रभाव बढ़ने लगा, सन् 1926–27 में यह संगठन दो गुटों में बँट गया था जिनमें पहला सुधारवादी तथा दूसरा क्रांतिकारी गुट था। इसे क्रमशः 'जेनेवा एमस्टर्डम गुट' एवं 'मास्को गुट' भी कहते थे। सन् 1929 ई० में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन का विभाजन दो भागों में हो गया। एम०एन० जोशी के नेतृत्व में नरमपंथी लोगों ने ट्रेड यूनियन से अलग होकर 'भारतीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन' की स्थापना की। भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में विभाजन का मुख्य कारण साम्यवादियों का इस पर बढ़ता हुआ प्रभाव था। सन् 1929 ई० में ही साम्यवादियों ने ट्रेड यूनियन कांग्रेस से अलग होकर 'लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस' की स्थापना की। सन् 1938 ई० में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस, लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस तथा राष्ट्रीय फेडरेशन ऑफ ट्रेड यूनियन में पुनः एकता स्थापित हो गयी। एक होने के बाद अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने भारत में समाजवादी राज्य की स्थापना, उद्योगों के राष्ट्रीयकरण एवं प्रेस तथा विचारों को व्यक्त करने की स्वतंत्रता का समर्थन किया। सन् 1938 ई० में सुभाष चन्द्र बोस के सहयोग से हिन्द मजदूर सेवक संघ की स्थापना हुई। तदनुसार बंगाल में पहली मजदूर किसान पार्टी की स्थापना सन् 1925 ई० में हुई। सन् 1928 ई० में कलकत्ता में अखिल भारतीय मजदूर किसान पार्टी की स्थापना हुई। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् श्रमिक आन्दोलन में काफी तेजी आयी क्योंकि रूस के विजयी होने के बाद साम्यवादियों का प्रभुत्व बढ़ा, जिसका प्रभाव भारतीय श्रमिक आन्दोलन पर पड़ा। सन् 1940 ई० में साम्यवादी अतिवादी नेता एम०एन० राय ने अपने को अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस से अलग कर 'इण्डियन फेडरेशन ऑफ लेबर' की स्थापना की, इस दल को सरकार का समर्थक दल माना जाता था। राष्ट्रवादी नेता बल्लभभाई पटेल ने मई, 1947 ई० में भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना की। समाजवादियों के प्रयास से सन् 1948 ई० में 'हिन्द मजदूर सभा' की स्थापना हुई। इस संघ की स्थापना का उद्देश्य भारत

में लोकतांत्रिक समाजवादी समाज को स्थापित करना, मजदूरों के हित, अधिकार एवं सुविधा की लड़ाई लड़ना, शैक्षिक स्तर को सुधारने के लिए संस्थायें गठित करना आदि। जनसंघ ने भारतीय मजदूर संघ बनाया।

आजादी के बाद मजदूर संगठनों में पहली वाली एकता नहीं रही। विभिन्न मामलों पर एक ही राय होने के बावजूद अपनी राजनीतिक सम्बद्धतांओं के चलते वे एक न हो सके। परन्तु अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस देश की सबसे बड़ी ट्रेड यूनियन बनी रही और देश की संयुक्त साम्यवादी पार्टी उसे नियन्त्रित करती रही। बाद में जब सन् 1964 ई० में साम्यवादी दल में विभाजन हुआ और मार्क्सवादी पार्टी का गठन हुआ तो उसने अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (एटक) को तोड़कर अपना अलग संगठन सेन्टर ऑफ इण्डियन ट्रेड यूनियन (सीटू) बनाया। इस तरह जिस गौरवशाली विरासत की वाहक अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस थी, वह अलग–अलग संगठनों में बँट गयी। भारत में सार्वजनिक क्षेत्र की स्थापना और प्रसार के साथ–साथ मजदूर संगठनों में इस बात की होड़ लग गयी थी कि कौन कितने सदस्य इन संगठनों में बना सकता है। सार्वजनिक क्षेत्र के मजदूर मुख्यतः अच्छे वेतन वाले श्वेत कालर कर्मचारी थे। उसी बैंकों में भी हर ट्रेड यूनियन घुसपैठ करने लगी। अब ट्रेड यूनियन की शक्ति का मापदण्ड यह हो गया कि सार्वजनिक क्षेत्र, रेलवे और बैंक में कर्मचारियों पर किस मजदूर संगठन का कितना नियन्त्रण है। इसने ट्रेड यूनियनों और मजदूर आन्दोलनों को दो प्रकार से प्रभावित किया। एक तो ट्रेड यूनियन बनाना एक व्यवसाय जैसा हो गया। जो ट्रेड यूनियन जितना वेतन बढ़वा सके, मँहगाई भत्ता दिलवा सके, वह यूनियन अब अधिक अच्छी मानी जाने लगी अर्थात् ट्रेड यूनियन आन्दोलन पर अर्थवाद हावी हो गया और मजदूरों की राजनीतिक शिक्षा नदारद हो गयी। दूसरे, ट्रेड यूनियनों का जुझारू चरित्र बचा न रह सका। मजदूर संगठनों का काम सौदेबाजी कराना ज्यादा हो गया। इसने स्वतंत्र ट्रेड यूनियनों और स्वतंत्र ट्रेड यूनियन नेताओं को जन्म दिया, जिनकी कोई राजनीतिक सम्बद्धता नहीं थी और जो विशुद्ध मजदूर नेता थे। मुम्बई में दत्ता सामन्त का स्वतंत्र ट्रेड यूनियन नेता के रूप में उभार इसी शून्य को भरने की प्रक्रिया है।

अभी भी भारतीय मजदूरों की विशाल संख्या असंगठित क्षेत्र में कार्यरत हैं, जहाँ हमारी ट्रेड यूनियनों की पहुँच नहीं बन पायी है। उदाहरणार्थ, निर्माण उद्योग, छोटे कारखाने,

लघु उद्यम आदि में ट्रेड यूनियनें नहीं के बराबर हैं। इस क्षेत्र में बराबर शोषण जारी है और बड़ी संख्या में बाल मजदूर भी कार्य करते हैं। इसे विडम्बना ही कहा जायेगा कि कुछ स्वयंसेवी संस्थाओं को छोड़कर इस क्षेत्र की ओर किसी राजनीतिक दल ने और किसी राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन ने कभी समुचित ध्यान नहीं दिया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

आहूजा, राम, 2002 : **सामाजिक समस्यायें,** रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एवं दिल्ली।

चन्द्र, विपिन, 2002 : **आजादी के बाद का भारत,** हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

कौशिक, रेखा, 2002 : **भारत में सरकार और राजनीति,** पीयूष पब्लिकेशन्स, दिल्ली।

पन्त, पुष्पेश एवं जैन, श्रीपाल, 1993 : **अन्तर्राष्ट्रयी सम्बन्ध,** मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ।

सिंह, लल्लन जी, 1997 : **राष्ट्रीय रक्षा और सुरक्षा,** प्रकाश बुक डिपो, बरेली।

श्रीवास्तव, जे०एम०, 2002 : **भारत की सुरक्षा,** चन्द्र प्रकाश एण्ड ब्रदर्स, हापुड़

श्रीवास्तव, ओमप्रिया, 1996 : **भारतीय संविधान, शासन और राजनीति,** सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, वाराणसी।

उपेन्द्र, 2001 : **समाज कार्य,** भारत प्रकाशन, लखनऊ।

अध्याय– 8

परामर्श एवं समाधान

उपनिवेश– पूर्व भारत ने समान अस्तित्व और समान चेतना के कुछ तत्व पहले ही अर्जित कर लिये थे। व्यापक सांस्कृतिक भिन्नता के बावजूद, इसकी सभ्यता ने अपने विकास की लम्बी दौड़ में एक सम्मिलित सांस्कृतिक विरासत के कुछ चिह्न पुष्पित किये थे। उसने लोगों को एक साथ पिरोया था, उन्हें एक होने का अहसास दिया था, यहाँ तक कि विभिन्नताओं और मतभेदों को बर्दाश्त करने की प्रवृत्ति को जन्म दिया था। रवीन्द्र नाथ टैगोर के अनुसार, 'भारत की एकता भावनाओं की एकता हैं'। राजनीतिक, प्रशासनिक और आर्थिक एकता के तत्वों को विकसित करने में मुगल शासकों की खास तौर से प्रमुख भूमिका रही। शासकों की राजनीति और क्षेत्र–विजय की आकांक्षा अक्सर प्रादेशिक सीमाओं से परे होती थी और उनमें भी ज्यादा महत्वाकांक्षी शासक पूरे उपमहाद्वीप में राज्य विस्तार करने की कोशिश करते थे। इसके अलावा यातायात और संचार के पिछड़े साधनों के बावजूद उत्तर मध्यकाल में बड़ी मात्रा में अखिल भारतीय व्यापार, उत्पादन का विशेषीकरण और ऋण–तन्त्र विकसित हुआ। हजारों वर्षो के दौरान एक अस्पष्ट भारतीयता का अहसास पैदा हुआ। भारतीय अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति के उपनिवेशीकरण ने भारत के एकीकरण की प्रक्रिया को और सुदृढ़ बना दिया। राष्ट्रीय आन्दोलन ने ही वह केन्द्रीय भूमिका निभाई थी जिसने भारतीयों को राजनीतिक और भावनात्मक रूप से जोड़ कर उन्हें एक राष्ट्र का स्वरूप दे दिया था। स्वतन्त्रता से पूर्व भारत पूरी तरह एक सुगठित राष्ट्र नहीं था वरन् यह बनने की प्रक्रिया की ओर अग्रसर था। भारतीय राष्ट्र की रचना एक दीर्घकालीन और सतत् प्रक्रिया थी न कि 15 अगस्त् 1947 ई० को घटने वाली कोई घटना। इसलिए इसके सामने हमेशा विखण्डन का खतरा बना हुआ था। ऐसा एक विखण्डन सन् 1947 ई० में हो चुका था। आजादी के बाद भी भारत के एकीकरण और राष्ट्रीय एकता की प्रक्रिया को सतर्कतापूर्वक न केवल बनाये रखना होगा बल्कि उसे और भी ज्यादा प्रोत्साहित और पोषित करना होगा (चन्द्र, 2002, पृ० 111-112]) वर्तमान अध्याय में प्रादेशिकवाद पर नियंत्रण करते हुए राष्ट्रीय

एकीकरण एवं समन्वयन की भावना को बनाए रखने के लिए कुछ परामर्श एवं सुझाव प्रस्तावित किये गये हैं।

भारत विश्व का एक सबसे अधिक सांस्कृतिक विभिन्नताओं वाला देश है। इसके अन्दर बड़ी संख्या में भिन्न–भिन्न भाषाई, सांस्कृतिक, भौगोलिक एवं आर्थिक विषमताओं वाले क्षेत्र मौजूद हैं। यहाँ कई धर्मों हिन्दू, इस्लाम, ईसाई, सिख, पारसी, यहूदी, बौद्ध एवं जैन आदि के अलावा लाखों आदिवासी अपने सैकड़ों धार्मिक पंथों के साथ निवास करते हैं। ये आदिवासी कबीले देश की कुल जनसंख्या के छह प्रतिशत हैं और सम्पूर्ण देश में फैले हुए हैं। भारत की विविधता कभी इसकी एकता के मार्ग में बाधक नहीं रही है। भारत का एकीकरण और स्तरीकरण का समापन, मात्र इसकी विशाल विविधता को स्वीकार करके ही किया जा सकता है, विविधता को राष्ट्र– रचना का विरोधी मानकर नहीं। क्षेत्रीय सांस्कृतिक पहचान का विकास अखिल भारतीय पहचान के विरोधी के रूप में नहीं बल्कि उसके अंग के रूप में होना चाहिए। भाषा, संस्कृति, धर्म और मूल की विभिन्नताओं को किसी समाप्त करने लायक बाधा के रूप में नहीं, राष्ट्रीय सुदृढ़ीकरण के विपरीत ध्रुव के रूप में नहीं, बल्कि ऐसी सकारात्मक विशेषता के रूप में देखा जाना चाहिए जो शक्ति का स्रोत है, और जिसे उदित हो रहे साझा राष्ट्रत्व के अन्दर समाहित कर लिया जाना चाहिए। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय राष्ट्र का सुदृढ़ीकरण एक व्यापक रणनीति के तहत किया गया जिसमें क्षेत्रीय एकीकरण, राजनीतिक और संस्थागत संसाधनों का संचालन, एकीकरण को प्रोत्साहित करने वाली नीतियाँ, वीभत्स असमानतओं का उन्मूलन और समान अवसर उपलब्ध कराना शामिल था (चन्द्र, 2002, पृ० 113– 114)।

भारत में अलगाववाद की भावना को जन्म देने के पीछे जहाँ भाषा, जाति, साम्प्रदायिकता, आतंकवाद आदि तत्व उत्तरदायी हैं, वहाँ प्रादेशिकवाद भी अलगाववाद को बढ़ावा देने में किसी अन्य तत्व से कम नहीं है। भारतीय राजनीति भी प्रादेशिकवाद की चोट से बच न सकी, फलतः आन्दोलनात्मक राजनीति में तेजी आई। यथार्थ में, प्रादेशिकवाद की समस्या आज राष्ट्रीय एकता के मार्ग में कंटक बन गई है। अतः हमें सरकार के साथ सहयोगी प्रवृत्ति अपनानी चाहिए, ताकि भारतीय एकता का रास्ता प्रशस्त बनाया जा सके।

उप–सांस्कृतिक क्षेत्रों का सन्तुलित आर्थिक विकास सम्भव हो सके, जिससे कि विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक तनाव कम हो सके। भाषाई विवाद के शीघ्र समाधान हेतु 'त्रिभाषा फार्मूला' को क्रियान्वित किया जाना उपयुक्त होगा। प्रचार माध्यमों को चाहिए कि एक राज्य या क्षेत्र विशेष की ओर अधिक ध्यान न दें, अपितु सभी क्षेत्रों को समान दृष्टि से देखना चाहिए। केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में सभी क्षेत्रों के नेताओं का सन्तुलित प्रतिनिधित्व होना चाहिए, जिससे कि क्षेत्रीय पक्षपातपूर्ण नीतियों का निर्माण एवं क्रियान्वयन न हो सके और लोगों के मन–मस्तिष्क पर सरकार के इरादों के प्रति सन्देह का पर्दा न पड़े। इसके अलावा, केन्द्र व राज्य सरकारों के बीच पारस्परिक सम्बन्धों को अधिकाधिक सौहार्द्रपूर्ण बनाने के लिए दोनों ही पक्षों को इस प्रकार की नीति तथा आचार संहिता को हृदयंगम करना चाहिए कि पारस्परिक विश्वास सदैव बना रहें तथा एक–दूसरे पर आरोप–प्रत्यारोप की परिस्थितियॉ उत्पन्न न हो सकें। साथ ही केन्द्र सरकार को सदैव सतर्क रहना चाहिए क्योंकि स्वार्थी तथा संकीर्ण मनोभाव वाले नेतागण अवसर आते ही प्रादेशिकता की भावना को भड़काने का प्रयास कर सकते हैं। यदि हमें अपने देश की एकता एवं सम्प्रभुता को सुरक्षित रखना है तथा उसे अलगाववाद की काली छाया से दूर रखना है तो हमें संघर्षात्मक प्रादेशिकता की भावना को त्यागकर सहयोगी प्रादेशिकता का दामन मजबूती से थामना होगा।

पाकिस्तान भारत को विखण्डित करने के लिए आतंकवाद का सहारा ले रहा है। जम्मू–कश्मीर में प्रशिक्षित आतंकवादियों को भेजा जा रहा है, ये आतंकवादी सेना से सीधे टकरा रहें हैं। उल्फा और पाक खुफिया एजेंसी आई० एस० आई० का गठजोड़ हैं। उल्फा वर्षों से असम में संघर्ष चला रहा है और सरकार उसे दबा नहीं पायी है। पूर्वोत्तर के आन्दोलनों में एक पृथकतावादी टोन नजर आता है। लेकिन भौगोलिक दूरी के कारण देश के ये आन्दोलन सामान्य जीवनधारा को बहुत उद्वेलित नहीं करते। दशकों से यह स्थिति है कि वहाँ विद्रोही आवाजें उठती रहती हैं, कुछ आन्दोलन थककर समाप्त भी होते रहे हैं, लेकिन सच्चाई यह है कि उन चिंताओं को दिल्ली की मुख्य चिंता कभी नहीं मानी गयी। इसी उपेक्षा के चलते पूर्वोत्तर के सबसे विकसित और मुख्यधारा से जुड़े राज्य असम में बाहरी नागरिकता के सवाल पर एक आन्दोलन खड़ा हुआ और जब राजनीति के जबड़ों में फँसकर वह अभूतपूर्व आन्दोलन टूटा तो कई चीजें हमेशाा के लिए विकृत हो गईं। माना जाता है कि

बोडो और उल्फा जैसे संकीर्ण आन्दोलन उसी मंथन से उपजे हलाहल हैं। आतंकवाद के लिए पूर्वोत्तर एवं जम्मू– कश्मीर उपयुक्त जगह हैं। वहाँ के घने और बीहड़ जगलों में छापामारों को खोजना आसान नहीं है। सेना की भारी मौजूदगी के बावजूद वहाँ स्वतन्त्रता के बाद से अशान्ति बनी हुई है। आज वहाँ कई इलाके हैं, जहाँ सरकार का शासन नाममात्र का है।

आतंकवाद को समाप्त करने के लिए पाकिस्तान को बताना होगा कि वह हर क्षण युद्ध के लिए तत्पर है। किसी औपचारिक घोषणा की जरूरत नहीं है। भारत को सीमा पर लगातार युद्धाभ्यास चलाने होंगे। स्वाभाविक है कि अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर इसकी तीखी प्रतिक्रिया होगी। भारत को बहिष्कार की धमकियाँ मिलेंगी और कई तरह के दबाव पड़ेंगे, लेकिन भारत को यह साफ कर देना होगा कि सीमा पार के आतंकवादी शिविरों को नष्ट करने का अधिकार वह अपने पास रखता है। हमारे सामने एक उदाहरण चीन का है, जो ताइवान की ओर से सिर्फ 'आजादी' शब्द सुनते ही समुद्र में मिसाइलें दागने लगता है। अपने इन तेवरों से चीन पड़ोसियों को आतंकित करने में कामयाब भी रहता है। एक और उदाहरण अमेरिका है, जो अपने 'हितों की रक्षा' के सिद्धान्त पर दुनियाँ में कहीं भी धावा बोलना अपना अधिकार समझता है। भारत की प्रतिक्रिया भी ऐसी ही हो तो यकीनन पाकिस्तान में उसका असर पड़ेगा।

8.1 प्रादेशिकवाद पर नियंत्रण हेतु सुझाव

किसी भी लोकतान्त्रिक राष्ट्र के लिए, विशेष रूप से ऐसा राष्ट्र जो अभी भी राष्ट्र–निर्माण और राष्ट्रीय एकीकरण की समस्याओं से जूझ रहा हो, प्रादेशिकवाद की प्रवृत्ति का विकास एक चिन्ताजनक विषय है। इस प्रवृत्ति पर एक सोची–समझी और सुविचारित रणनीति के द्वारा ही नियन्त्रण लगाया जा सकता है। प्रादेशिकवाद पर अंकुश लगाने के कुछ प्रभावशाली उपाय इस प्रकार हो सकते हैं–

1- देश में व्याप्त आर्थिक विषमता को समाप्त करने का प्रयास किया जाना चाहिये। जहाँ तक सम्भव हो पिछड़े क्षेत्रों के आर्थिक विकास पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए, ताकि उन्हें राष्ट्र विकास की मुख्य धारा से जोड़ा जा सके। संघ सरकार को राज्य सरकारों

को पिछड़े हुए क्षेत्रों के विकास पर विशेष ध्यान देने के लिए निर्देश देना चाहिए। सरकार को विकास कार्यक्रमों का निर्माण और उनका क्रियान्वयन कुछ इस प्रकार से करना चाहिए कि सन्तुलित क्षेत्रीय विकास को बढ़ावा मिल सके। यह बात निर्विवाद है कि भारत में अब तक चलाये गये अधिकांश क्षेत्रीय आन्दोलनों के मूल में असन्तुलित आर्थिक विकास का एक एहसास ही रहा है। तेलंगाना के आन्दोलन से हमें यह सीख ग्रहण करनी चाहिये कि एक राज्य के भीतर भी अगर किसी भाग या क्षेत्र की पूर्णतया उपेक्षा की गई तो वहाँ के लोगों में भी आन्दोलन एवं अलगाव की प्रवृत्ति अवश्य ही पनपेगी। गरीबी और बेरोजगारी उन्मूलन की दिशा में ठोस एवं चरणबद्ध प्रयास किया जाना चाहिये। सभी प्रकार के विशेषाधिकार वर्गों का अन्त हो तथा अमीर–गरीब में बढ़ती हुई खाई को पाटकर यथाशीघ्र आर्थिक असमानताओं को दूर किया जाये। आज आर्थिक विकास की असफलता पर जनता द्वारा सरकारों को पलटा जा रहा है। फिर प्रादेशिक स्तर पर आर्थिक असन्तुलन तो और भी चिन्ता का विषय है।

2- विशिष्ट जातीय समुदाय की अपनी विशिष्ट संस्कृति और पहचान को सुरक्षित रखने के सरकार द्वारा विशेष प्रयास किये जाने चाहिए। वैसे भी इस आशय के प्रावधान संविधान में मौलिक अधिकारों (अनुच्छेद 29–30) में किये गये हैं। इन्हें पूर्ण ईमानदारी से लागू किया जाना चाहिए। इससे इन जातीय समूहों के सांस्कृतिक एकाकीपन को रोका जा सकेगा। यह उपाय बोडोलैण्ड जैसे आन्दोलनों के सन्दर्भ में विशेष लाभप्रद सिद्ध हो सकता है।

3- विलगाववादी आन्दोलनों की हिंसात्मक प्रवृत्ति पर कठोरता से अंकुश लगाया जाना चाहिए। सरकार को यह दृढ़तापूर्वक स्पष्ट कर देना चाहिए कि किसी भी प्रकार की क्षेत्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति संविधान के दायरे में शान्तिपूर्ण ढ़ंग से ही सम्भव है।

4- सामाजिक न्याय की स्थापना की दिशा में ठोस कदम उठाये जायें। अस्पृश्यता–उन्मूलन के सम्बन्ध में कानूनी व्यवस्था को प्रभावशाली ढँग से लागू किया जाये। प्रो० रजनी कोठारी का मत है, "भारत जैसे विशाल देश में, जहाँ इतने विविध प्रकार के लोग रहते हैं एकता की स्थापना इसी से हो सकती है कि सब तत्वों को राजनीतिक सत्ता व अधिकार में भाग दिया जाये और सबको साथ लेकर चला जाय। राजनीति की इस रचनात्मक भूमिका से

ही एकीकरण की प्रवृत्तियों को बल मिलता है।'' यदि सत्ता और राजनीति में एक ही वर्ग या कुछ वर्गों का एकाधिकार होगा तो निश्चय ही अन्य वर्गों में निराशा और अलगाववाद की भावना उत्पन्न होगी (मुकर्जी, 2001, पृ० 436)।

5- राष्ट्रीय एकीकरण के विकास के लिये इन राज्यों में संघर्षात्मक और प्रतिस्पर्द्धात्मक भावनाओं को समाप्त कर सहकारी व सहयोगी संघवाद के भव्य भवन का निर्माण करना चाहिये। राज्यों को नदी, पानी, सीमा, वित्तीय साधनों तथा राष्ट्रीय सम्पदा के वितरण को लेकर उग्र आन्दोलनात्मक रुख नहीं अपनाना चाहिए (मुकर्जी, 2001, पृ० 436)।

6- देश की भावनात्मक एवं राष्ट्रीय एकता में राजनीतिज्ञ और उनका व्यवहार एक बड़ी बाधा है। आचार्य कृपलानी ने राष्ट्रीय एकता सम्मेलन में कहा था, ''देश की एकता को खतरा पैदा करने के लिए हम राजनीतिज्ञ लोग जिम्मेदार हैं। यदि हम राजनीतिज्ञों में एकता हो जाये तो देश में एकता स्थापित होने में समय नहीं लगेगा।'' राजनीतिज्ञों को अपने संकीर्ण व्यक्तिगत और दलीय स्वार्थों से ऊपर उठकर राष्ट्र के सामने आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए। इन्हें राष्ट्रीय एकता के लिये रचनात्मक भूमिका अदा करनी चाहिए। राजनीतिज्ञों के लिए स्वस्थ राजनीति पर आधारित एक आचार संहिता का निर्माण एवं इसका विधिवत क्रियान्वयन परमावश्यक है। ऐसी व्यवस्था करने की आवश्यकता है जिससे अपराधियों, बौद्धिक दृष्टि से अपरिपक्व, कम पढ़े लिखे, भ्रष्ट लोगों के बजाय सुशिक्षित ईमानदार एवं कर्मठ राजनीतिज्ञ भाग ले सकें।

7- प्रो० एम० एन० श्रीनिवास का विचाार है, ''पूरे देश और सभी क्षेत्रों में त्वरित आर्थिक विकास, भाषा और धर्म के मामलों में सच्चे अर्थों में सहिष्णुता तथा जातिवाद को समाप्त करने की सुदृढ़ चेष्टा की जाये तो भारत सशक्त एवं संगठित देश के रूप में उठ खड़ा होगा।'' वस्तुतः इस देश में अधिकांश झगड़े तथा तनाव भाषा और धर्म को लेकर हुए हैं। अतः भाषागत एवं धर्मगत एकता बनाये रखने का प्रयास किया जाना चाहिए (मुकर्जी, 2001, पृ० 437)। एतदर्थ सभी धर्मों के धर्माचार्यों के सहयोग से एक मिली–जुली नीति बनाने की आवश्यकता है। जिसे सभी राजनीतिक दलों का समर्थन प्राप्त हो।

8- धार्मिक, जातीय और क्षेत्रीय नामों से चलने वाली संस्थाओं को प्रतिबंधित किया जाना चाहिए। आज कई संगठन जनता में विघटनकारी प्रवृत्तियों को उत्पन्न करते हैं तथा देश में हिंसात्मक आन्दोलन का सहारा लेकर देश में अराजकता उत्पन्न करते हैं। ऐसे संगठनों पर यथाशीघ्र प्रतिबन्ध लगा देना चाहिये। एतदर्थ यदि आवश्यक हो तो संविधान में उपयुक्त संशोधन कर अल्पसंख्यकों द्वारा धार्मिक स्वतंत्रता के दुरुपयोग पर अंकुश लगाने की आवश्यकता है।

9- विभिन्न प्रान्तों के लोगों के मध्य अधिकाधिक सांस्कृतिक आदान–प्रदान किया जाना चाहिए ताकि देश के सभी राज्य एक–दूसरे के अधिक निकट आ सकें और एक–दूसरे से अच्छी तरह से परिचित हो सकें। इससे पारस्परिक तनाव समाप्त हो सकेगा एवं राज्यों के बीच एक परस्पर सहयोग एवं आदान-प्रदान में वृद्धि होगी।

10- शैक्षणिक पाठ्यक्रम ऐसे हों जिनसे विद्यार्थियों में राष्ट्र प्रेम की भावना विकसित हो। शिक्षा के साधन और स्तर सम्पूर्ण देश में समान हों। देश में एक सम्पर्क भाषा को प्रोत्साहन दिया जाये ताकि लोग एक–दूसरे के निकट आ सकें। पाठ्यक्रम से ऐसे अध्यायों को हटा दिया जाये जिनसे सामाजिक विभेद पैदा होता है। भारत की प्रत्येक भाषा का विकास आवश्यक है। इसलिए पुस्तकों का भारत की प्रत्येक भाषा में अनुवाद करना चाहिए ताकि प्रत्येक व्यक्ति विभिन्नता में एकता के तत्वों का अध्ययन कर सके। पुस्तकों में ऐसे पाठ्यक्रम होने चाहिये जिससे राष्ट्रीय एकता की भावना को प्रोत्साहन मिले।

11- साम्प्रदायिकता, जातिवाद, भाषावाद आदि को शिक्षण संस्थाओं में हतोत्साहित करना चाहिए। छात्रों में अन्तर्राज्यीय एवं अर्न्तविश्वविद्यालयी आदान–प्रदान होना चाहिए। इसके साथ ही साथ विद्यार्थियों एवं शिक्षकों को दूसरे शिक्षण संस्थाओं में जाने के लिये प्रोत्साहन देना चाहिए। इसके अतिरिक्त ऐसी संस्थाओं का निर्माण करना चाहिए, जो कि जातिवाद, धर्मवाद या भाषावाद की जंजीरों को तोड़ें।

12- अन्तर्राज्यिक नदी–जल विवाद से भी प्रादेशिकवाद को प्रोत्साहन मिलता है। इसका प्रमुख कारण है कि वर्तमान व्यवस्था ऐसी हैं जिससे ऐसे विवादों को सुलझाने में अत्यधिक विलम्ब होता है और अधिकरण के अधिनिर्णय को लागू करने के लिए समुचित तन्त्र

की कोई व्यवस्था नहीं है। संविधान में जल–विवाद के समाधान से सम्बन्धित विशेष उपबन्ध हैं। लेकिन ऐसे किसी तन्त्र की कोई व्यवस्था नहीं है जिसके तहत जल विवाद का फैसला किया जा सके। संघ सरकार ने अब तक चार अधिकरणों की स्थापना की है– नर्मदा अधिकरण, कृष्णा अधिकरण, गोदावरी अधिकरण तथा कावेरी अधिकरण। अन्तर्राज्यिक नदी–जल विवाद के निपटारे के लिए निम्न उपाय किये जा सकते हैं (सरकारिया, 1998, पृ० 461-470) ––

(क) राज्यों के नदी–जल विवाद को एक निश्चित समय सीमा में हल किया जाना चाहिए, यह सीमा एक वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(ख) अधिकरण को सामान्यतः प्रभावित राज्य तथा संघ द्वारा समुचित मात्रा में सही आँकड़े उपलब्ध नहीं कराये जाते इसके लिए यह उपाय हो सकता है कि अधिकरण अपने समक्ष मौजूद आँकड़ों के आधार पर सर्वोत्तम निर्णय के आधार पर अपना निर्णय दे दे। इसके लिए वर्तमान अन्तर्राज्य नदियों और नदी घाटियों के सम्बन्ध में आवश्यक आँकड़ा–आधार तैयार किया जाना चाहिए। प्रमुख नदियों के सम्बन्ध में ऐसे आँकड़े एकत्र करने और इनकी नियमित रूप से समीक्षा करने और उन्हें अद्यतन बनाने का प्रयास किया जाना चाहिए।

(ग) अन्तर्राज्यिक नदी–जल विवाद को न केवल सम्बन्धित राज्यों के बीच नदी जल का निष्पक्ष वितरण सुनिश्चित किया जाना चाहिए बल्कि उसका व्यापक राष्ट्रीय हित में अनुकूलतम उपयोग किया जाना चाहिए।

(घ) अधिकरण के फैसले को पूर्णतः कठोरता से लागू किया जाना चाहिए और उस आदेश को सर्वोच्च न्यायालय के आदेश के बराबर माना जाना चाहिए।

(ङ) अन्तर्राज्यिक नदी–जल विवाद अधिनियम में संशोधन किया जाये ताकि संघ सरकार को, आवश्यकता पड़ने पर स्वप्रेरणा से अधिकरण के गठन की शक्ति प्राप्त हो जाय यदि वह इस बात से आश्वस्त हो कि वास्तव में ऐसा कोई विवाद है।

(च) भारत कुछ उन देशों में से है जहाँ सूखा और बाढ़ राहत के काम साथ–साथ चलते रहते हैं। यदि एक इलाके में जल आवश्यकता से अधिक है तो उसे उस इलाके में

भेजा जाना चाहिए जहाँ इसकी जरूरत है। हिमालयी क्षेत्र में तो नहीं प्रायद्वीपीय नदियों के जल के बँटवारे में हमेशा प्रादेशिकवाद को बल मिला। इसलिए राजनीति सबसे बड़ी समस्या है। मिसाल के तौर पर उड़ीसा नहीं मानता कि महानदी में जरूरत से अधिक जल है। इसी तरह आन्ध्र प्रदेश गोदावरी का पानी किसी अन्य राज्य को देने को तैयार नहीं है। इसलिए यह आवश्यक है नदी– जल को राज्य की सूची से निकालकर केन्द्रीय सूची में रख दिया जाये। नदियों को दो तरह से जोड़ा जा सकता है प्रथम हिमालयी नदियों को जोड़ना – इसके तहत गंगा–ब्रह्मपुत्र और उनकी सहायक नदियाँ, द्वितीय प्रायद्वीपीय नदियों महानदी, गोदावरी, कृष्णा एवं कावेरी को लिंक नहरों द्वारा जोड़ दिया जाना चाहिए। पुनः इन दोनों क्रमों को एक दूसरे से जोड़ देना चाहिए। इससे न केवल सूखा क्षेत्रों में सिंचाई की जा सकेगी बल्कि बाढ़ों पर नियन्त्रण किया जा सकेगा एवं बरसात के अतिरिक्त जल को संरक्षित किया जा सकेगा तथा प्रादेशिकवाद को रोकने में भी काफी हद तक कामयाबी मिलेगी। चीन और आस्ट्रेलिया में प्रमुख नदियों को सफलतापूर्वक जोड़ा गया। हालाँकि विरोधियों का मानना है कि देश की नदियों को जोड़ने से धन, पर्यावरण एवं जीव– जन्तुओं को काफी हानि होगी तथा सीमित मात्रा में विस्थापन होगा। लेकिन इससे मिलने वाला लाभ कहीं अधिक होगा।

उपर्युक्त उपायों को अपनाने से प्रादेशिकवाद की प्रवृत्ति पर स्वाभाविक ढँग से अंकुश लगाया जा सकता है। यदि समय रहते इन उपायों पर ध्यान नहीं दिया गया तो बहुत सम्भव है एक बार पुनः राज्यों का पुनर्गठन करना पड़े। समय–समय पर क्षेत्रीय समूहों द्वारा भाषाई अथवा सामाजिक–आर्थिक विकास असन्तुलन के आधार पर पुनः राज्य पुनर्गठन आयोग की माँग की जा रही है।

8.2 प्रादेशिकवाद की समस्या हेतु समाधान

भारत जैसे विविधतापूर्ण देश में लोकतन्त्र की स्थापना किये जाने पर प्रादेशिकवाद का उदय एवं विस्तार कोई अस्वाभाविक या आकस्मिक बात नहीं है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय भारत की आर्थिक दशा जर्जर थी। इसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष क्षेत्रीय विषमता और असन्तुलन था। अंग्रेजों के शासन ने अपनी सहूलियत के लिये क्षेत्रीय असन्तुलन पैदा किया एवं उसे बनाये रखने की भरपूर चेष्टा की। उन्होंने सम्पूर्ण देश में एक समान भूमि व्यवस्था

को लागू नहीं किया। कुछ क्षेत्रों यथा बंगाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तरी कर्नाटक एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश के वाराणसी खण्ड में जमींदारी व्यवस्था अपनायी गयी, तो मद्रास, बम्बई एवं असम में रैय्यतवाड़ी व्यवस्था तथा उत्तर प्रदेश, मध्य प्रान्त एवं पंजाब में महालवारी व्यवस्था लागू की गयी। भूमि व्यवस्था की विभिन्नताओं के कारण भारत जैसे कृषि प्रधान देश में, उत्पादन और शोषण की प्रक्रिया भिन्न रही। आर्थिक कारणों से समुद्र तटीय नगरों के विकास को प्राथमिकता दी गयी। यही क्षेत्र औद्योगीकरण के मुख्य क्षेत्र भी बने। इसके विपरीत गृह–उद्योगों के विनाश तथा हस्तशिल्प के उत्पादन को प्रोत्साहन न दिये जाने के कारण छोटे कामगरों एवं धंधों का विनाश हुआ। सामान्य पर्यवेक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शहरीकरण और औद्योगीकरण की दृष्टि से कई क्षेत्रों का अतिशय विस्तार हुआ और अनेक क्षेत्र पिछड़ते चले गये। अंग्रेजों की नीति के कारण भारत में अन्तर्राज्यीय और अन्तर्क्षेत्रीय स्तरों पर असमानताओं में निरन्तर वृद्धि होती रही।

लोकतन्त्र की स्थापना किये जाने पर भारत सरकार ने सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक आधार पर क्षेत्रीय असमानतायें दूर करने का उद्देश्य निर्धारित किया। भारत की संघीय व्यवस्था में विभिन्न राज्यों के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक भिन्नतायें होना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में क्षेत्रीय असमानताओं और विषमताओं का बना रहना राजनीतिक स्थिरता और एकता के लिये संकट उत्पन्न करने वाला हो सकता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह प्रयास किया गया कि क्षेत्रीय असमानताओं को कम करने में भारत सरकार को सक्रिय और महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है।

सन् 1951 ई० में जब प्रथम पंचवर्षीय योजना को लागू किया गया तो उसमें क्षेत्रीय विकास पर प्रमुख रूप से ध्यान दिया गया। किन्तु कई अपरिहार्य कारणों से विकास की प्रक्रिया निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त न कर सकी। उदाहरणार्थ, अब तक 11 वित्त आयोगों द्वारा सुझाव दिये जा चुके हैं और इनमें क्षेत्रीय असमानताओं की ओर संकेत दिये गये हैं। किन्तु क्षेत्रीय असमानताओं को दूर करने का लक्ष्य अभी भी लक्ष्य बना हुआ है। यही बात नियोजन के मामले में लागू होती है। पहले से विकसित अनेक राज्यों और क्षेत्रों को अल्पविकसित और पिछड़े राज्यों तथा क्षेत्रों की अपेक्षा विकास की अतिरिक्त सुविधा दिए जाने से उनकी विकास प्रक्रिया और तेज हुई और असन्तुलन में वृद्धि हुई।

क्षेत्रीय असमानताओं से प्रादेशिकवाद का उदय और विकास होता है। यह बात स्पष्ट है कि प्रादेशिकवाद किसी भी विविधतापूर्ण राजनीतिक समाज की स्वाभाविक प्रक्रिया है। यह अपने आप में देश की स्थिरता और एकता के लिये समस्या उत्पन्न कर सकती है, परन्तु उसके लिये खतरा नहीं बन सकती। आवश्यकता इस बात की है कि वस्तु स्थिति को उद्देश्यपूर्ण ढँग से पूरी तरह स्पष्ट किया जाये। नीति सन्तुलित हो और उसे पूरी निष्ठा से लागू किया जाये तो प्रादेशिकवाद देश की अखण्डता बनाये रखने का महत्वपूर्ण तत्व सिद्ध होगा। फिर भी प्रादेशिकवाद असमानताओं से राजनीतिक और सामाजिक प्रक्रिया में अनेक समस्यायें तथा तनाव उत्पन्न हो रहे हैं। इसके कारण राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था और राजनीति के राष्ट्रीय रूप का निर्माण नहीं हो पा रहा है। विभिन्न राज्यों और क्षेत्रों में राजनीति के स्तर और प्रकृति में व्यापक अन्तर पाये जाते हैं। असमानताओं के कारण केन्द्र और राज्यों में मतभेद, अन्तर्राज्यीय मतभेद, विवाद और क्षेत्रीय समस्यायें बढ़ रही हैं। ये साम्प्रदायिक, सांस्कृतिक, भाषायी और अन्य संकीर्ण संगठनों के विकास को प्रोत्साहन दे रहे हैं। निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि यदि विकास के लाभों का उचित विभाजन नहीं होता, अलगाववादी प्रादेशिकवाद की भावनाओं को उनके उदय से ही राजनीतिक हल नहीं किया जाता, तो समस्या गम्भीर ही बनी रहेगी।

8.3 छोटे राज्यों का औचित्य

पिछले कुछ वर्षों के दौरान देश में कम से कम आठ–दस नये राज्यों की माँग उठने लगी है। यह माँग मुख्यतः बड़े राज्यों में उठ रही है, जैसे पश्चिमी बंगाल में गोरखालैण्ड की माँग, असम में बोडोलैण्ड की माँग, महाराष्ट्र में विदर्भ की माँग, आन्ध्र प्रदेश में तेलंगाना, मध्य प्रदेश एवं उत्तर प्रदेश में बुन्देलखण्ड, उत्तर प्रदेश में हरित प्रदेश, अवध एवं पूर्वांचल की माँग आदि प्रमुख हैं। सामान्य तौर पर छोटे राज्यों की माँग स्थानीय नेताओं द्वारा इस आधार पर की जाती है कि राज्य उनके क्षेत्र में पर्याप्त ध्यान नहीं दे पा रहा है, इसलिए उनका क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से पिछड़ गया है तथा उनके क्षेत्र के संसाधनों का उपयोग उनके अपने विकास के लिए नहीं हो पाता अर्थात् पिछड़ापन और बेरोजगारी को वे राज्य की उपेक्षा की देन कहते हैं। यह तर्क भी दिया जाता है कि छोटे राज्य प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से अधिक उपयोगी होते हैं। छोटे राज्य होने से लोगों तक प्रशासन की पहुँच सुविधाजनक

होती है तथा सरकार द्वारा समय–समय पर जारी किये जाने वाले नियमों व कानूनों को आसानी से लागू किया जा सकता है। छोटे राज्य के लिए बनाई गई विकास नीति भी अधिक व्यावहारिक होती है। उदाहरणार्थ, उत्तर प्रदेश जैसे बड़े राज्य में जहाँ पश्चिमी उत्तर प्रदेश जैसे विकसित क्षेत्र हैं वहीं पूर्वी उत्तर प्रदेश जैसे अर्द्ध विकसित एवं बुन्देलखण्ड जैसे अविकसित हैं। इनके लिए अलग–अलग नीतियों की आवश्यकता होती है जो छोटे राज्यों में ही सम्भव हो सकती है। इस दृष्टि से हरियाणा, पंजाब और केरल जैसे छोटे राज्यों के उदाहरण प्रस्तुत हैं कि किस प्रकार उन्होंने हर क्षेत्र में प्रगति की है। वैसे छोटे राज्यों की माँग का अन्तिम उद्देश्य जनता का कल्याण करना होता है, परन्तु यही अन्तिम लक्ष्य पूरा न होकर स्वार्थो से जुड़ जाता है।

यदि किसी क्षेत्र में अपने विकास, उन्नति व प्रगति की अपार उत्कंठा है तो उसे इसका अवसर मिलना ही चाहिए। किसी भी स्थान विशेष को स्वायत्त राज्य का दर्जा देने में कोई हानि नहीं है। साथ ही यह तर्क भी सही है कि जब भाषा के आधार पर देश में राज्यों का गठन हो सकता है तो स्थानीय संस्कृति व क्षेत्र विशेष को लेकर नये राज्यों का गठन क्यों नहीं हो सकता है। अतः आवश्यक है कि देश को विभाजनों की महामारी का शिकार होने से बचाया जाये तथा देश की आजादी के बाद विभिन्न रियासतों के भारतीय संघ में विलीन होने के फलस्वरूप जिस प्रशासनिक सुविधा को ध्यान में रखकर राज्यों के पुनर्गठन का विचार किया गया था, उसी नीयत से राज्यों का एक बार पुनः पुनर्गठन होना चाहिए। किसी भी प्रशासनिक इकाई के गठन के तीन मुख्य आधार होने चाहिए; प्रथम– प्रशासनिक सुविधा, द्वितीय– आर्थिक सक्षमता, तृतीय– भौगोलिक परिस्थिति। इसके अतिरिक्त यदि किसी भी अन्य मुद्दे को शामिल किया गया तो वह पुनर्गठन नहीं विभाजन होगा, जो अब तक होता रहा है और जिसकी भूख बढ़ती जा रही है। इस विभाजन को रोकने के लिए पुनर्गठन जरूरी है। इस पुनर्गठन की परिधि में केवल उत्तर प्रदेश को ही नहीं लाया जाना चाहिए। महाराष्ट्र, कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, राजस्थान तथा उड़ीसा का पुनर्गठन छोटे राज्यों के रूप में होना चाहिए। इतने दिनों तक उपद्रवग्रस्त रहने के बावजूद पंजाब आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न है व हरियाणा और हिमाचल प्रदेश की प्रगति आश्चर्यजनक बनी हुई है, तो इसके लिए इन राज्यों का उचित पुनर्गठन ही है।

भारत में छोटे राज्यों की माँग को राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के विरोधी स्वर के रूप में लिया जाता है जो पूरी तरह सही नहीं है। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देश में 50 राज्य हैं, जबकि हमारे यहाँ 28 राज्य हैं। यह बात अलग है कि छोटे राज्यों की मॉग के पीछे ठोस यथार्थवादी कारण उतने नहीं होते जितने कि भावनात्मक होते हैं। स्थानीय नेता जन भावनाओं को उत्तेजित करके अपना राजनीतिक स्वार्थ साधने के लिए समय–समय पर अलग राज्यों की माँग उठाते हैं, जो सही नहीं है, लेकिन यदि एक ही राज्य के दो भिन्न क्षेत्रों के विकास में अत्यधिक अन्तर दिखायी देने लगे तब उसकी इस भावना को सबल आधार मिल जाता है।

छोटे राज्यों के विपक्ष में तर्क दिया जाता है कि विकास की भूख और राजनीति की महत्वाकांक्षा के बीच बनते राज्य देश की भौगोलिक सीमाओं की भीतरी सीमाओं को तो बदल सकते हैं, परन्तु क्या वहाँ के रहने वालों और भूमिपुत्रों की माँग मिटा पायेगें? क्या सभी छोटे राज्य विसंगतियों को समाप्त कर विकास को धरा पर उतार पायेंगे? महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश एवं गुजरात कोई बहुत छोटे राज्य नहीं हैं। दूसरी ओर उत्तर-पूर्व में कई छोटे–छोटे राज्य हैं। परन्तु क्या वहाँ विकास हो पाया है? विकास एक अवधारणा है जिसे सही नेतृत्व संकल्प के साथ धारण कर अपने संसाधनों और बाहरी सहयोग से साकार करता है। तुष्टिकरण से अपनी ताकत बढ़ाने वाले, जाति एवं धर्म के नाम पर राजनीति करने वाले यह सब नहीं कर सकते। बेरोजगारी के दौर में आन्दोलनकारी मिलने में कोई मुश्किल नहीं होती। नये राज्यों के निर्माण से राजनीतिक महत्वाकांक्षायें भले ही पूरी हो जायें, आर्थिक विषमताओं को समाप्त करना बहुत कठिन लगता है।

इस दृष्टि से प्रश्न छोटे राज्यों के निर्माण का नहीं है, बल्कि उनके आर्थिक विकास का है, जो केवल राज्यों को छोटे बना देने से हल नहीं हो सकता। इसके लिए आवश्यक है कि भूमि सुधार पर जोर दिया जाये। वहाँ स्थानीय उत्पादों के लिए बाजार विकसित किया जाये। जितने भी पिछड़े हुए राज्य हैं उनके लिए एक समन्वित नीति एवं योजना तैयार की जाय तथा राजनीतिक, आर्थिक, प्रशासनिक एवं वैधानिक शक्तियों का यथा सम्भव विकेन्द्रीकरण किया जाये। वास्तव में पिछड़े क्षेत्रों के लोगों में जो उत्पीड़न का भाव समाहित हो गया है उसे समाप्त कर के उस क्षेत्र का विकास करना तथा वहाँ के लोगों को रोजगार

एवं शिक्षा उपलब्ध कराकर छोटे राज्य की माँग को कुछ सीमा तक कम किया जा सकता है।

भारत का आन्तरिक मानचित्र आज वही नहीं है जो सन् 1947 ई० में था या जो सन् 1956 ई० में राज्यों के भाषावार पुनर्गठन के समय था। एक समय असम में सात राज्य अन्तर्निहित थे। आज वे सभी अलग–अलग राज्य हैं। पंजाब और हरियाणा काफी समय तक साथ–साथ रहे, लेकिन अन्ततः पंजाबी सूबे की मॉग मान ली गयी। कुछ केन्द्र शासित प्रदेशों को अलग राज्य का दर्जा दे दिया गया। ये सभी घटनायें बताती हैं कि भारतीय राज्य इसीलिए टिका हुआ है क्योंकि वह अपने को रूढ़ मानकर नहीं चलता और लोक भावनाओं की पूरी तरह उपेक्षा नहीं करता। इसके विपरीत पाकिस्तान सिर्फ इस मामूली सी बात के चलते टूट गया कि वह बहुमत होने के बावजूद बांग्लादेश के एक नेता को अपना प्रधानमन्त्री बनने देना स्वीकार नहीं कर सका। श्रीलंका की जातीय समस्या की गुत्थी इसीलिए उलझती गई कि वहाँ समय पर क्षेत्रीय भावनाओं का ख्याल नहीं रखा जा सका। तमिल समस्या एक समय भारत में भी कम गम्भीर नहीं थी। लेकिन हमने लोकतान्त्रिक ढ़ंग से उसका सामना किया और तमिल भावनाओं के लिए जगह निकालने की कोशिश की। इसी के परिणामस्वरूप भारत का आन्तरिक मानचित्र भले ही तेजी से बदलता जा रहा हो, पर उसकी आन्तरिक संहति में कोई कमी नहीं आई है। अनेकता में एकता की यह साधना लोकतान्त्रिक उदारता और लचीलेपन से ही सम्भव है।

लोकतन्त्र में राज्य व्यवस्था का यह प्रथम दायित्व होता है कि वह ऐसे मामलों को शीघ्र से शीघ्र निपटाने में अपनी पूरी शक्ति लगा दे, जो नागरिकों की अस्मिता, स्मृति और संवेदना के प्रश्नों से जुड़े हों। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से ही विभिन्न क्षेत्रों में राज्यों के पुनर्गठन की माँग की जाती रही है तथा आजादी के बाद राज्यों का पुनर्गठन करते समय कुछ क्षेत्रों की इस प्रकार की माँगो को अनदेखा किया गया। हो सकता है कि कुछ क्षेत्रों की इस प्रकार की माँग अनुचित रही हो, लेकिन कुछ क्षेत्र वास्तव में ऐसे थे, जिन्हें भौगोलिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अवश्य ही एक राज्य का दर्जा दे दिया जाना चाहिए था। मानवीय संवदेनाओं से राजनेताओं के इस प्रकार के खिलवाड़ ने आन्दोलनों को हिंसक मोड़ देने में कोई कमी नहीं रखी। आज जबकि सर्वत्र ही पृथक राज्य की माँग को लेकर

हिंसात्मक आन्दोलन उभार पर हैं, केन्द्र सरकार अभी भी यह स्पष्ट बताने को तैयार नहीं है कि पृथक राज्य बनाये जाने का स्पष्ट आधार क्या है। अतः राज्य के रूप में क्षेत्रीय महत्वाकांक्षा को राजनीतिक मुद्दा बनाकर पृथकतावाद के आन्दोलन को बढ़ावा मिले, उससे पूर्व ही द्वितीय राज्य पुनर्गठन आयोग का गठन परमावश्यक है। संसद द्वारा इसे पूर्ण विचार विमर्श द्वारा दिशा निर्देश भी तय किये जाने चाहिये। वैसे भी छोटे राज्यों के विकास के उदाहरण हमारे सामने है, इसलिए उचित यह होगा कि बड़े राज्यों का उचित प्रशासकीय व सांस्कृतिक इकाइयों में विभाजन कर दिया जाये। इससे एक नई विकासात्मक चुनौती का जन्म होगा, जो कि क्षेत्र विशेष एवं देश के लिए लाभकारी ही सिद्ध होगा।

8.4 क्षेत्रीय दलों का प्रादुर्भाव

सन् 1977 ई० के बाद भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों का प्रादुर्भाव हुआ। उदाहरणार्थ– आन्ध्र प्रदेश में तेलगुदेशम, असम में असम गण परिषद्, तमिलनाडु एवं पांण्डिचेरी में द्रविण मुनेत्र कड़गम एवं आल इण्डिया अन्ना द्रमुक पार्टी, पंजाब में अकाली दल, जम्मू कश्मीर में नेशलन कान्फ्रेंस एवं पी० डी० पी०, महाराष्ट्र में शिव सेना, गोवा में महाराष्ट्रवादी गोमान्तक पार्टी एवं पूर्वोत्तर भारत में उभरते क्षेत्रीय दल आदि में आलोचकों को प्रादेशिकवाद की अभिव्यक्ति प्रतीत होने लगी।

संकुचित भाषा, जाति एवं धर्म पर आधारित दल व राजनीति निश्चय ही देश की एकता के लिए खतरनाक हैं, लेकिन पूर्णतया क्षेत्रीयता पर आधारित दल "अनिवार्य रूप से राष्ट्रीय एकता के भंजक होते हैं।" कांग्रेस (आई), जनता दल एवं भारतीय जनता पार्टी सहित सभी राष्ट्रीय नाम के दलों ने क्षेत्रीय, साम्प्रदायिक, जातीय व अन्य संकुचित स्तर के दलों से चुनावी समझौते किये हैं और इनके साथ व सहयोग से सरकार बनायी गयी है। पंजाब में कांग्रेस, भारतीय जनता पार्टी एवं साम्यवादियों ने आकलियों के साथ गठबन्धन किये। तमिलनाडु में द्रमुक दलों के साथ, केरल में मुस्लिम लीग व अन्य प्रादेशिक दलों के साथ, त्रिपुरा में त्रिपुरा उपजाति युवा समिति के साथ तथा उत्तर–पूर्वी भारत के राज्यों में स्थानीय दलों के साथ काँग्रेस (आई) सम्पर्क रखने, सरकार बनाने या समझौते करने की दोषी रही है। भारतीय जनता पार्टी ने शिवसेना के साथ गठबन्धन करके महाराष्ट्र में चुनाव

लड़ा, उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी के साथ मिलकर सरकार बनायी। अन्य राज्यों में भी क्षेत्र, जाति, सम्प्रदाय आधारित गुटों के साथ चुनावी तालमेल बढ़ाने में किसी भी राजनीतिक दल ने एतराज नहीं किया। आज तक ऐसा उदाहरण देखने में नहीं मिलता कि राष्ट्रीय दलों में से किसी ने क्षेत्रीय व संकुचित हितों के साथ–साथ मिलाने से मना करके सत्ता का परित्याग किया हो अथवा सम्भावित चुनावी पराजय की जोखिम उठायी हो (जैन, 1997, पृ० 284)।

भारत जैसे विशाल एवं विभिन्नता वाले देश में क्षेत्रीय भावनाओं का उद्भव व उभार एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। यदि हमारी राष्ट्रीय भावना के आधार सशक्त हैं तो क्षेत्रीय भावनायें खतरा नहीं बन सकतीं। कुछ राजनीतिक समीक्षकों के अनुसार यह भी माना जाना चाहिए कि क्षेत्रीय आन्दोलन एक राष्ट्रीय आवश्यकता की उपज होते हैं, फिर चाहे वे विरोधी राजनीतिक शक्ति में प्रकट हों। यदि राष्ट्रीयता के तन्तु प्रबल हैं और राष्ट्रीय भाव प्रखर हैं तो क्षेत्रीयता का उभार इसका पूरक बनेगा। प्रादेशिक दलों की उपस्थिति प्रयोजन व प्रभावशीलता राष्ट्रीय दलों की असफलता की उपज व प्रतिक्रिया है। राष्ट्रीय राजनीति की अपूर्णता एवं अक्षमता ने क्षेत्रीय शक्तियों को बढ़ने व प्रभावी बनने का अवसर प्रदान किया। जब क्षेत्रीय दल सत्तारूढ़ होते हैं तो उनका आचरण संगत व विवेकयुक्त रहता है और जब वे सत्ताविहीन होते हैं तो उग्रता व उत्तेजना को अपनातें हैं। तमिलनाडु में द्रमुक दलों एवं पंजाब में अकाली दल की सत्तारूढ़ता के पश्चात पृथकतावादी स्वर धीमे पड़ गये। प्रादेशिक दलों से एक संयुक्त राजनीतिक संस्कृति के विकास में योगदान भी मिल सकता है और इस विकास में इन दलों के कारण व्यवधान भी पड़ सकता है। भारतीय ढँग से एक राज्य के रूप में देश को विशुद्ध संघीय आधार पर संगठित भी किया जा सकता है या फिर देश विघटन के कगार पर भी पहुँच सकता है यह बहुत कुछ हमारी राष्ट्रीयता के आधार की प्रबलता व प्रादेशिक दलों के दृष्टिकोण की विशुद्धता पर निर्भर करता है (जैन, 1997, पृ० 285)।

वर्तमान समय में भारत में एक नई राजनीतिक व्यवस्था स्थापित हुई है जिसमें क्षेत्रीय दलों की अधिक मुखर व प्रभावी भूमिका सामने आयी है। प्रादेशिक दलों द्वारा मई, 1996 ई० में एक संघीय मोर्चे का गठन किया गया, इससे यह बात साबित होती है कि किसी एक अथवा दो राज्यों में प्रभाव रखने वाले क्षेत्रीय दल अपने सोच और नीतियों को राष्ट्रीय

परिप्रेक्ष्य प्रदान करना चाहता है और यह उम्मीद की जानी चाहिए कि इससे संकीर्ण प्रादेशिकता वाले दुराग्रह में कमी आयेगी। आज ऐसा वातावरण बनाने की आवश्यकता पहले से अधिक है जबकि प्रादेशिक आकांक्षाओं और राष्ट्रीय भावनाओं में अधिकाधिक सामंजस्य हो। यह बात केन्द्र और राज्य सम्बन्धों को सुदृढ़ करके ही सुनिश्चित की जा सकती है (जैन, 1997, पृ० 285)।

सन्दर्भ ग्रन्थ

चन्द्र विपिन, 2002 : **आजादी के बाद का भारत,** हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

जैन, एस० एन०, 1997 : **भारतीय संविधान शासन और राजनीति,** राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

मुकर्जी, रवीन्द्र नाथ, 2001 : **भारतीय समाज व संस्कृति,** विवेक प्रकाशन, दिल्ली।

सारांश एवं निष्कर्ष

प्रादेशिकवाद एक बहुआयामी विचारधारा है जो मनोवैज्ञानिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक पक्षों से सम्बद्ध है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रादेशिकवाद की प्रत्येक अभिव्यक्ति में इन सभी तत्वों का समान मात्रा में समन्वय पायें, कहीं पर एक तो कहीं दूसरा तत्व प्रबल हो सकता है। यदि हम प्रादेशिकवाद की सही व्याख्या करना चाहते हैं तो हमें प्रादेशिकवाद के दोनों पहलुओं– सकारात्मक एवं नकारात्मक – पर समान रूप से विचार करना चाहिए। सकारात्मक दृष्टि से प्रादेशिकवाद व्यक्तित्व की खोज है और आत्मसिद्धि के प्रयास का प्रतीक है। नकारात्मक प्रादेशिकवाद A psyche of relative depreciation को प्रतिबिम्बित करता है।

देश में स्थित विभिन्न क्षेत्रों के निवासियों में अपने क्षेत्र अथवा प्रदेश के प्रति विशेष लगाव होता है। समूचे देश के सन्दर्भ में अपने प्रदेश को ही महत्वपूर्ण समझना प्रादेशिकवाद का मौलिक रूप है। भारत के सन्दर्भ में विभिन्न राज्यों अथवा प्रदेशों के निवासियों द्वारा राष्ट्रीय एकता से अपने को अलग समझते हुए अपने प्रदेश के प्रति विशेष निष्ठा अथवा लगाव रखना या व्यक्त करना प्रादेशिकवाद का परिचायक है। एकता में विभिन्नता की स्थिति प्रादेशिकवाद का ही सूचक है। विशाल और विविधतापूर्ण देश में प्रादेशिकवाद होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। संक्षेप में, प्रादेशिकवाद का अर्थ किसी राज्य के किसी क्षेत्र/प्रदेश के लोगों की उस भावना और प्रयासों से है जिसके द्वारा वे अपने क्षेत्र विशेष के लिए अधिकाधिक आर्थिक, राजनीतिक, भौगोलिक तथा सामाजिक विकास में अभिवृद्धि चाहते हैं। यहाँ पर यह भी स्पष्ट रूप से स्मरण रखना चाहिए कि भौगोलिक रूप से निश्चित किसी क्षेत्र में जब कुछ प्रक्रियाएं तथा धारणाएं राज्य और समाज के अन्य क्षेत्रों से भिन्न हों और ऐसा काफी लम्बे समय से चला आ रहा हो तो उस क्षेत्र को प्रदेश कहा जा सकता है। प्रदेश निर्धारक और प्रादेशिक भावना को विशिष्ट और पृथक बनाने वाले आवश्यक तत्व क्या और कौन हैं? इस विषय में विद्वानों और विशेषकर समाजशास्त्रियों में सहमति नहीं है। वस्तुतः प्रदेश निर्माण की प्रक्रियायें और प्रादेशिकवाद की भावना की धारणायें भौगोलिक, धार्मिक, भाषागत, परम्परागत रीति-रिवाज, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक विकास, ऐतिहासिक

पृष्ठभूमि तथा रहन-सहन के ढँग इत्यादि पर आधारित होती हैं। प्रादेशिकवाद का एक अन्य आवश्यक तत्व यह भी है कि इसके अन्तर्गत क्षेत्र के निवासियों में समानता, एकरूपता तथा अन्य क्षेत्रों से अलगाव की भावना पायी जाती है।

प्रदेश में 'आन्तरिक रूप से अधिकतम समरसता' पायी जाती है जिसे भाषा, बोलियों, सामाजिक संगठन, जातीय संरचना, भौगोलिक सामीप्य, सांस्कृतिक प्रतिमान, आर्थिक जीवन, ऐतिहासिक या राजनीतिक पृष्ठभूमि और मनोवैज्ञानिक या सामूहिक अस्तित्व की सामान्य चेतना से बल प्राप्त होता है। व्यापक अर्थों में प्रादेशिकवाद से अभिप्राय केन्द्रवाद के विरुद्ध किये गये प्रयासों से लगाया जाता है। संकीर्ण अर्थों में यह स्थानीय या सामाजिक महत्व के हितों के साथ लोगों के सम्बन्धों से सशक्त है। स्पष्ट है कि प्रादेशिकवाद से तात्पर्य किसी प्रदेश/क्षेत्र विशेष के लोगों की उस भावना और प्रयासों से है, जिनके द्वारा वे अपने प्रदेश के आर्थिक, सामाजिक, भौगोलिक तथा राजनीतिक विकास हेतु शक्तियों में वृद्धि चाहते हैं।

प्रदेश एक बहुअर्थी शब्द है। भौगोलिक दृष्टि से इसमें किसी जिले का भाग या राज्य का भाग अथवा समूचे देश के भाग को सम्मिलित किया जा सकता है। महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रदेश की अवधारणा में 'साहचर्य' और अन्य प्रदेशों से 'अलगाव' का भाव अनिवार्यतः निहित होता है। इसके अतिरिक्त प्रदेश का विशिष्ट तत्व अधिकतम समरूपता होता है, जिसकी भाषा, सामाजिक संगठन, जनांकिकीय संगठन, सांस्कृतिक प्रतिमान, आर्थिक जीवन, ऐतिहासिक अनुभव अथवा राजनीतिक पृष्ठभूमि हो सकती है।

भारतीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में हम प्रादेशिकवाद को परिभाषित करें तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राष्ट्र की अपेक्षा किसी क्षेत्र विशेष अथवा राज्य या प्रान्त की अपेक्षा एक छोटे क्षेत्र (प्रदेश) से लगाव, उसके प्रति आसक्ति या विशेष अनुरक्ति ही प्रादेशिकवाद है। अन्य शब्दों में, यह एक ऐसी संकुचित धारणा है जो भाषा, धर्म, जाति, क्षेत्र आदि पर आधारित है और जो विघटनकारी प्रवृत्तियों को न केवल जन्म देती है अपितु उन्हें प्रोत्साहित भी करती है। इस दृष्टि से प्रादेशिकवाद राष्ट्रीयता की वृहत् भावना का विलोम है और उसका ध्येय संकुचित क्षेत्रीय स्वार्थों की पूर्ति होता है। यह राष्ट्रीय एकता के समक्ष एक गम्भीर चुनौती भी है।

भारत भौतिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक विविधताओं का समष्टि है। ये विविधतायें उसके विशाल आकार एवं भौगोलिक गुणों से सम्बद्ध हैं। तीन तरफ से समुद्रों से आवृत एवं उत्तर में पर्वतीय बाधा से अलग-अलग किये जाने के कारण जहाँ एक तरफ इसे पूर्ण भौगोलिक इकाई का स्वरूप प्रदान किया है वहीं आन्तरिक विषमताओं ने विविधताओं के उद्भव में कम योगदान नहीं किया है। अतीत में यहाँ कई मानव समाजों के आपस में मिलने का अवसर मिला है जिससे सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता में और भी वृद्धि हुई है। यद्यपि भारतीय संस्कृति का प्रभाव समूचे देश पर व्याप्त है परन्तु माध्यमिक एवं सूक्ष्म स्तर पर यह अनेकों विविधताओं को समेटे हुए है। यही विविधता उत्प्रेरित होकर कभी-कभी प्रादेशिकता एवं प्रादेशिकवाद में परिणत हो जाती है जो राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रीय एकता को कमजोर करते हैं।

भारत के इतिहास के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि केन्द्रीय प्रशासन के कमजोर होने पर विलगाववादी शक्तियों ने अपने प्रभाव को स्थापित करने मे विलम्ब नहीं किया है। ऐसे समय में विदेशी आक्रमण हुए हैं एवं देश को अपमानजनक स्थिति के मध्य से गुजरना पड़ा है। देश की एकता और अखण्डता में प्रादेशिकवाद ने निश्चय ही पूर्ण सहयोग दिया है किन्तु समय बीतने पर प्रादेशिकवाद ने अपना सिर उठाना आरम्भ कर दिया। इसमें अनेक कारकों का योगदान देखा जा सकता है। इसमें राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, भाषायी, धार्मिक, भौगोलिक तथा मनोवैज्ञानिक कारक अधिक प्रभावी रहे हैं।

भारत एक प्राचीन देश है जिसकी लम्बी सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परम्परायें हैं। भारतीय संघ के वर्तमान राजनीतिक स्वरूप के विकसित होने में हजारों वर्षों का समय लगा है। इस दौरान अनेक राजवंशों एवं राज्यों का विकास एवं अवसान हुआ है। यद्यपि वे आज अस्तित्व में नहीं हैं, परन्तु इनमें से बहुतों की सांस्कृतिक परम्परायें किसी न किसी रूप में सुरक्षित हैं। इससे प्रादेशिक विशिष्टता का विकास हुआ है जिससे प्रादेशिकवाद के विकास को बल मिलता है।

आर्यों के आगमन से पूर्व बलूचिस्तान, समस्त पश्चिमोत्तर प्रदेश, गंगा-यमुना दोआब, बंगाल एवं दक्षिण भारत में द्रविड़ों का प्रभाव था। आर्यों द्वारा सर्वप्रथम पंजाब के क्षेत्र में

अपना प्रभुत्व स्थापित कर इसका नाम 'सप्त सैन्धव' रखा गया। धीरे–धीरे आर्यों ने गंगा-यमुना दोआब, हिमालय एवं विन्ध्य पर्वतों के मध्य के भाग एवं दक्षिण भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित किया। वस्तुतः 'भारतवर्ष' नामकरण मुख्यतः उस क्षेत्र के लिए हुआ जो आर्यों का निवास क्षेत्र (आर्यावर्त) था, परन्तु बाद में इसका व्यवहार हिमालय के दक्षिण समुद्र पर्यन्त विस्तीर्ण सम्पूर्ण भूभाग के निमित्त होने लगा। महाकाव्य काल तक भारतवर्ष आर्य-अनार्य की विवाद रेखा को समाप्त कर एक देश और सांस्कृतिक रूप में उभर कर आ गया था। छोटे-छोटे राज्यों के स्थान पर बड़े-बड़े राज्यों (जनपदों) की स्थापना हुई, जिनमें अधिकांश राजतन्त्र एवं कुछ गणतन्त्र थे। मौर्य युग को राजनीतिक एकता का युग कहते हैं। मौर्य काल में भारतवर्ष का अधिकांश भाग एक सुदृढ़ राजनीतिक सूत्र में बँध गया और हमारा इतिहास सही अर्थों में भारतीय हो गया। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद कई छोटे-छोटे राज्यों का अभ्युदय हुआ। छोटे-छोटे राज्यों की कमजोरी का लाभ उठाकर यूनानी, शकों एवं कुषाणों ने भारत के कई भागों पर अधिकार कर लिया। देश को विदेशी सत्ता से मुक्त कराने एवं अपने को स्वतन्त्र बनाने की एक लहर सी आ गई। ऐसी स्थिति में गुप्त साम्राज्य का अभ्युदय हुआ और देश पुनः एक राजसूत्र में बँध गया। छठी शताब्दी के अन्त में गुप्त साम्राज्य का अवसान हुआ एवं भारत की राजनीतिक एकता पुनः समाप्त हो गयी। अरबों के बाद तुर्कों ने राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और सैन्य दृष्टि से निर्बल भारत पर आक्रमण किया और विजय प्राप्त की। मुगल शासकों ने सम्पूर्ण भारत को एक सूत्र में बाँधा। मुगल साम्राज्य के खण्डहरों पर ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हुई। 14 अगस्त, 1947 ई० को भारत का विभाजन एवं 15 अगस्त, 1947 ई० को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। वर्तमान समय में भारत में 28 राज्य एवं 7 केन्द्र शासित प्रदेश हैं।

सन् 1947 ई० में देश ने अपने आर्थिक पिछड़ापन, भयंकर गरीबी, निरक्षरता, महामारी, भीषण सामाजिक विषमता और अन्याय के उपनिवेशवादी विरासत से उबरने के लिए अपनी लम्बी यात्रा की शुरुआत की। नूतन उदीयमान भारत की बुनियादी रूपरेखा राष्ट्रवाद, धर्म निरपेक्षता और लोकतन्त्र सम्बन्धी मूल्यों के साथ तीव्र आर्थिक विकास के लक्ष्य एवं उग्र सुधारवादी परिवर्तन के उद्देश्यों से अनुप्रमाणित थी। चूँकि भारत में अत्यधिक क्षेत्रीय, भाषाई, जातीय और धार्मिक विभिन्नतायें विद्यमान हैं। इसलिए देश की बहुतेरी अस्मिताओं को

स्वीकार करते एवं जगह देते हुए तथा देश के विभिन्न भागों एवं लोगों के अनेक समुदायों को भारतीय संघ में पर्याप्त स्थान देकर भारतीयता को और भी विकसित किया जाना जरूरी था। पश्चिमी राजनीतिज्ञ यह भविष्यवाणी करते रहे कि न तो स्वतन्त्रता, न ही लोकतन्त्र और न समाजवाद भारत में लम्बे समय तक जीवित रह पायेगा और कभी न कभी भारतीय राजनीतिक व्यवस्था ढह जायेगी, भारत संघ जीवित नहीं बचेगा और यह राष्ट्र-राज्य अपने भाषाई और जातीय टुकड़ों में बिखर जायेगा। उन लोगों का यह तर्क था कि भारत की असंख्य जातियाँ, धर्म, भाषाई और जनजातीय विभिन्नतायें और उसके ऊपर से इसकी गरीबी, सामाजिक तंगहाली और असमानता, सम्पत्ति की बढ़ती हुई विषमता, कठोर और श्रेणीगत सामाजिक ढाँचा, विशाल बेरोजगारी और असंख्य सामाजिक एवं आर्थिक समस्यायें इस देश की एकता और इसके विकास सम्बन्धी प्रयासों को निश्चित ही समाप्त कर देंगे। सन् 1977 ई० जब से क्षेत्रीय दलों का उदय हुआ, यह अटकलें लगायी जाने लगीं कि भारत के विघटन की शुरुआत हेतु उपयुक्त परिस्थितियों का निर्माण हो चुका है। साम्प्रादायिक, भाषाई एवं जातिगत हिंसा, नक्सल विद्रोह, तमिलनाडु, कश्मीर, पंजाब एवं उत्तर-पूर्व में चलने वाले पृथकतावादी आन्दोलनों के रूप में भारत में प्रादेशिकवाद उभर कर सामने आया।

प्रादेशिकवाद का स्वरूप उदार से उग्र हो सकता है। दूसरे शब्दों में इसका स्वरूप इतना उदार हो सकता है कि वह कई समान राष्ट्रों को अपनी बाहों में समेट ले और सदा राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए क्रियाशील हो। इसके विपरीत इसका स्वरूप इतना उग्र हो सकता है कि वह अपने क्षेत्र को ही सर्वोपरि मानकर अपने हितों के सम्मुख राष्ट्रीय हितों की बलि चढ़ाने में जरा भी संकोच न करे। इन दोनों अतिरेकताओं के बीच प्रादेशिकवाद के अनेक स्वरूप हो सकते हैं। प्रादेशिकवाद की भावना विभिन्न क्षेत्रों के लोगों अथवा एक ही क्षेत्र के सभी लोगों में समान न होकर अलग-अलग प्रकार से पायी जाती है। भारतीय राजनीति में प्रादेशिकवाद की प्रवृत्ति के अनेक रूप हैं, जिसमें भारतीय संघ से पृथक होने की माँग, अपने लिए पृथक् राज्य की माँग, क्षेत्रीय भाषाई विवाद, अन्तर्राज्यीय विवाद, क्षेत्रीय आर्थिक टकराव, राजनीतिक नेतृत्व और क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का अस्तित्व प्रमुख हैं, परन्तु इनमें से आज प्रादेशिकवाद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष पृथक राज्य की माँग है जो भारतीय राजनीति को प्रभावित कर देश की एकता एवं अखण्डता को खतरा उत्पन्न कर रहा है।

प्रत्येक मानव को अपनी जन्मभूमि से लगाव होता है। यह लगाव देश के प्रति उत्तरदायित्व से नियन्त्रित रहता है। परन्तु जब किन्हीं कारणोंवश राष्ट्र के हितों के विपरीत क्षेत्रीय हितों को अधिक महत्व दिया जाने लगता है तो इससे टकराव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। प्रादेशिकवाद जब राष्ट्रीय हितों से टकराता है तो देश की एकता और अखण्डता के लिए गम्भीर खतरा पैदा हो जाता है। भारत में समय-समय पर प्रादेशिकवाद की भावना उठती रही है। प्रत्येक क्षेत्र के लोग दूसरों पर अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित करने का प्रयत्न करते रहे हैं जिससे विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक संघर्ष और तनाव प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इससे केन्द्र तथा राज्य सरकारों के बीच सम्बन्धों में विकृति आती जा रही है तथा स्वार्थी नेतृत्व व संगठन विकसित हो रहे हैं। भाषा की समस्या और अधिक जटिल होती जा रही है। इससे आन्दोलनात्मक राजनीति को बढ़ावा मिला है। प्रादेशिकवाद के आन्दोलनकारियों ने अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए धर्म, भाषा, जाति जैसे विघटनकारी तत्वों का सहारा लिया है, जिससे भारत में राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में नवीन बाधायें पैदा हो रही हैं। इसके साथ-साथ यदि देखा जाये तो आज भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों का बढ़ता प्रभाव प्रादेशिकवाद के लिए उत्प्रेरक के रूप में कार्य कर रहा है।

राष्ट्र एक अखण्ड व्यवस्था नहीं है। राष्ट्र का निर्माण अनेक परिवारों, समूहों, समितियों, संस्थाओं, समुदायों, यहाँ तक कि विभिन्न भूखण्डों जिनमें कि समाज के सदस्य निवास करते हैं, को लेकर होता है। उसी राष्ट्र में अनेक लोग भी निवास करते हैं और यह भी हो सकता है कि उस राष्ट्र के उन सदस्यों में प्रजाति, धर्म, भाषा, रीति—रिवाज एवं आचार-विचार आदि आधारों पर अनेक भिन्नतायें हों। इन विभिन्नताओं के बीच भी उस राष्ट्र के सदस्यों में किन्हीं समानताओं के आधार पर, जैसा कि इसी आधार पर कि वे सब एक ही राष्ट्र के सदस्य हैं, एक प्रकार की एकात्मकता हो सकती है और उनके पारस्परिक व सम्मिलित क्रियाकलापों में उसे वास्तव में देखा भी जा सकता है। इस प्रकार विभिन्नताओं के बीच भी राष्ट्रीय एकता रखने एवं विभिन्न प्रजातीय, धार्मिक, भाषा-भाषी व भौगोलिक समूहों को एक सूत्र में बँधे रहने की स्थिति को ही राष्ट्रीय एकता कहते हैं। इसके विपरीत स्थिति में विलगाववादी शक्तियों को बढ़ावा मिलता है तथा देश की एकता एवं अखण्डता खतरे में पड़ ज़ाती है।

भारत एक ऐसा विशाल देश है जिसमें विभिन्न धर्मों, जातियों एवं समाजों के लोग निवास करते हैं। यहाँ भाषा की विविधता के साथ–साथ भौगोलिक परिस्थितयों एवं रहन-सहन में भी स्पष्ट अन्तर दृष्टिगोचर होता है। विविधता के होते हुए भी स्वतन्त्रता संग्राम में, प्रत्येक धर्म एवं जाति के लोगों ने तन-मन-धन से मिलकर भाग लिया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हुए युद्धों में भी सभी भारतवासी आपसी कलह, मतभेद एवं वैमनस्य को भूलकर शत्रु को मुँह तोड़ जवाब दिया है। इन युद्धों के समय देश के सभी नागरिकों द्वारा जो सहयोग और सहायता दी गयी, वह मिशाल रही है एवं भारत की सही मायने में पहचान करती हैं। किन्तु आज स्थिति बदली हुई लगती है। देश में इस सीमा तक पृथकतावादी एवं संकीर्णतावादी शक्तियाँ जोर पकड़ती जा रहीं हैं कि न केवल देश की सुरक्षा एवं अखण्डता के लिए खतरा उत्पन्न हो गया है, बल्कि सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक, तकनीकी एवं शैक्षिक प्रगति में भी अनेक बाधायें उत्पन्न हो रही हैं। वास्तव में भारत ही नहीं वरन् विश्व के किसी भी देश ने तब तक उन्नति नहीं की, जब तक वहाँ के नागरिकों में राष्ट्रीय चेतना की भावना स्वाभाविक रूप से विकसित न हुई हो।

भारत में आतंकवादी, विलगाववादी आन्दोलन, नक्सलवादी आन्दोलन, किसान एवं मजदूर आन्दोलन होना इसलिए स्वाभाविक है क्योंकि जहाँ एक तरफ देश पर आधुनिकीकरण का प्रभाव दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है वहीं दूसरी तरफ विद्यार्थी, शिक्षक, कर्मचारी, अधिकारी एवं राजनीतिक नेता आदि में अर्न्तद्वन्द भी परिलक्षित हो रहा है। इसका मुख्य कारण स्वार्थ, मिथ्याभिमान एवं स्वेच्छाचारिता आदि से जुड़ा है। हम न तो संयमित ही रह गये हैं और न ही अपने कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक। हम सदैव अधिकारों की बात तो करते हैं किन्तु कर्त्तव्यों की उपेक्षा करते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि कर्त्तव्य रूपी धुरी के अभाव में अधिकार का पहिया निष्क्रिय और सामाजिक जीवन की गाड़ी गतिहीन हो जाती है। अपने आपको नियन्त्रित करते हुए दूसरों को नियन्त्रित करना आज अपरिहार्य है। प्रादेशिकवाद के लिए जितना खतरा रुग्ण समाज, भ्रष्ट आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था से उत्पन्न होता है, उतना ही अपराधियों, आतंकवादियों, नक्सलियों, घुसपैठियों आदि से भी होता है। हमारे देश की वर्तमान परिस्थतियाँ इसी दुखद स्थिति की परिचायक हैं। राष्ट्रीय अखण्डता हेतु कर्त्तव्य परायण, आज्ञाकारिता, नवीन उत्साह, सहयोग, दृढ़ संकल्प, अनुशासन आदि गुणों का विकास

समाज में होना आवश्यक है, तभी हमारी राष्ट्रीय अखण्डता की जड़ मजबूत हो सकेगी। वास्तव में देश आज एक संक्रमण कालीन स्थिति से गुजर रहा है जिसमें जहाँ एक तरफ पुराने नैतिक मूल्य एवं आदर्श अपने महत्व को खो चुके हैं वहीं दूसरी तरफ नवीन मूल्यों एवं आदर्शों को समाज अपनी सहमति नहीं प्रदान कर पा रहा है।

राजनीति का उद्देश्य लोगों के जीवन को उच्च बनाना, गरीबी एवं शोषण को दूर करना तथा एक स्वस्थ समाज का निर्माण करना है। आज भारतीय राजनीति अपने उद्देश्यों से न केवल भटक गयी है बल्कि उसने सत्ता की प्राप्ति हेतु अनुचित साधन भी अपनाना शुरू कर दिया है। आज भारतीय राजनीति में नैतिकता के स्थान पर सत्ता को प्राथमिकता मिल रही है। आज भारतीय राजनीति में धर्म, भाषा, जाति, क्षेत्रवाद आदि का राजनीतिक स्वार्थों हेतु खुलकर प्रयोग किया जा रहा है जिससे विघटनकारी तत्वों को बढ़ावा मिल रहा है। राजनीतिक पार्टियाँ कई क्षेत्रों में प्रादेशिकवाद एवं विघटनकारी आन्दोलनों को समर्थन दे रहीं हैं। क्षेत्रीय पार्टियों के विकास ने तो इस प्रादेशिकवाद को और भी प्रोत्साहन दिया है। इन पार्टियों के समक्ष क्षेत्रीय हितों के अतिरिक्त राष्ट्रीय हितों का कोई महत्व नहीं है। कुछेक को छोडकर अधिकांश राजनीतिक दल व्यक्ति एवं वंशवाद से बुरी तरह प्रभावित हैं। इन दलों की कोई निश्चित विचारधारायें नहीं हैं एवं इनके अनेक निर्णय व्यक्तिगत स्वार्थों, ईर्ष्या, द्वेष आदि से प्रभावित होते हैं, राजनीतिज्ञ अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति हेतु विभिन्न प्रकार के छल, प्रपंचों, हिंसा आदि का सहारा ले रहे हैं। इन सभी कार्यों से लोगों की राजनेताओं, राजनीतिक दलों एवं प्रजातन्त्र पर से आस्था एवं विश्वास कम होता जा रहा है। युवा वर्ग आक्रोशित हो रहा है जो जगह-जगह प्रदर्शनों, हिंसा आदि में भाग लेता दिखाई पड रहा है।

प्रादेशिकवाद का विकृत रूप आतंकवाद एवं हिंसा के रूप में भी प्रकट हो सकता है। आतंकवादी क्रियाओं में बहुधा विशिष्ट मार्गों के साथ हिंसा अथवा हिंसा की धमकी समाविष्ट होती है। हिंसा की शिकार सामान्य जनता होती है जबकि हिंसको का लक्ष्य राजनीतिक होता है। आतंकवाद का उद्देश्य निरीह, निरपराध लोगों की हत्या करके सामान्य जनता में आतंक और दहशत फैलाकर, कानूनी और सामाजिक व्यवस्था को ध्वस्त कर प्रशासन तन्त्र को असफल कर अपने राजनीतिक लक्ष्यों की सिद्धि के लिए सरकार को विवश करना है। आतंकवाद की गतिविधियों को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि यह एक असामाजिक,

असांस्कृतिक, अनैतिक, अधार्मिक, अमानवीय, असंवैधानिक एवं अवांछित कार्य पद्धति है। आतंकवाद के चार प्रकार हैं, जिनका भारत सामना कर रहा है, वे हैं : पंजाब में खालिस्तान उन्मुख आतंकवाद, कश्मीर का अलगाववादी आतंकवाद, बंगाल, बिहार, आन्ध्र प्रदेश में नक्सलवादी आतंकवाद और असम में उल्फा एवं बोडो आतंकवाद।

ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत ने समान अस्तित्व और समान चेतना के कुछ तत्व पहले ही अर्जित कर लिये थे। व्यापक सांस्कृतिक भिन्नता के बावजूद इसकी सभ्यता ने अपने विकास की लम्बी दौड़ में एक सम्मिलित सांस्कृतिक विरासत के कुछ चिह्न पुष्पित किये थे। राजनीतिक, प्रशासनिक और आर्थिक एकता के तत्वों को विकसित करने में मुगल शासकों की खासतौर से प्रमुख भूमिका रही। शासकों की राजनीति और क्षेत्र-विजय की आकांक्षा अक्सर प्रादेशिक सीमाओं से परे होती थी और उनमें भी ज्यादा महत्वाकांक्षी शासक पूरे उपमहाद्वीप में राज्य विस्तार करने की कोशिश करते थे। हजारों वर्षों के दौरान एक अस्पष्ट भारतीयता का अहसास पैदा हुआ। भारतीय अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति के उपनिवेशीकरण ने भारत के एकीकरण की प्रक्रिया को और सुदृढ़ बना दिया। राष्ट्रीय आन्दोलन ने ही वह केन्द्रीय भूमिका निभाई थी जिसने भारतीयों को राजनीतिक और भावनात्मक रूप से जोड़ कर उन्हें एक राष्ट्र का स्वरूप दे दिया था। स्वतन्त्रता से पूर्व भारत पूरी तरह एक सुगठित राष्ट्र नहीं था वरन् यह बनने की प्रक्रिया की ओर अग्रसर था। भारतीय राष्ट्र की रचना एक दीर्घकालीन और सतत् प्रक्रिया थी न कि 15 अगस्त, 1947 ई० को घटने वाली कोई घटना। इसलिए इसके सामने हमेशा विखण्डन का खतरा बना हुआ था। ऐसा एक विखण्डन सन् 1947 ई० में हो चुका था। आजादी के बाद भी भारत के एकीकरण और राष्ट्रीय एकता की प्रक्रिया को सतर्कतापूर्वक न केवल बनाये रखना होगा बल्कि उसे और भी ज्यादा प्रोत्साहित और पोषित करना होगा।

भारत विश्व का एक सबसे अधिक सांस्कृतिक विभिन्नताओं वाला देश है। इसके अन्दर बड़ी संख्या में भिन्न-भिन्न भाषाई, सांस्कृतिक, भौगोलिक एवं आर्थिक विषमताओं वाले क्षेत्र मौजूद हैं। यहाँ कई धर्मों-हिन्दू, इस्लाम, ईसाई, सिख, पारसी, यहूदी, बौद्ध एवं जैन आदि के अलावा लाखों आदिवासी अपने सैकड़ों धार्मिक पंथों के साथ निवास करते हैं। ये आदिवासी कबीले देश की कुल जनसंख्या के छह प्रतिशत हैं और सम्पूर्ण देश में फैले हुए

हैं। भारत की विविधता कभी इसकी एकता के मार्ग में बाधक नहीं रही हैं। भारत का एकीकरण और स्तरीकरण का समापन, मात्र इसकी विशाल विविधता को स्वीकार करके ही किया जा सकता है, विविधता को राष्ट्र-रचना का विरोधी मानकर नहीं। क्षेत्रीय सांस्कृतिक पहचान का विकास अखिल भारतीय पहचान के विरोधी के रूप में नहीं बल्कि उसके अंग के रूप में होना चाहिए। भाषा, संस्कृति, धर्म और मूल की विभिन्नताओं को किसी समाप्त करने लायक बाधा के रूप में नहीं, राष्ट्रीय सुदृढ़ीकरण के विपरीत ध्रुव के रूप में नहीं, बल्कि ऐसी सकारात्मक विशेषता के रूप में देखा जाना चाहिए जो शक्ति का स्रोत है और जिसे उदित हो रहे साझा राष्ट्रत्व के अन्दर समाहित कर लिया जाना चाहिए। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय राष्ट्र का सुदृढ़ीकरण एक व्यापक रणनीति के तहत किया गया जिसमें क्षेत्रीय एकीकरण, राजनीतिक और संस्थागत संसाधनों का संचालन, एकीकरण के अनुकूल सामाजिक ढाँचे का विकास, सामाजिक न्याय को प्रोत्साहन करने वाली नीतियॉ, आर्थिक असमानताओं का उन्मूलन और समान अवसर उपलब्ध कराना शामिल था।

भारत में अलगाववाद की भावना को जन्म देने के पीछे जहॉ भाषा, जाति, साम्प्रदायिकता, आतंकवाद आदि तत्व उत्तरदायी हैं, वहाँ प्रादेशिकवाद भी अलगाववाद को बढ़ावा देने में किसी अन्य तत्व से कम नहीं है। भारतीय राजनीति भी प्रादेशिकवाद की चोट से बच नहीं सकी है। यही कारण है कि आन्दोलनात्मक राजनीति में तेजी आई है। वास्तव में प्रादेशिकवाद की समस्या आज राष्ट्रीय एकता के मार्ग में कंटक बन गई है। अतः हमें सरकार के साथ सहयोगी प्रवृत्ति अपनानी चाहिए, ताकि भारतीय एकता का रास्ता प्रशस्त बनाया जा सके। केन्द्रीय सरकार को भी अपनी नीतियाँ इस तरह निर्मित करनी चाहिए जिससे समस्त उप-सांस्कृतिक क्षेत्रों का सन्तुलित आर्थिक विकास सम्भव हो सके, जिससे कि विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक विषमता एवं आर्थिक तनाव कम हो सके। भाषाई विवाद के शीघ्र समाधान हेतु 'त्रिभाषा फार्मूला' को क्रियान्वित किया जाना उपयुक्त होगा। प्रचार माध्यमों को चाहिए कि वे आचार संहिता का दृढ़ता से पालन करें एवं किसी एक राज्य या क्षेत्र विशेष की ओर अधिक ध्यान न दें, अपितु देश के संतुलित एवं समन्वित विकास पर अपना ध्यान केन्द्रित करें। केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में सभी क्षेत्रों के नेताओं का सन्तुलित प्रतिनिधित्व होना चाहिए, जिससे कि क्षेत्रीय पक्षपात एवं विषमतापूर्ण नीतियों का निर्माण एवं क्रियान्वयन न हो

सके और लोगों के मन-मस्तिष्क पर सरकार के इरादों के प्रति सन्देह का पर्दा न पड़े। इसके अलावा केन्द्र व राज्य सरकारों के बीच पारस्परिक सम्बन्धों को अधिकाधिक सौहार्दपूर्ण और पारदर्शी बनाने के लिए दोनों ही पक्षों को इस प्रकार की नीति तथा आचार संहिता को हृदयंगम करना चाहिए जिससे पारस्परिक विश्वास सदैव बना रहे, एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप की परिस्थितियाँ उत्पन्न न हो सकें एवं राज्यों के आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त हो सके। केन्द्र सरकार को सदैव सतर्क रहना चाहिए जिससे स्वार्थी तथा संकीर्ण मनोभाव वाले नेतागण अवसर का लाभ उठाकर प्रादेशिकता की भावना को भड़काने का कुप्रयास न कर सकें। यदि हमें अपने देश की एकता एवं सम्प्रभुता को सुरक्षित रखना है तथा उसे अलगाववाद की काली छाया से दूर रखना है तो हमें संघर्षात्मक प्रादेशिकता की भावना को त्यागकर सहयोगी प्रादेशिकता का दामन मजबूती से थामना होगा तथा इस दिशा में सृदृढ़ प्रयास करना होगा। देश में राष्ट्रीय एकता के भावना को मजबूत करने की आवश्यकता है ताकि प्रादेशिकवाद आदि के खतरों का दृढ़तापूर्वक सामना किया जा सके।

किसी भी लोकतान्त्रिक राष्ट्र के लिए, विशेष रूप से ऐसा राष्ट्र जो अभी भी राष्ट्र-निर्माण और राष्ट्रीय एकीकरण की समस्याओं से जूझ रहा हो, प्रादेशिकवाद की प्रवृत्ति का विकास एक चिन्ताजनक विषय है। इस प्रवृत्ति पर एक सोची-समझी और सुविचारित रणनीति के द्वारा ही नियन्त्रण लगाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, देश में व्याप्त आर्थिक विषमता को समाप्त करने का प्रयास किया जाना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो पिछड़े हुए क्षेत्रों के आर्थिक विकास पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए ताकि उन्हें राष्ट्रीय विकास की मुख्य धारा से जोड़ा जा सके। सरकार को विकास कार्यक्रमों का निर्माण और उनका क्रियान्वयन इस प्रकार से करना चाहिए कि सन्तुलित क्षेत्रीय विकास को बढ़ावा मिल सके। यह बात निर्विवाद है कि भारत में अब तक चलाये गये अधिकांश प्रादेशिक आन्दोलनों के मूल में असन्तुलित आर्थिक विकास का एहसास ही रहा है। गरीबी और बेरोजगारी उन्मूलन की दिशा में ठोस एवं चरणबद्ध प्रयास किया जाना चाहिए। विशिष्ट जातीय समुदाय की अपनी विशिष्ट संस्कृति और पहचान को सुरक्षित रखने के सरकार द्वारा विशेष प्रयास किये जाने चाहिए।

भारत जैसे विशाल एवं विभिन्नता वाले देश में प्रादेशिक भावनाओं का उद्‌भव एवं उभार एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। यदि हमारी राष्ट्रीय भावना के आधार सशक्त हैं तो

प्रादेशिक भावनायें खतरा नहीं बन सकती। कुछ राजनीतिक समीक्षकों के अनुसार यह भी माना जाना चाहिए कि प्रादेशिक आन्दोलन एक राष्ट्रीय आवश्यकता की उपज होते हैं, फिर चाहे वे विरोधी राजनीतिक शक्ति में प्रकट हों। यदि राष्ट्रीयता के तन्तु प्रबल हैं और राष्ट्रीय भाव प्रखर हैं तो प्रादेशिकता का उभार इसका पूरक बनेगा। क्षेत्रीय दलों की उपस्थित प्रयोजन व प्रभावशीलता राष्ट्रीय दलों की असफलता की उपज व प्रतिक्रिया है। राष्ट्रीय राजनीति की अपूर्णता एवं अक्षमता ने प्रान्तीय शक्तियों को बढ़ाने व प्रभावी बनने का अवसर प्रदान किया। क्षेत्रीय दलों से एक संयुक्त राजनीतिक संस्कृति के विकास में योगदान भी मिल सकता है और इस विकास में इन दलों के कारण व्यवधान भी पड़ सकता है। भारतीय ढँग से एक राज्य के रूप में देश को विशुद्ध संघीय आधार पर संगठित भी किया जा सकता है या फिर देश विघटन के कगार पर भी पहुँच सकता है, यह बहुत कुछ हमारी राष्ट्रीयता के आधार की प्रबलता व क्षेत्रीय दलों के दृष्टिकोण की विशुद्धता पर निर्भर करता है।